साधन-समर

वा

देवीमाहात्म्य

प्रथम खण्ड

ब्रह्मग्रन्थि-भेद

साधन-समर

वा

देवी-माहात्म्य

श्री श्री दुर्गा सप्तशती की आध्यात्मिक व्याख्या

प्रथम खण्ड

ब्रह्म ग्रन्थिभेद—मधुकैटभ वध

श्री श्री ब्रह्मर्षि सत्यदेवजी

साधन समर आश्रम

पूर्वांचल सी/५

क्लस्टर-१, साल्ट लेक

कलकत्ता-७०००९१

मूल्य ५० रूपये

अनुवादक—पं० श्री शिवनारायण शर्म्मा

तृतीय संस्करण
अष्ट सप्ततितम सत्याब्द
सन् १९९७ ई०

मुद्रक :
नीलम प्रौसेस
एफ.के. २९/ए, शास्त्री नगर
दिल्ली-११००५२

प्रकाशक का निवेदन

[१]

प्रथम संस्करण

मा! जिस दिन तुम बड़े साध के श्री श्री चण्डी की व्याख्या रूप में उसके श्री मुख से निर्गत हुए थे, जिस दिन देवी-माहात्म्य का अपूर्व्व-रहस्य-पूर्ण साधन तत्व श्रवण करके आनन्द और विस्मय में मन्त्र-मुग्धवत् होकर पढ़ा था, उस दिन तुम ही तो वासना रूप प्राण से फूट उठे थे "जिस अमृत विन्दु का पान करके, हमारी संसार-सन्तप्त, वासनाक्लिष्ट शुष्क मरुभूमि की भाँति प्राण भी दिन-दिन सरस और मधुमय हो उठते हैं; उस अमृत को जगत् के प्रत्येक नर-नारी पान करके संसार-सन्ताप से मुक्त हो। फिर कुटिल रहस्य-जाल से आच्छन्न साधना का अन्धकारमय गह्वरसमूह अखण्ड मधुमय सत्य की विमल स्निग्ध ज्योति से उद्भासित हों।" आज वह दो वासनाएँ ही तुम्हारी महीयसी कृपा से सफलता की ओर अग्रसर होती हैं, यह देखकर, हमारा चिर अकृतज्ञ हृदय भी तुम्हारे रातुल चरणों में कोटि प्रणिपात ज्ञापन करके धन्य होता है।

लगभग १२ वर्ष हुए, इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण बङ्गभाषा में प्रकाशित हुआ था। बङ्गाली साधकों के हृदय पर इस ग्रन्थ का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनका जीवन स्रोत एक नवीन धारा में बहने लगा। क्रमशः इसका प्रकाश अन्य प्रान्त के लोगों पर भी पड़ा और उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि इसका रसास्वादन हिन्दी भाषाभाषी भी करें। उनही धर्म्मप्राण लोगों की समवेत इच्छा का यह फल है कि पूज्य पण्डित शिवनारायण-सेंगई पोस्ट फ़िरोज़ाबाद ज़िला आगरा निवासी पूर्व्व अध्यापक श्री ऋषिकुल ब्रह्मचर्य्याश्रम हरिद्वार,

जिन्होंने अशेष परिश्रम कर, इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड को हिन्दी-भाषा में अनुवाद किया। यद्यपि यह अनुवाद सन् १९२७ ई० में तैयार हो चुका था परन्तु किसी कारण वश, पाठकों के सामने प्रकाशित नहीं हो सका।

सत्यस्वरूप गुरु, इस धर्म-हानि के समय में जिस आधार को आश्रयकर इन अमृतमय मन्त्रों में अपने को प्रकाशित किया है, उनका विशिष्ट नाम, साधकों के आग्रह करने पर भी न दिया जा सका परन्तु इतना कह देने का आदेश है कि उनका आविर्भाव वरिसाल ज़िले के नवग्राम वस्ती श्री ठाकुर वाड़ी में हुआ है—वही हम लोगों का गुरु गृह के नाम से प्रसिद्ध है।

यह पुस्तक श्री श्री चण्डी (देवी-माहात्म्य) की आध्यात्मिक व्याख्या है। भगवान् ने गीता में कहा है, "मामेकम् शरणं व्रज, अहं त्वां मोक्षयिष्यामि" वही किस तरह प्रत्येक जीव सन्तान के लिये स्वयं असिहस्त लेकर उसे उद्धार करते हैं, इसी रणक्रीड़ा का विवरण इसमें है।

महात्मा जी का कथन है कि शास्त्र का पठन-पाठन तथा अन्य को उपदेश देना कठिन नहीं परन्तु उनके उपदेशों को अपने चरित्रों पर प्रतिभात करना ही कठिन है। परन्तु गुरु की अभयवाणी यही है कि भगवान् स्वयं स्नेह के वशीभूत होकर सन्तान को उद्धार करते हैं।

साधन समर आश्रम
वराहनगर, कलिकाता
प्रथम संस्करण
देवीपक्ष अष्टमी सम्वत् १९८८ वि०
ता० १८ अक्टूबर सन् १९३१ ई०

मातृ चरणाश्रित सन्तान
पं० श्री देवीराम शर्म्मा
(उपरैती)

[२]

द्वितीय संस्करण

मंगलमयी माँ की इच्छा से 'ब्रह्मग्रन्थिभेद' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

जो मातृकल्प महामानव इस ग्रन्थ का लेखक हैं, वह अब स्थूल शरीर में नहीं; तथापि उनका यह अमर दान, जीव-हितकर अमोघ आशीर्वाद, उनकी दिव्य दृष्टि से उपलब्धिकृत इस महासत्य का रसामृत श्रद्धावान् पाठकों के हृदय पर अमृत ही वर्षण कर रहा है। उनकी यह देन संसार-संतप्त मानवों के—साधनपथके पथिकों के—हृदय में नयी प्रेरणा और आशा का संचार करे—यही महामाया से प्रार्थना है।

इस संस्करण में लेखक महोदय का नाम प्रकाशित किया गया है।

अधुना मुद्रण व्यय की अत्यधिक वृद्धि के कारण ग्रन्थ का मूल्य कुछ बढ़ गया है। इसके लिये हम पाठकों की कृपा भिक्षा करते हैं। आशा है कि सहृदय पाठकगण अनिच्छाकृत मुद्रण दोष अपनी उदारता से उपेक्षा करेंगे।

अष्टसप्ततितम सत्याब्द
देवीपक्ष-महासप्तमी १९६१ ई०
२०१, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

विनयावनत
कार्याध्यक्ष,
साधन समर कार्यालय

तृतीय संस्करण

मंगलमयी मां की इच्छा से ही यह संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इस बीच यह ग्रंथ अप्राप्त हो गया, जिसके कारण भारत के विभिन्न अंचलों से जिज्ञासुओं की मांग आने पर बड़ी लज्जा और संकोच का अनुभव होता रहा, नकारात्मक उत्तर देने में। मां ने कृपा की और प्रथम खंड के हिन्दी संस्करण के प्रकाशन की व्यवस्था हुई।

इस बीच आवश्यकता अनुभव हुई कि मूल बंगला संस्करण से मिलान कर मुद्रणदोष या वाक्य रचना को और परिष्कृत करने की चेष्टा की जाये। लेकिन इस समय समयाभाव के कारण वह संभव नहीं हो पाया। अतः भाषागत या मुद्रण जन्म दोषों की अपनी उदारता से उपेक्षा करते हुए मूल कथ्य को ही हृदयांगम करने की चेष्टा करें। यह सहृदय पाठकों से प्रार्थना है।

मां वात्सलयमयी इस प्रकाशन में निमित्त बनी, अपनी शिशु संतानों के हृदय में अमृत सिंचन करें।

विनीत
मातृ चरणाश्रित
अकिंन्चन सन्तान



ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञान मूर्तिम् ।
द्वन्दातीतं गगन सदृशं तत्वमस्यादि लक्ष्यम् ॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम् ।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

गुरो ! बहु रूपधारि-नारायण-मूर्ति तुम्हारी सेवा के लिये यह आयोजन तुम्हारा ही है। अपनी सेवा से आप ही परितृप्त होओ। लीला-कल्पित अज्ञानता और आनन्द हीनता का रूपक परित्याग करके, एक बार आप अपनी विज्ञानमय आनन्दमय मूर्ति से खड़े हो जाइये, जिससे सेवा सफल हो ! सेवक धन्य हो !







गुरोर्मध्ये स्थिता माता मातृमध्ये स्थितो गुरुः ।
गुरुर्माता नमस्तेऽस्तु मातृगुरुं नमाम्यहम् ॥

उद्बोधन

* मातृ-स्नेह *

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः

हे अमृत के वर पुत्र स्नेह के दुलारे वत्सगण! क्यों कहीं—आर्त दीन दुःस्वप्न पीड़ित मिथ्या-अज्ञान के गंभीर कोहिरे से आच्छन्न हो रहे हो! पुनः पुनः जन्म मृत्यु के घात प्रतिघात से, रोग शोक अनुताप की मर्म्मभेदी पीड़ा से, चञ्चलता के घोर आवर्तन से मथित दलित छिन्नमर्म्म होकर, हताश की उष्ण दीर्घ निःश्वास छोड़ रहे हो! आओ, दौड़कर आओ, पुत्र! सन्तान! यह देखो तुम्हारे लिये मैंने अपना विशाल वक्षस्थल खोल दिया है। अनन्त बाहु प्रसारित करके, तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ती फिरती हूँ। तुम मा कह कर पुकारो, तुम्हारे कमनीय शिशुकण्ठ से निकले हुए सुधामय मातृ आवाहन को सुनकर मैं अपने को भूल जाऊँगी, तुमको भी अपनापा भुला दूंगी। तुम्हारे त्रिताप दग्ध हृदय में अमृत सिञ्चन करूँगी, तुम अमर होओगे! इसी कारण मुक्त कण्ठ से आवाहन करती हूं— आओ वत्स! आओ पुत्र! एक वार नेत्र खोल दो। अब आँखें बन्द करके कब तक कङ्गाल बने रहोगे! देखो, घड़ी भर के लिये भी मैंने तुमको अपनी गोद में से नहीं उतारा है। तुम मेरे ही गर्भ से उत्पन्न, मेरी ही गोद में खिलाये हुए, मेरे ही दुग्ध से परिपुष्ट होकर आगे बढ़ते हो। दुःख और त्रिताप कुछ नहीं है, जन्म वा मृत्यु

कुछ नहीं है, नैराश्य वा पीड़ा कुछ नहीं है। जिसे देख कर तुम भयभीत और व्याकुल होते हो, वह सब मेरा ही स्नेह स्तन्य है।

सुनो! सत्य की विजय झङ्कार उठी है, सत्यलोक की शुभ्र ज्योति ने दिग्मण्डल को उद्भाषित किया है, मधुमय मातृ-आवाहन् से व्योम-मण्डल मुखरित हो रहा है, वसुन्धरा ने प्राण-मय सत्य के आवाहन से जड़त्व परित्याग किया है, सलिलराशि सत्य-नाद से उद्वेलित हो रहा है, वायु सत्य ध्वनि की अभिघात से तरङ्गायित हो रही है, अन्तरिक्ष सत्य की पवित्र प्रणव-नाद से परिपूरित हो रहा है; क्या अभी तक तुम सोते रहोगे! क्या अभी तक मिथ्या की कालिमा मुख में मल कर दीनता की दुःस्वप्न से उत्पीड़ित होगे? वत्स, और नहीं! एक बार आओ, एक बार फिरकर खड़े हो जाओ, एक बार मुख फेरो, मैं तुम लोगों का मुख देखकर वहु युग युगान्तर से, अपेक्षा में बैठी हूँ। आओ माता की गोद में बैठे हुए मातृहीन शिशु अमृत की सञ्जीवनी धारा से अभिसिक्त हो जाओ। शान्ति के—आनन्द के विमल सलिल (जल) में अवगाहन् करो। मा की गोद में नित्य अवस्थान वा ब्राह्मीस्थिति की उपलब्धि करके अमर हो जाओ। तुम लोगों के शिर पर श्री गुरु का मङ्गलमय आशीर्वाद वर्षित हो। तुम लोग धन्य होओ।

देवी-सूक्त

मैं कौन हूं ?



अम्भृण नामक महर्षि की वाक् नाम्नी कन्या ब्रह्मविदुषी हुई थी; इस कारण वह भी ऋषि थी। सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के सहित तादात्म्य अर्थात् सम्पूर्ण अभिन्नता उपलब्धि करके उन्होंने जो आत्मस्वरूप प्रकटित किया है, वही देवीसूक्त नाम से कथन किया जाता है। इसमें अष्ट मन्त्र हैं। यह देवीसूक्त ही चण्डी की मौलिक उपादान है। चण्डी अथवा देवी माहात्म्य इसका विश्लेषण मात्र है। देवीसूक्त—वेद, यह आप्तकाम भ्रम प्रमाद रहित ऋषि का सम्वेदन है; इस कारण अपौरुष है। चण्डी में जो शब्दराशि है, वही किसी महर्षि के मुख से उच्चारित होने से भी, उससे जो ज्ञान और जो भाव का प्रकाश हुआ है, वही नित्य और अपौरुष है। सर्व्वकाल में सर्व्व श्रेणी के समुन्नत साधक महापुरुष लोगों के हृदय में वही एक ज्ञान और एक ही भाव की अभिव्यक्ति होती है। केवल देश काल वस्तु और भाषागत विभिन्नता हेतु उक्त अपौरुष का ज्ञान और भाव प्रकाशक भाषा की विभिन्नता परिलक्षित होती है।

देवीसूक्त का प्रतिपाद्य विषय—सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा। देवी माहात्म्य में यह परमात्मा ही महामाया स्वरूप से उपाख्याना-कार में वर्णित किया गया है। परमात्मा और महामाया अभिन्न हैं। शास्त्रीय तर्कमूलक विचार से किंवा मौखिक आलोचना से माया

को आत्मा से पृथक् कहा जाता है; किन्तु जो साधक, जो ब्रह्मविद्, जो आत्मज्ञ पुरुष हैं, वे लोग जानते हैं—आत्मा और माया सम्पूर्ण अभिन्न पदार्थ है। जब तक साधना है, जब तक देह है, तब तक आत्मा माया रूप में ही अभिव्यक्त होती है! जब परमात्मा, तब साध्य नहीं, साधना नहीं, साधक नहीं, शास्त्र नहीं, चिन्ता नहीं, और भाषा भी नहीं है। भाषा चिन्ता किंवा साधना के बीच में आने से ही आत्मा मायारूप में प्रकटित होती है। इसलिये परमात्मा ही देवीसूक्त का प्रतिपाद्य विषय होने से भी चण्डी में यही महामायारूप से अभिवर्णित हुई है। यह तत्व यथास्थान में विशदभाव से आलोचित होगा।

सर्व धर्म्म शास्त्रों का प्रधान लक्ष्य परमात्म ज्ञान है। आत्म वस्तु जाति, वर्ण,सम्प्रदायगत असंख्य विभिन्नता में भी अभिन्न-भाव से सर्व जीवों में तुल्य रूप से विद्यमान है। "मैं" कौन हूँ? इसे यथार्थ रूप से जानने का नाम "आत्मज्ञान" है। जीव मात्र ही इस अपने स्वरूप को जानने के लिये लालायित हैं। जब तक इसे समझ न सके, तब तक वह साधारण जीव मात्र है। जब जीव इस आत्मा-नुसन्धान का प्रत्यक्ष कर सकता है, तब लोग उसे साधक, भक्त इत्यादि कहने लगते हैं।

मनुष्य जब इस आत्माभिमुखी गति का अनुभव कर सकता है, तब उसके जो बाह्य लक्षण प्रकाशित होते हैं, उसी को निवृत्ति मार्ग वा साधना कहते हैं। वे लक्षण धर्म्म शास्त्र में विधि निषेध रूप से वर्णित हुए हैं। वस्तुतः कर्म्म मात्र ही साधना है, जीव मात्र ही साधक है, और आत्मस्वरूप का अनुभव ही साध्य है। आत्मभाव रहित सब प्रकार की साधना पूर्ण फलदायक नहीं होती। जब तक "मैं" के सिवाय अन्य देवता की उपासना की जाती है, तब तक वस्तुगत्या एक मात्र "मैं" ही उपासित होने पर भी (कारण कि "मैं" के सिवाय और तो कहीं कुछ है ही नहीं) वह अविधि पूर्वक

अनुष्ठित है; इस कारण मुक्ति रूप महाफल प्रदान करने में असमर्थ है। अतएव सारांश यह है कि आत्मभाव रहित सर्व साधना ही अज्ञान से व्याप्त है। फिर आत्मानुसन्धानयुक्त आहार बिहारादि जागतिक कर्म्म भी साधना-पदवाच्य हो रहते हैं। यह आत्मा ही—मैं—मा हूँ। मुझ को पहचानना—मा को पाना और आत्म साक्षात्-कार करना, यह तीनों एक ही बात है। देवी सूक्त में "अहं" रूप से जो तत्व प्रकाशित है, चण्डी में वही महामाया रूप से वर्णित हुआ है। देवी सूक्त में जो आत्मा है, चण्डी में वही "मा" है। इस कारण श्री श्री चण्डी को जो लोग केवल शाक्त सम्प्रदाय की पाठ्य पुस्तक बतलाते हैं वे भ्रान्त हैं। उनका ऐसाक हना अत्यन्त भ्रान्ति मूलक है।

जीव जिसको चाहे—ज्ञान से वा अज्ञान से जीव की जो यथार्थ अभीष्ट वस्तु है, उसके प्रकृत स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ स्थूल ज्ञान सब से प्रथम अत्यन्त आवश्यक है; नहीं तो अभीष्ट पाने का मार्ग बहुत लम्बा हो जाता है। इसी कारण देवी सूक्त जाने बिना चण्डी तत्व में प्रवेश करना शास्त्र में निषिद्ध है। हम जगत् में जो अधिकांश साधकों को प्रायः विफल मनोरथ होते हुए देखते हैं, उसका एक मात्र कारण उद्देश्यहीनता है। भगवत् स्वरूप जाने बिना, अमृत का सन्धान पाये बिना, साधन मार्ग में आगे बढ़ने से विघ्न बाधायें उपस्थित हों तो, इसमें आश्चर्य्य ही क्या है? चलो साधक! हम प्रथम मा का स्वरूप कथञ्चित् धारण करने के लिये देवी सूक्त की शरण लेवें।

अथ ऋग्वेदीय देवी सूक्तम्



अहं रुद्रेभि र्व्वसुभिश्चराम्यह मादित्यै रुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रा वरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अनुवाद—मैं (सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा) रुद्र वसु आदित्य और विश्वदेवगण रूप से विचरण करता हूँ। मित्र वरूण, इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनीकुमारों को 'मैं' ने ही धारण किया है।

व्याख्या—अहं—मैं; सत् चित् और आनन्दरूप आत्मा ही मैं हूँ। यद्यपि साधारणतः मैं कहने से, देहात्म बुद्धि विशिष्ट जनन मरण धर्म्मी सुख दुःख से चञ्चल एक संसार क्लिष्ट जीव मात्र समझा जाता है, तथापि कुछ धीर भाव से "मैं" का स्वरूप अनुसन्धान कर देखने से हम इसकी अपेक्षा बहुत उन्नतस्तर का "मैं" देख पाते हैं। आओ पिपासित साधक! हम मा का नाम लेकर आगे बढ़ें।

हम सब लोग कहते हैं कि "हमारा देह"; इससे हमको विचारना चाहिये कि मैं देह से पृथक् हूं, मेरी सत्ता से देह की सत्ता हैं। मैं देखता हूं, यही देह है। मैं देह नहीं हूं, मुझ में देह है। इस प्रकार हम देह से "मैं" को बिलकुल पृथक् रूप से समझ सकते हैं। अब क्रम से आगे बढ़िये। "हमारे प्राण" "हमारा मन" "हमारा ज्ञान" "हमारा आनन्द" ये शब्द हम प्रायः बोलते रहते हैं। क्या हम उन्हें बिलकुल समझे बिना ही बोलते हैं ? नहीं ऐसा नहीं है, तब मानो समझते हुए भी नहीं समझते ऐसा ही भाव है। अच्छा बना रहे जब तक न समझे तब तक नहीं समझे अब समझने बैठोगे तो निश्चय ही समझ सकोगे। यह जो देह से पृथक्, प्राण से पृथक्, मन से पृथक्, ज्ञान से पृथक्, आनन्द से पृथक् रूप से जो "मैं" का सन्धान पाता है, वह देहादि पांच अवयवों के भीतर अभिन्नभाव से

प्रकाश पाता है। अपने घर को जैसे "मैं घर हूं" ऐसा कोई नहीं समझता, उसी प्रकार "मैं देह हूं" "मैं मन हूँ" ऐसी प्रतीति भी हमको कभी नहीं हुई। तब घर टूट जाने पर जैसे मैं दुःखित हूं, घर सुसज्जित रहने से जैसे सुखी हूं, ठीक उसी प्रकार देह प्राण मन इत्यादि के साथ "मैं" के सुख दुःख का सम्बन्ध विशेष है। देहादि के सुख दुःख में "मैं" केवल सुख दुःख का अनुभव मात्र करता है। क्यों करता है यह बात आगे कही जायगी। वस्तुतः "मैं" सुख दुःख रहित देहादि शून्य एक जन है।

इस प्रकार हम जिसको यथार्थ में खोजते थे उस प्रकृत वस्तु का पता पाया। अब हम उसका स्वरूप भमझने की चेष्टा करते हैं। अब तक हम विचार बुद्धि की सहायता से अग्रसर हुए थे अब शास्त्र और युक्ति की सहायता लेनी होगी। कारण यह है कि यथार्थ आत्म-स्वरूप का ज्ञान होने का उसकी कृपा के बिना कोई उपाय नहीं है। तब हमारी क्षुद्र बुद्धि के द्वारा जितनी धारणा की जा सकती है उतनी समझने की चेष्टा करने में हानि ही क्या है?

अच्छा, यह जो देहादि से पृथक् एक "मैं" का सन्धान पाया गया है हम यदि उसका स्वरूप समझने वा कहने लगें तो निश्चय कहने वा समझने लगेंगे कि—वह अचिन्त्य अव्यक्त सर्वेन्द्रियागम्म किन्तु "सत्य है"। बिचार करके वह "मैं" कौन है पकड़ नहीं सकते, वाक्य द्वारा कह नहीं सकते, चक्षु कर्ण आदि इन्द्रिय द्वारा भी अनुभव नहीं कर सकते, परन्तु यह समझ सकते हैं कि वह वस्तु सत्य है। किसी प्रकार यह प्रतीत नहीं हो सकती कि "मैं" नहीं है। यह जो सत्य "मैं" है हम सर्वदा ही इसका अनुभव करते हैं, तो भी समझ नहीं सकते। अच्छा इस "मैं" का नाम "सत्य" वा "आत्मा" रख लेते हैं।

शास्त्र में कहा है कि इस आत्मा का स्वरूप "आनन्द" है। आनन्द वस्तु का विश्लेषन करने से हम देखते हैं कि सत्य ज्ञान

आनन्द अर्थात् सत्, चित् और आनन्द। सत् एक सत्ता-अर्थात् कुछ है। चित् यह सत्ता चैतन्यमय है, वह यह ऐसा प्रतीत होता है, वह केवल सत्ता नहीं है, वह चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय है और वह ज्ञानमय सत्ता निरवछिन्न आनन्दमय है। और भी कुछ सरल भाव से आलोचना करते हैं।—मैं हूं, मैं समझता हूँ कि मैं हूं और यह मैं ही मेरा सब से प्रियतम वस्तु है; इस कारण वह आनन्दमय है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही मैं हूं। यह मैं ही सत्य है। यह सत्य लाभ ही जीव मात्र का उद्देश्य है; कारण कि वहां पर उस 'मैं' में जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, हँसना, रोना कुछ भी नहीं है, पूर्ण आनन्द है। परन्तु पार्थिव सुख और यह आनन्द ठीक एक वस्तु नहीं है। इस जगत् में अभीष्ट वस्तु पाने से आनन्द होता है हमको सुख होता है। उसके विपरीत से दुःख होता है, परन्तु "मैं" ऐसा एक क्षेत्र है कि जहाँ अभीष्ट, अनभीष्ट, पाना, न पाना कुछ भी नहीं है तो भी सर्वदा आनन्द रहता है। अधिक क्या कहें, उसमें देह, मन, प्राण, इन्द्रिय, धर्म्म, अधर्म्म, सुख, दुःख, जीव जगत् इत्यादि कोई भी भाव नहीं है। यह सर्व्व भाव विनिर्मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, वही 'मैं' है, वही सत्य है। उसमें नित्य युक्तता का अनुभव करना ही ब्राह्मी स्थिति है। स्थूल बात यह है कि इस मैं वस्तु को सर्वदा धारण किये रहना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। जो मनुष्य 'मैं' क्या है इसे नहीं जानता, वह पशु है। यह शास्त्र-कारों का कथन है। यह 'मैं' ही साधक का इष्टदेव है। काली, कृष्ण, शिव, दुर्गा, अल्लाह, गौड इत्यादि इसी के भिन्न भिन्न पर्य्याय मात्र हैं। जो साधक अपने इष्टदेव का जितना अधिक निकट-वर्ती है वह उतना ही उन्नत और उतना ही सुखी है, कारण कि सुख वा आनन्द ही उसका स्वरूप है। आगे यह तत्व अनेक स्थानों पर विशद भाव से आलोचना किया जावेगा। पुनः पुनः आलोचना द्वारा यह आत्म तत्व भली भांति समझ कर तब चण्डी तत्व में

प्रवेश करना होगा। अम्भृण ऋषि की दुहिता वाक् जब इस सत्य में—इस 'मैं' में अवस्थान करती थी तब उसने जो कहा हैं वही देवी सूक्त है। उसने कहा है—"अहं रुद्रेभिर्व्वसुभिश्चरामि" मैं एकादश रुद्र और अष्ट वसु रूप से प्रकाशित होती हूँ।

एकादश रुद्र—"रोदयदि सर्व्वमन्तकाले इति रुद्रः" वेद भाष्यकार सायनाचार्य्य ने कहा है कि अन्तकाल में जो सब को रुलाता है वह रुद्र है। चक्षु कर्णादि पञ्चज्ञानेन्द्रिय, वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ ये पञ्च कर्म्मेन्द्रिय और मन, येही एकादश रुद्र हैं। यही जीव के जन्म मृत्यु के हेतु हैं; इस कारण रुलाने के कर्ता हैं। हम जिस इन्द्रिय मार्ग से सदा खण्ड खण्ड चैतन्य-सत्ता का अनुभव करते हैं, वह सच्चिदानन्द स्वरूप मैं—आत्मा हूँ; अन्य कोई नहीं है। मैं ही इन्द्रिय मार्ग से क्षुद्र क्षुद्र ज्ञान रूप से प्रकाशित होता हूँ। 'मैं' जो हूं उसे हम सदा इन्द्रिय और मन द्वारा जानते हैं। जब इन्द्रिय और मन सो जाते हैं तब फिर आत्म-सत्ता का अनुभव नहीं कर सकते; इस कारण हम इन्द्रियों द्वारा जो विषय ग्रहण करते हैं, एवं मन में जो कुछ विचारते हैं, वह सब ही सत्य स्वरूप आत्मा है। साधक! वेद की यह वाणी हृदय में अति दृढ़ रूप से अङ्कित रखिये। चण्डी तत्व में प्रवेश करते समय इसे भूल न जाना।

अष्ट वसु—धन—वा अष्टनिधि ऐश्वर्य्य। अणिमा, लघिमा आदि अष्ट प्रकार ऐश्वर्य्य रूप से वह सत्य ही प्रकाशित होता है। अथवा भागवत् में वसु शब्द का अर्थ शुद्ध सत्वगुण किया गया है। विशुद्ध सत्वगुण का उदय होने से साधक के पुलक अश्रु कम्प स्वेद आदि आठ प्रकार के वहिर्लक्षण प्रगट होते हैं। यही भक्तों के वसु वा ऐश्वर्य्य हैं। इस अष्ट वसुरूप से भी 'मैं'—सत्य स्वरूप आत्मा ही प्रकाशित होता हूँ।

अहमादित्यै रुत विश्व देवैः—म मैं द्वादश आदित्य और विश्वदेववृन्द रूप से प्रकाशमान हूँ। आदित्य—अदिति से उत्पन्न।

अदिति—प्रकृति-त्रिगुणात्मिका-सत्त्वरजस्तमोमयी। बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और मन, यह अन्तःकरण चतुष्टय प्रकृति से उत्पन्न हैं। चार अन्तःकरणों में फिर तीन गुणों के संयोग की न्यूनाधिकता के अनुसार बारह भेद हैं। जैसे—सत्त्वगुणात्मक बुद्धि, रजोगुणात्मक बुद्धि एवं तमोगुणात्मक बुद्धि। इस प्रकार मन, चित्त और अहङ्कार तीनों गुण से गुणा होने से बारह भेद होते हैं। यही द्वादश आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और सत्व रजः और तमोगुण रूप से एक मात्र 'मैं' सत्य स्वरूप आत्मा ही प्रकाशमान है।

मन को एक बार रुद्र कहकर फिर आदित्य कहने में कोई दोष नहीं हुआ। मन का जो अंश ज्ञान और कर्म्मेन्द्रियाभिमुखी वा इन्द्रियों का केन्द्र है वही रुद्र-दुःखदायक है। और जो अंश बुद्धि वा महतत्व के अभिमुखी है वही आदित्य है, अर्थात् मन के उस अंश में चैतन्य का प्रकाश धर्म्म अधिक है।

विश्वदेव—जो चैतन्य इस विश्वरूप में विराजित है वही विश्वदेव है। यह अनेक नाम रूप और व्यवहार वाला होकर जो चैतन्य सत्ता प्रकाशित होती है, उसी का नाम विश्वदेव है। यह अनेक नाम रूप और व्यवहार विशिष्ट होकर जो चैतन्य सत्ता प्रकाश पाती है, उसी का नाम विश्वदेव है। नाम रूप और व्यवहार भेद से उस चैतन्यांश के असंख्य भेद दिखाई पड़ते हैं; इसी से विश्वदेव अनेक हैं इस विश्वदेव—मूर्ति में भी "मैं"—आत्मा ही नित्य प्रकाशित हूँ; इस कारण जगत् रूप से जो हमको प्रतीत होता है वह सत्य है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है—"यदिदं किञ्च तत्सत्यम्" यह जो कुछ प्रत्यक्ष देखते हो—जानते हो वह सब ही सत्य है। साधक! याद रक्खो कि इस दिखाई देने वाले विश्व जगत् में केवल सत्य "मैं" का ही प्रकाश है। यह जगत् प्रपञ्च ही "मैं" का व्यक्तस्वरूप है। यह सब तत्व देवी महात्म्य में विशद भाव से आलोचित होगा।

अहंमित्रावरुणौ—मित्र सूर्य्य का एक नाम है। द्वादश आदित्यों में यह प्रधान है। अन्तःकरण के सत्वगुणात्मक प्रकाश का नाम मित्र है। असल बात यह है कि धर्म्म ही मित्र है। धर्म्म ही यथार्थ बन्धु है; कारण, मृत्यु के पश्चात् भी साथ ही गमन करता और आनन्द प्रदान करता है। वरुण—जलाधिपति है। जीव को अनन्तकाल के लिये संसार-समुद्र में निमग्न करता है, अधर्म्म ही इस स्थल में वरुण शब्द का अर्थ है। अतएव "मित्रावरुणौ—धर्म्माधर्म्मौ" यह श्रुति में भी उक्त हुआ है।

इन्द्राग्नी—सुख दुःख। इन्द्र—ऐश्वर्य शाली अर्थात् सुख स्वरूप है, अग्नि—दाहजनकत्व हेतु दुःख स्वरूप है। इस कारण इन्द्राग्नी शब्द का अर्थ सुख एवं दुःख है। इसी प्रकार अश्विनौ—प्राणापानौ इति शब्द कल्पद्रुमः। प्राण और अपान वायु को अश्विनीकुमार कहते हैं। मित्रावरुणौ, इन्द्राग्नी एवं अश्विनौ; ये उभयात्मक देवता हैं; इसीसे द्वन्द है। स्थूल जगत् में यह देवता धर्म्माधर्म्म और उससे उत्पन्न सुख दुःख और उनका भोग स्थान अपान सहित प्राण रूप से एक मात्र "मैं" विशुद्ध चैतन्यमय आत्मा ही प्रकाशित है। प्राण एक जड़ वायु मात्र नहीं अनुभूति स्थान हैं। अपान के सहचारित्व के कारण ही प्राण का भोग सिद्ध होता है।

उभौ विभर्म्मि शब्द का अर्थ—दोनों को धारण करता हूँ। आत्मा के सिवाय अन्य कोई पदार्थ नहीं है। इस कारण वही इन रूपों से प्रकाशित होता है एवं इन विशिष्ट भावों से प्रकाशित होने पर भी उसकी अपनी विशुद्ध अखण्ड चैतन्य-सत्ता का बिन्दु मात्र विकार नहीं हुआ, एक मात्र आत्मा ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है; इस कारण वह—'मैं' एक है तो भी अनेक भाव से विराजित है, इसीसे अनेक भाव का धारण कर्ता है। इसी कारण मंत्र में "विभर्म्मि" पद का प्रयोग हुआ है।

यहाँ पर यह भी कह देते हैं कि—रुद्र वसु आदित्य आदि शब्दों

की ऐसी व्याख्या देखकर कोई यह न समझे कि इन नामों की कोई देवमूर्तियाँ हैं ही नहीं। रुद्रादि शब्द जिस विशिष्ट चैतन्य के प्रकाशक हैं, उस विशेष भावापन्न चैतन्यांश का नाम ही देवता है। वह सर्वत्र विराजमान है। भक्तों की कातर प्रार्थना से बाध्य होकर कृपा पूर्वक विशिष्ट मूर्ति से वही प्रकाशित होता रहता है। भक्तों के अपने-अपने संस्कारानुसार उन मूर्तियों का प्रकाश होता है। इसीसे पुराणादि शास्त्रों में देव मूर्तियों का वर्णन है। देवता तत्व द्वितीय खण्ड में देखिये।

अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥२॥

अनुवाद—मैं शत्रु हन्ता सोम, त्वष्टा, पूषा एवं भगनामक देवताओं को धारण करता हूं। जो देवताओं के उद्देश्य से प्रचुर हवियुक्त सोमयागादि का अनुष्ठान करते हैं, उन यजमानों का यज्ञ-फल "मैं" ही धारण करता हूँ॥२॥

व्याख्या—आहनस् शब्द का अर्थ शत्रुहननकारी हैं। सोम शब्द का अर्थ सोमयाग है। दुर्जय काम क्रोधादि रिपुओं को निर्जित करने के लिये सोमयागादि का अनुष्ठान किया जाता है। पक्षान्तर में सोम शब्द का अर्थ चन्द्र है। चन्द्र मन का अधिपति देवता है। मन जब काम क्रोधादि वृत्तिरूप रिपुओं को वशीभूत करने को उद्यत होता है, तब उसको आहनस् सोम कहा जाता है।

त्वष्टा—विश्वकर्म्मा, जो इस विश्व का गठन करता है। अर्थात् जो चैतन्य द्वारा विश्व अनेक प्रकार नाम और रूप से व्याकृत होता है वही त्वष्टा है।

पूषण्—सूर्य्य। पक्षान्तर में पुष्टिरूपा चेतना। जो चैतन्य दैहिक एवं मानसिक पुष्टि रूप से प्रकाशित है, उसीका नाम पूषण् है।

भग—षड्विध ऐश्वर्य्य अर्थात् ईश्वरत्व। सब प्रकार अभ्युदय

और इच्छा के अनभिघातरूप से जो चैतन्य प्रकाशित है, वही भग-नाम से कहा जाता है।

इनको अर्थात् शत्रुहननकारी सोम, त्वष्टा, पूषा एवं भग नामक देवताओं को "अहं बिभर्म्मि" मैं ही धारण करता हूं। सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा मैं ही इन सब रूपों से अपने को प्रकाश करता हूँ।

अहंदधामि द्रविणं—मैं द्रविण को धारण करता हूं। केवल सोम यागादि रूप कर्म्मकाण्ड को ही धारण करे सो नहीं, कर्म्मकाण्ड का जो द्रविण है वह भी मेरे ही द्वारा धारण किया हुआ है। शास्त्र विहित कर्म्मकाण्ड यथारीति अनुष्ठित होने पर उसके कारण एक अपूर्व्व अर्थात् शुभादृष्ट उपचित होता है। समय पाकर वह अपूर्व्व ही यथोक्त फल उत्पन्न करता है। इस अपूर्व को ही द्रविण कहते हैं।

हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते—यजमान लोग अर्थात् कर्म्मकाण्ड का अनुष्ठान करने वाले देवताओं के उद्देश्य से बहुत हविर्युक्त जो सोमयागादि का अनुष्ठान करते हैं, उन यागादि का जो द्रविण है, उसे कालान्तर भाविफल के लिये यजमानों के निमित्त मैं ने ही धारण किया है।

एक मात्र चैतन्य स्वरूप आत्मा मैं ही सर्व कर्म्म-रूप से कर्म्म-संस्कार रूप से एवं कर्म्मफल रूप से विराजमान होता हूँ। यही इस मंत्र का तात्पर्य्य है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञीयानाम्।
तां मा देवा व्यदधूः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्य्यावेशयन्तीम् ॥३॥

अनुवाद—मैं इस ब्रह्माण्ड की एक मात्र अधीश्वरी हूँ। मैं पार्थिव और अपार्थिव धन देने वाली हूं। मैं ब्रह्म साक्षात्काररूपा सम्बित् वा ज्ञानरूपा हूं। यह ज्ञान ही सब उपासनाओं का आदि है। मैं प्रपञ्च रूप से अनेक भाव में अवस्थिता हूं। मैं भूरी भाव से अनन्त जीवों में प्रविष्टा हूं, देवतागण इस प्रकार मुझको अनेक भाव से उपासना करते हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में अहं पद स्त्री लिङ्ग रूप से उक्त हुआ है। अहं अलिङ्गक है, सर्व लिङ्ग में व्यवहार होता है। एक गान में भी सुना है—"तुमि पुरुष नारी चिन्ते नारी, कोनओ युक्ति शास्त्रे मिलेना।" इस मन्त्र में स्त्री लिङ्ग शब्द का प्रयोग देख कर एवं अन्यान्य मन्त्र में भी शक्ति रूप से चैतन्य का विकास देखने से जान पड़ता है कि प्राचीन आचार्य्यगण ने इन वेद मन्त्रों का देवी सूक्त नाम रक्खा है। पूर्व कहा है—"अहं" अव्यक्त अनिर्देश्य है। वाक्य में आने से ही वह शक्ति रूप से प्रकाशिता होती है। राम, कृष्ण, शिव इत्यादि पुलिङ्ग शब्दों का प्रयोग करो, दुर्गा, काली, राधा इत्यादि स्त्रीलिङ्ग शब्दों का प्रयोग करो, अथवा ब्रह्म इत्यादि क्लीवलिङ्ग शब्दों का प्रयोग करो, इस में कुछ आता जाता नहीं है। तब यह स्थिर है, जब तक वह मन बुद्धि इन्द्रिय अथवा ध्यान धारणा द्वारा प्रकाशित है, तब तक वह शक्ति रूप से ही प्रत्यक्षीभूता है।

अस्तु, इस बार इस मन्त्र का अर्थ समझने की चेष्टा करते हैं। "राष्ट्री" शब्द का अर्थ प्रपञ्च रूप से विराजित अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति, प्रलय कर्त्री और एक बात में जगदीश्वरी है। "वसु" शब्द का अर्थ धन है। पार्थिव गो-हिरण्यादि, एवं अपार्थिव ज्ञान विद्यादि, ये दोनों धन के एक मात्र सङ्गमयत्री अर्थात् सर्व प्रकार धन-दायिनी मैं हूं। पूर्व कहा गया हैं कि धनरूप से मैं प्रकाशमान हूं; अब कहते हैं कि उस धन की प्रापयित्री भी मैं हूं।

"चिकितुषी" शब्द का अर्थ ब्रह्मज्ञान है। जिस ज्ञान द्वारा जीव 'मैं' का स्वरुप अनुभव कर सकता है, उस ज्ञान स्वरूपा "मैं"—मा हैं। "प्रथमा यज्ञीयानाम्"-यह ज्ञान ही यज्ञाङ्गसमूह में प्रथम है। "मैं" का स्वरूप कथञ्चित् जान कर यज्ञादि उपासना में प्रवृत्त न होने से तो वे कर्म्म अवैध हो जाते हैं। इसी से "चिकितुषी" ही समस्त उपासना की आदि है। इससे समझा गया कि उपासना, उपासना का फल और उपासना का आदि वा कर्म्मकाण्ड का मूलीभूत ज्ञानरूप

भी एकमात्र 'मैं' रूपी चैतन्य सत्ता ही विराजित है।

भूरिस्थात्रा शब्द का अर्थ अनेक भाव से अवस्थिता हैं। 'भूरी आवेशयन्ती' शब्द का अर्थ अनेक भाव से प्रविष्टा है। अनन्त भाव से अवस्थिता मैं हूं। फिर अनन्त-भावों में 'मैं' ही नित्य प्रविष्टा हूँ। 'तां मा देवा व्यदधूः'—इस प्रकार मैं (आत्मा) को देवता भजन करते हैं। देवतागण, उन्नतज्ञान वीर्य्य-सम्पन्न सन्तान, इस अनन्त वैचित्र्य पूर्ण जीव जगत् रूप से प्रकाशमान "मैं" को अनेक भावसे उपासना करते हैं, अर्थात् जहाँ जो कुछ देखते हैं, जहां जो कुछ पाते हैं, वही जो "मैं"—वही सत्य आत्मा हूं, इस प्रकार ज्ञान से सरल शिशु की भांति मुझ को आत्मा (मा) कहकर पुकारते हैं। यही तो देवता का लक्षण है।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षीयन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवन्ते वदामि ॥४॥

अनुवाद—जीव जो अन्नादि खाद्य द्रव्य भक्षण करता है, दर्शन करता है, एवं प्राण धारण करता है, ये सब क्रियाएें मेरे द्वारा ही सिद्ध होती हैं। जो मुझको इस प्रकार (सर्व कर्म्मों में) नहीं देखते, समझ नहीं सकते, वे ही संसार में क्षीणता को प्राप्त होते हैं। हे सौम्य! तुमसे जो तत्व कहते हैं उन्हें श्रद्धा के सहित सुनो ॥४॥

व्याख्या—अन्न शब्द का अर्थ आहार्य द्रव्य है। स्थूल देह रक्षा के लिये हो, अथवा मनोमयादि सूक्ष्म देह पुष्ट करने के लिये हो, जीव जो आहार वा विषय संग्रह करते हैं, वह सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा "मैं" ही निर्वाह करता हूं॥

विपश्यति—दर्शन करता है। क्या ज्ञान नेत्र से, क्या वाहश्चक्षु से जीव जो प्रत्यक्ष करता है, वह प्रत्यक्ष करना रूप क्रिया भी "मैं" द्वारा निर्वाहित होती है।

यः प्राणिति—वह जो सदा श्वास प्रश्वास रूप प्राणन-क्रिया

द्वारा जीवगण जीवित रहते हैं, उनका कर्ता भी एक मात्र "मैं" हूं।

यः शृणोति—वह जो कर्णेन्द्रिय द्वारा जीवगण शब्द ग्रहण करते हैं, उसका कर्ता भी एक मात्र "मैं" हूं।

इस तरह सर्व प्रकार के कर्म्म ही मेरे द्वारा सिद्ध होते हैं, इस बात को जो लोग नहीं मानते, विश्वास नहीं करते, वही "मां अमन्तवः"। मानुष दिन रात जो पुरुषकार कह कर चिल्लाते हैं, जिस अहं बोध को लेकर जगत् में फिरते हैं वह पुरुष कौन है ? उस "अहं" का स्वरूप और कार्य्य क्या है ? थोड़ा विचार करने से सबही समझ सकते हैं; तो भी जो इच्छा करके समझना नहीं चाहते वेही "मैं" को उपेक्षा करते हैं, अपमान करते हैं। ईशोपनिषद् में—ऐसे मनुष्य को ही आत्महन् वा आत्मघाती पुरुष कहा गया है। इस प्रकार जो सत्य को —आत्मा को अपमान करते हैं, "त उपक्षीयन्ते" वे ही संसार में अनेक प्रकार से लाञ्छित होते रहते हैं।

कृतज्ञता-प्रकाश रूप धर्म्म पशुपक्षी आदि तिर्यक् जाति में भी देखा जाता है। जीव श्रेष्ठ मनुष्य में इस धर्म्म का विकाश न रहने से उसको पशु से भी हीन माना जाय तो अन्याय नहीं है। कार्य्यतः, जगत् में भी वह सब की दृष्टि से उपेक्षित हो जाता है। मानलो कि तुम मार्ग में एक ऐसी सङ्कटापन्न दशा में पड़े हो कि, सामान्य एक पैसे के लिये लाञ्छित होते हो, अपने मकान पर आकर एक पैसा क्या एक सौ रुपये के लिये भी तुमको अभाव न होगा; किन्तु आज तुम बिलकुल अपरिचित स्थान में एक पैसे के अभाव से असम्मानित हो बैठे हो। ऐसे समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य अयाचितभाव से तुमको एक पैसा देकर उपकार करे, तो तुम मकान पर आकर पैसे के बदले चाहे सौ रुपये दे दो; किन्तु जब तक जीवित रहोगे, तब तक उसके साथ साक्षात्कार होते ही तुम्हारे हृदय के भीतर एक कृतज्ञता का भाव—एक अवनतभाव फूट उठेगा, यदि तुम मनुष्य होगे तो। और जो हमारे सर्वकर्म्मों का प्रेरक है, जिसके प्रकाश के

पढ़ने से हमारी ये जगत्भोग, जिसने हमारे प्राण दिये हैं, जो प्राण हमारे सर्वस्व हैं, उस प्राणरूपसे जो हमारे सर्वविध भोग वासना पूर्ण करते हैं उसकी ओर हम पूर्ण सरल भाव से एक कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि नहीं डाल सकते; हम यदि संसार में क्षीणता को प्राप्त न हों, तो कौन होगा ! इसीसे आत्मा—सत्य, हमारी मा गम्भीर स्वर से कहती है—"हे श्रुत ! हे सौम्य ! 'ते वदामि श्रद्धिवं श्रुधि ।' तुम को आत्म स्वरूप जो प्रकटित किया जाता है, उसे अत्यन्त श्रद्धा के साथ श्रवण करो ।" "मैं" की अश्रद्धा न करो, उस पर कृतज्ञ होओ, उसकी पूजा करो, उसका महत्व दर्शन करो ।

जीव ! देखो, तुम्हारे आहार विहार आदि जागतिक कार्य्य, यहाँ तक कि अति क्षुद्र निःश्वास से प्रारम्भ करके मोक्ष प्राप्त पर्य्यन्त प्रत्येक कर्म्म में चैतन्य रूप से—बोध रूप से—ज्ञान रूप से—अनुभूति रूप से कौन प्रकाशित हो रहा है ! देखो, कहाँ से कर्म्म फूट उठते हैं और फिर कहाँ लीन हो जाते हैं। देखो ये, सर्वकर्म्मों का नियन्ता कौन है ? और कोई नहीं—वह तुम्हारा सर्वदा अनुभूत है, वह तुमको बिलकुल प्रत्यक्ष है, उसको छोड़कर तुम क्षण भर भी नहीं रह सकते हो। उसको दूर मानो तो वह दूर है; नहीं तो वह निकट से भी निकट है। वह तुम्हारा "मैं" सर्वेन्द्रियागम्य होने पर भी सत्य है। उसके चरणों की शरण लो ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥

अनुवाद—मैं ने स्वयं ही इन तत्वों का उपदेश दिया है; देवता और मनुष्यों द्वारा यही परिसेवित है। 'मैं' जिसको इच्छा करती हूँ, उसको सब से उच्च पद प्रदान करती हूँ, उसको ब्रह्मा करती हूं, ऋषि बनाती हूँ, उसको आत्मज्ञानधारणोपयोगिनी मेधा प्रदान करती हूँ।

व्याख्या—वास्तविक ही, "मैं" का तत्व "मैं" के सिवाय और कौन कह सकता है ? कारण कि, मैं ही वेद्य हूँ, मैं ही वेत्ता हूं, मैं ही सब जानती हूं, मैं को जाननेवाला दूसरा कोई नहीं है, इसी से कहा है कि—"अहमेव स्वयमिदं वदामि" और यह तत्व—आत्मस्वरूपावगति देवता और मनुष्यों को एकान्त प्रार्थित है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि देवतावृन्द अनन्त काल तक तपस्या करते हैं; यह तुमने पुराण प्रसङ्ग में सुना ही होगा। तब वे अति उच्चपद पाकर भी किस वस्तु का अन्वेषण करते हैं, इस समय तुम उसे समझ सकोगे इसमें सन्देह नहीं। वह "मैं"—यह सत्य है। जहां ब्रह्मत्व, विष्णुत्व आदि कोई भाव नहीं है, वे इसी भावातीत नित्यनिरञ्जन आत्मा—"मैं" का ही सन्धान करते हैं। फिर मनुष्यगण तो करेंगे ही।

"जुष्टं" शब्द का अर्थ सेवित भी हो सकता है। 'क्त' प्रत्यय वर्तमान काल में भी व्यवहृत होता है। देवता लोग और मनुष्य ज्ञान से वा अज्ञान से 'मैं' की ही सेवा करते हैं। जो अज्ञानी हैं, वह जीव भावापन्न 'मैं' की सेवा करते हैं, जो ज्ञानी हैं वह सर्वभाव-विनिर्मुक्त "मैं" की सेवा करते हैं। मैं एकजन हूं—"एकोऽहं"। जीव भाव से हो चाहे देव भाव से हो, अथवा सर्वभाव-विरहित हो, एक मैं-सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही विराजमान हूं।

यं कामये—मैं जिसको (उन्नत करना) चाहूं उसको उन्नत करूँ। मैं की ही इच्छा से जीव सबसे उन्नत पद को प्राप्त होता है। उन्नति दो प्रकार की है। पार्थिव और अपार्थिव। पार्थिव—सुख-समृद्धि यश-प्रतिष्ठा इत्यादि को पाकर कोई मन में यह न समझ लेवे कि तुमने दृढ़ प्रयत्न और कठोर परिश्रम के द्वारा उसे प्राप्त किया है। उस उन्नति का उस अभ्युदय का, उस पुरुषकार का एक मात्र हेतु पुरुष रूपी "मैं" की इच्छा है। उसके बाद अपार्थिव—यह तीन प्रकार से प्रकाशित होता है ; सुमेधा, ऋषि और ब्रह्मा। सच्चिदानन्दरूपी मैं की इच्छा से जीव जब आध्यात्मिक जीवन का प्रथम आस्वाद पाता है, तब वह सुमेधा होता है अर्थात् आत्मज्ञानधारणोपयोगिनी बुद्धि

प्राप्त करता है। जबतक यह धारणावती मेधा प्राप्त नहीं होती, तब तक "श्रवणायापि वहुभिर्यो न लभ्यः" अनेक बार यह ज्ञान, यह उपदेश श्रवण करने पर भी वह कुछ समझ नहीं सकता। इसीसे आध्यात्मिक जीवन की प्रथम सूचना में जीव सुमेधा होता है, उसके बाद ऋषित्व को प्राप्त होता है। "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"। जो सर्वत्र सर्वावस्था में ब्रह्म सम्वेदन में, अत्मानुभूति में अभ्यस्त, उसका वह वेदन वा अनुभूति जब भाषा के आकार में बाहिर आती है तब वही मन्त्रनाम से अभिहित होती है। यह मन्त्रद्रष्टा साधक ही ऋषि है। बात असल यह है कि सर्वत्र आत्मदर्शी ही यथार्थ ऋषि है। यही आध्यात्मिक उन्नति का द्वितीय स्तर है। उसके बाद ब्रह्मा—हिरण्यगर्भ, जगत् सृष्टि-स्थिति-प्रलय का केन्द्र स्थान है। उस स्थान में जीव आध्यात्मिक उन्नति के तृतीय स्तर पर पहुँचता है। जब तक परान्त-काल वा ब्रह्मलीला का अवसान नहीं होता है, तब तक जीव को ब्रह्म लोक में ही निवास करना होता है। यह जो अपार्थिव तीन प्रकार की उन्नति है—वह भी एक मात्र आत्मा "मैं" की ही कामना है। मैं की ही इच्छा से यह सब संघटित होता है।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावा पृथिवी आविवेश ॥६॥

अनुवाद—मैं ब्रह्मज्ञान विरोधी विनाशयोग्य रुद्र (एकादशइन्द्रिय) को हनन करने के लिये प्रणव रूपी धनुपर आत्मरूपी शर युक्त करती हूँ, एवं इस प्रकार मैं ही जन समूह के लिये युद्ध करती हूं। मैं स्वर्ग मर्त्य दोनों लोकों में सर्वतोभाव से अनुप्रविष्ट हूँ॥ ६ ॥

व्याख्या—रुद्र—दश इन्द्रिय और मन (प्रथम मन्त्र देखो) ये ही ब्रह्मद्विष अर्थात् ब्रह्मज्ञान के विरोधी हैं। यहाँ पर 'रुद्र' शब्द में एक वचन व्यवहार किया गया है, क्योंकि इन्द्रिय वर्ग मनही के अन्तर्गत हैं। मन की सत्ता से इन्द्रिय सत्ता है, मन के लय से इन्द्रियों का भी

लय है। मन ही एक मात्र शरव्य अर्थात् विनाश्य है। शरपात योग्य स्थान को शरव्य कहते हैं। यकार लोप छान्दस।

सायनाचार्य्य ने 'शरवे' शब्द का अर्थ हिंस्र किया है। वह अर्थ भी यहाँ पर परिगृहीत हो सकता है। मन ब्रह्मज्ञान का विरोधी है; इस कारण मन को हिंस्र कहा जाता है। धनुः शब्द का अर्थ प्रणव—ओमकार अथवा मन्त्रमात्र है। 'आतनोमि' शब्द का अर्थ है शर योजना करता हूं। उपनिषद् कहता है—"प्रणवो धनुः, शरोह्यात्मा ब्रह्म-तल्लक्ष्यमुच्यते"। प्रणव धनुः, शर आत्मा (जीवात्म भाव) है, ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रणव वा मंत्र रूप धनुः से जीवात्म बोध रूपी शर चढ़ाकर ब्रह्म उद्देश्य से छोड़ने से उसका फल होता है—मन का लय। यह मन ही रुद्र है। यही ब्रह्म ज्ञान का विरोधी है। यह मन ही "मैं" को अखण्ड चैतन्य को खण्ड ज्ञान से जगदाकार में परिणत करता है, इसीसे मन हिंस्र अर्थात् शरव्य है; इसको "हन्तवै" हनन करने के लिए जो धनुःशर संयोजन अर्थात् योग धारणा समाधि अथवा पूजा होम प्रार्थना आदि उपाय अवलम्बन करते हैं; वे सब उपाय मैं ही हूँ। तात्पर्य यह है कि साधन रूप से भी "मैं" ही प्रकाशमान हूं।

पूर्व कहा गया है कि रुद्र रूप से 'मैं' विराजित हूं। यहाँ फिर उस रुद्र को हनन करने के लिये भी 'मैं' ही उद्यत हूं। यही 'मैं' का कार्य्य है जीवरूप से, जगत् रूप से बन्धन रूप से "मैं" हूं। फिर यह बन्धन छिन्न करके अखण्ड में होने के लिये जो योग साधनादि उपाय हैं वह भी मैं हूँ और मुक्ति भी मैं हूं।

यहाँ पर यह भी कहा जाता है कि यह मन्त्र उक्त पांच मन्त्रों के बाद कहे जाने पर भी इसमें कुछ रहस्य है। जो सर्वभाव से आत्मा का दर्शन करने में अभ्यस्त हुए हैं, अर्थात् "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि। सं पश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना"—इस वेद मन्त्र की साधना में जो सिद्ध है; वही रुद्र वा मन का विनाश करने के लिये आत्मा का धनुःशर संयोजन रूप प्रकाश अनुभव करने

में समर्थ होते हैं। इसीसे प्रथम पांच मन्त्रों में सर्वभाव से आत्म प्रकाश वर्णित हुआ है और इस मन्त्र में वह सर्वभावविलय पूर्वक एकात्म प्रत्यय मात्र का साधन रूप से भी 'मैं' वा आत्मा ही उद्यत है यह बात व्यक्त हुई। बुद्धियोगी के पक्ष में ये अवस्थायें प्रायः अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

अहं जनाय समदं कृणोमि - 'मैं'—विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा ही जीव के लिये युद्ध करता हूं। जब जीव के प्राण आत्म राज्य स्थापन करने को उद्यत होते हैं, तब देखते हैं कि मन द्वारा सर्वस्व हरण हुआ है। प्राण चाहते हैं कि भगवत् चरण में सर्वस्व अर्पण करके चरितार्थ हों, मन चाहता है कि संसार वासना में बाँध रखूँ। वही जीव-जीवन का शुभ सन्धि क्षण है, तब ही युद्ध का सूत्रपात होता है। कुरुक्षेत्र में—कर्म्मक्षेत्र में इस प्रकार का जो समर संघठित होता है, एवं उसके बाद विज्ञानमय क्षेत्र में जो देवासुर संग्राम सङ्घठित होता है (जो चण्डी तत्व में वर्णित है) वह भी मैंने ही किया है। इस कारण क्या साधनक्षेत्र में, क्या विषयक्षेत्र में, सर्वत्र सर्व कर्म्मों का एकमात्र नियन्ता 'मैं' आत्मा ही हूँ।

"अहं द्यावा पृथिवी आविवेश"—'मैं' द्युलोक और भूलोक प्रकाश करके सर्वत्र सम्प्रविष्ट हूं। देवलोक विज्ञानमय कोष है। इस स्थान में आत्मबोध समाप्त होने से, चैतन्यमय ब्रह्मसत्ता का दर्शन होता है। भूलोक अन्नमयकोष वा स्थूलदेह है, अन्यान्य कोष उक्त दोनों लोकों के अन्तर्गत होने से उनका पृथक् उल्लेख नहीं हुआ है। आत्माका अन्नमय कोष—यह विराट् ब्रह्माण्ड है। प्राणमय कोष सृष्टि स्थिति क्रिया शक्ति है। मनोमय कोष—अनेक भाव से व्यक्त होने का सङ्कल्प है। विज्ञानमय कोष—जिस ज्ञान में यह बहुत्व सङ्कल्प रक्खा हुआ है। आनन्दमय कोष—जिस स्थल में आत्माका स्वरूप केवलानन्दमय है। इस स्थान में जगत् का बीज अव्यक्तभाव से अवस्थान करता है। यह समष्टि वा विराट् विज्ञानमय कोष ही

स्वर्गलोक है। जीवभावीय व्यष्टि विज्ञानमय कोष में अवस्थान कर सकने से ही यह स्वर्गलोक में अनायास गतिशील हो जाता है और असंख्य देवदेवी मूर्ति दर्शन-अनेक प्रकार की आत्म विभूति प्राप्त की जाती हैं। श्री श्री चण्डी तत्व इस विज्ञानमय कोष की साधना है—यह आगे स्पष्ट होगा। प्रत्येक मनुष्य इच्छा करने से इस क्षेत्र में अर्थात् स्वर्ग में गमन कर सकता है। यह केवल भाषा की झङ्कार नहीं है, ध्रुव सत्य है।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्द्धन् मम योनिरपस्वन्तः समुद्रे।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामुन्द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥७॥

अनुवाद—मैं ने जगत्पिता को उत्पन्न किया। इसके ऊपरी भाग में आनन्दमय कोषाभ्यन्तरस्थ विज्ञानमय कोष में हमारा कारण शरीर अवस्थित है। मैं समग्र भुवनों में अनुप्रविष्ट होकर अवस्थिता हूं। यह जो दूरवर्ती स्वर्गलोक है वह भी मैं ने अपने शरीर द्वारा स्पर्श किया है।

व्याख्या—जगतपिता-हिरण्यगर्भ, जिससे यह जीव जगत् उत्पन्न है पूर्व कहा जा चुका है कि यह परमात्मा का मनोमय कोष वा समष्टि मन है। पृथिवी आदि पञ्च भूतों का आदि-आकाश वा व्योमतत्व है। इस व्योमतत्व के ऊपर मन है। मनमें ही आकाशादि भूतों का सङ्कल्प रहता है। हम जैसे मन में अनेक प्रकार की कल्पना करते हैं, उसी प्रकार समष्टि वा विराट् मन की कल्पना यह ब्रह्माण्ड है। हमारे मन की कल्पनायें क्षणस्थायी और दूसरों के अदृश्य हैं; किन्तु मनोमय आत्मा का सङ्कल्प घन, दीर्घकालस्थायी और सर्व्व जीवों का भोग्य है, इस विराट् पुरुष का नाम हिरण्यगर्भ है—यही जगत् का पिता है। इस सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा को "मैं" ने उत्पन्न किया है। इस प्रकार "मैं"—जगत् पिता की भी जननी हूँ।

अस्य मूर्द्धन् मम योनिः—इसके ऊपर हमारा कारण देह

अवस्थित है। अप्सु अन्तः समुद्र में-समुद्र के मध्यस्थित जल में। समुद्र शब्द का अर्थ आनन्द है। श्रुति भी है कि ये समस्त प्राणी समुद्रवान् अर्थात् आनन्दमय है। धातु प्रत्यय के अर्थ द्वारा भी समुद्र शब्द में आनन्द पाया जाता है—सम् पूर्वक क्लेदनार्थक उद् धातु से समुद्र शब्द सिद्ध होता है। सम्यक् प्रकार से क्लिन्न अर्थात् रसार्द्र करने से ही इसका नाम समुद्र है। आनन्द ही जीव को रसार्द्र करता है, इसी से समुद्र आनन्द है। आचार्य सायनदेव ने भी इसका अर्थ परमात्मा किया है। परमात्मा और आनन्द एक ही बात में। अप् शब्द का अर्थ—व्यापन शीला धी वृत्ति है, यह सायनभाष्य में कहा गया है। धी वृत्ति का दूसरा नाम विज्ञानमय कोष है। पूर्व मन्त्र की व्याख्या में परमात्मा के पञ्च कोषों का विवरण प्रगट किया गया है। अस्तु, इस मन्त्र का अर्थ हमने समझा, आनन्दमय कोष के भीतर अवस्थित विज्ञानमय कोष ही, हिरण्यगर्भ के ऊपर अवस्थित है, वही "ममयोनिः" परमात्मा का कारण शरीर है। जीव का कारण-शरीर यद्यपि आनन्दमय कोष के नाम से प्रसिद्ध है, तथापि केवल आनन्द-मय कोष ही कारण नहीं है; उसके भीतर स्थित विज्ञान ही यथार्थ कारण होता है। विज्ञान ही इस जगत् को धारण किये हुए हैं। वह उदासीन साक्षीवत् द्रष्टामात्र है। उसी के ईक्षण वा प्रकाश के मिलने से यह प्रकृति रूपी मन अनन्त वैचित्र्यपूर्ण जगत् प्रपञ्च रचना करता है। इस कारण हिरण्यगर्भ अर्थात् जगत् पिताके ऊपर ही "हमारा" आत्मा का कारण शरीर अवस्थित है।

ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वा—अतएव समस्त भुवन में "मैं" ही प्रविष्ठ होकर अवस्थान करता हूँ। "उत अमुं द्यां वर्ष्मणा उप-स्पृशामि" वह जो साधारण जीवों के पक्ष में दूरवर्ती स्वर्ग लोक है—जो विज्ञानमय कोष नाम से पूर्व कहा गया है, उस स्थान को भी मैंने अपने शरीर द्वारा स्पर्श किया है। समस्त ब्रह्माण्ड ही "हमारा" सच्चिदानन्द का शरीर है; तब द्युलोक में आरोहण कर सकने से ही

विशेष भाव से हमारा स्पर्श अनुभव किया जा सकता है; यही इस वाक्य का विशेष तात्पर्य्य है।

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा परो एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव ॥ ८॥

अनुवाद—मैं जब वायु की भांति प्रवाहित होता हूँ तब ही यह समग्र भुवनों की सृष्टि आरम्भ होती है। इस स्वर्ग मर्त्य के परे भी मैं वर्तमान हूँ। यही मेरी महिमा है।

व्याख्या—वायु की भांति प्रवाहशील बात क्रियाशक्ति की प्रकाशक है। भूतों में आकाश निष्क्रिय, उदासीन और सर्वाधार है। किन्तु वायु प्रवाह रूप क्रिया शक्तिमय है। गीता में कहा है—"यथाकाश स्थितो नित्यं वायुः सवत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥" जिस प्रकार सर्वत्रगामी और महान् वायु आकाश में अवस्थित है, उसी प्रकार सर्व्वभूत आत्मामें अवस्थित हैं। जीव जब यह आत्मवस्तु साक्षात्कार करने के लिये अग्रसर होते हैं, तब इसको क्रियाशक्ति-विशिष्ट ही देखते हैं। जबतक तटस्थ लक्षण द्वारा आत्म समीपस्थित होना होता है, तबतक यथार्थ ही यह वायु की भांति प्रवाहशील होता है। इसीसे वेदान्त सूत्र में—"जन्माद्यस्य यतः" कह कर ब्रह्म-जिज्ञासा का उत्तर दिया है। जिससे यह समस्त जगत् उत्पन्न है, जिसमें स्थित है और जिसमें विलीन होता है वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, वही मैं हूँ। मैं को जो जानना चाहें उनके लिये केवल "जन्माद्यस्ययतः" यही उत्तर है। इससे सरल उत्तर और कोई नहीं है। यह जो जगत् प्रसूति पालयित्री एवं संहन्त्री, शक्तिरूपा जननी है वह 'मैं' हूँ। इसीसे मन्त्र में भी स्त्री लिङ्ग शब्द का प्रयोग हुआ है। 'आरभमाणा' यही सब जीवों का साध्य और उपास्य है। यह विश्वभुवन जबतक है तबतक यह 'बात इव प्रवामि' अर्थात् क्रियाशक्ति रूपा है—यह श्रुतिसिद्ध है। निर्गुण भाव से हो चाहे पुरुष

भाव से हो, उपासना व्यापार जबतक है, तबतक आत्मा क्रिया शक्ति वा महामायारूप से ही प्रकाशित होता है।

इसके सिवाय हमारी और एक अवस्था है। यह भी उपसंहार में कहते हैं—"परो दिवा परो एना पृथिवी एतावती महिमा" यह जो द्युलोक भूलोक व्यापी और द्यु लोक भूलोक रूपी 'मैं' का स्वरूप प्रगटित किया गया है, इसके ऊपर में भी "मैं" है। वह वाक्य और मन के अगोचर है, वही जीव का गम्य और लक्ष्य है। जगदतीत निरञ्जन-स्वरूप में उसकी किसी महिमा का विकाश नहीं है। "मैं" की महिमा—यह जगत्; यह द्यु-भू व्यापी विराट् देह है। वेदान्त सूत्र में भी कहा गया है कि किस प्रकार अपने नित्य निरञ्जन-स्वरूप को अखण्डित-रख कर, "मैं"—मा हमारी, स्वयं परिच्छिन्न जीव-जगत् आकार से विराजित हैं। यही विस्मयकर है और यही यथार्थ "मैं" का माहात्म्य है।

यह महात्म्य कथञ्चित् अनुभव कर सकने पर भी जीवन सार्थक होगा। इसीसे चलो साधक, चलो जीव, हमने अबतक जिस मैं को देखा था, अब देखें, उस मातृ-स्वरूप के असीम उदार स्नेह-विकाश, अनिर्वचनीय सन्तानवत्सलता और अभूतपूर्व अलौकिक माहात्म्य हमारे समान अकृतज्ञ सन्तान पर किस प्रकार प्रकाशित होते हैं।



अर्गला

मातृमुखी गति

अर्गल शब्द का अर्थ है हुड़का। जिस प्रकार गृह द्वार का अर्गला बन्द रहने से, सहसा कोई गृह में प्रवेश नहीं कर सकता, उसी प्रकार देवी माहात्म्य-पाठ के पूर्व अर्गला स्तोत्र पाठ कर लेने से, वाह्य विषय चित्त क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते। वहिर्मुख वा एकान्त विक्षिप्त चित्त व्यक्ति के लिये चण्डी तत्व में प्रवेश दुरूह है; इसीसे परम कारुणिक पूर्वाचार्यों ने चण्डी पाठ के पूर्व, चित्त की वृत्तियों को कथञ्चित् मातृमुखी करने के लिये ये अर्गला-कीलक और देवी कवच पाठ का विधान किया है। मन्त्रचैयन्य न होने पर्य्यन्त स्तोत्रादि पाठ का फल अति सामान्य मात्र है। देवी माहात्म्य के ब्रह्मस्तोत्र में मन्त्रचैतन्य व्याख्यात होगा।

इस स्तोत्र में प्रथम—'जय त्वं देवि' इत्यादि वाक्य से जय शब्द उच्चारण पूर्वक चित्त वृत्ति को मातृ मुख में प्रवाहित करने का प्रयास किया गया है। उक्त स्तुति के प्रत्येक पद की व्याख्या नहीं की गई है। कारण कि चण्डी व्याख्या करते समय प्रायः सर्व पदों की व्याख्या होगी। विशेषकर उन पदों की व्याख्या विशेष कठिन नहीं है। शिक्षित व्यक्तिमात्र ही उसे समझ सकते हैं। "मधुकैटभ-विध्वंसि" "महिषासुर निर्नाशि" इत्यादि शब्द का अर्थ यथास्थान प्रकटित हुआ है।

अस्तु, इस स्तोत्र के प्रायः प्रत्येक मन्त्र का ही शेषार्द्ध है "रूपंदेहि जयंदेहि, यशोदेहि, द्विषोजहि" यह श्लोकार्द्ध। इस अंश की व्याख्या नितान्त आवश्यक है। जो जिस प्रकार का अधिकारी है वह उसी प्रकार का अर्थ ग्रहण करे।

रूपं देहि—

(१) मा, हमें सुन्दर आकृति दीजिये, स्वास्थ्यवान कीजिये।

(२) मा, तुम्हारा रूप हमें देखने दीजिये।

(३) मा, जगत्मय तुम्हारा ही रूप है, वह मुझे समझने दीजिये।

(४) मा, हमको रूप का जो अभाव बोध है, उसे दूर कीजिये। यहाँ पर देहि शब्द का अर्थ "अभावं पूरय"। अभाव पूर्ण करने के लिये ही "देहि" शब्द का प्रयोग होता है।

(५) मा, एकमात्र निरूपणीय वस्तु परमात्मा है; हमको उसका स्वरूप समझने दीजिये। यहां पर "रूप्यते निरूप्यते इति रूपं तच्च परमात्मवस्तु"—यही रूप शब्द का अर्थ है।

जयं देहि—

(१) मा हमको जय देना।

(२) मा, जिससे साधन समर में जय प्राप्त कर सकूं—ऐसाकरो।

(३) मा, मुझे चित्त और इन्द्रिय जय का अधिकारी करो।

(४) मा, जयस्वरूपा तुम हमारी होओ, अर्थात् जयरूपिणी तुम में हमारी मति हो।

(५) मा, हमको सत्यप्रतिष्ठ करो। यहाँ पर जय शब्द का अर्थ सत्य हैं। उपनिषद् कहता है—"सत्यमेव जयते नानृतम्" एकमात्र सत्य ही जययुक्त है; मिथ्या का जय नहीं होता। सत्य ही जय है। एकमात्र "सत्य ही" सर्वत्र सर्व्व भाव में विराजित है-इस ज्ञान में प्रतिष्ठित होने का नाम ही यथार्थ जयलाभ है।

यशो देहि—

(१) मा, हमको कीर्तिमान् करो।

(२) मा, "मैं तुम्हारा पुत्र हूँ" यह यश हमको दीजिये।

(३) मा, मुझको साधन-समर में जय प्राप्ति का यश दीजिये।

(४) मा, यश की भाँति निर्म्मल शुभ्र सत्वगुण जाग्रत करो।

(५) मा, हमको नित्य-चिरस्थायी यश (परमात्मवस्तु) दीजिये अर्थात् हमको अमर कर दीजिये। मृत्यु से अमृतत्व में ले चलिये। शास्त्र में भी लिखा है "कीर्तिर्यस्य स जीवति" जिसका यश है वह चिरजीवी है अमर है। चीरजीवन लाभ करना, अमर होना और मुक्ति प्राप्त करना एक ही बात है। जो जागतिक किसी प्रसिद्ध कार्य्य का अनुष्ठान करके स्मरणीय हुए हैं, वह वास्तविक अमर नहीं हैं, दीर्घकाल स्मरणयोग्यमात्र हैं। किन्तु जो अमृतस्वरूप आत्मवस्तु प्राप्त कर सकते हैं, उनकी फिर मृत्यु नहीं होती है; "इहैवलीयते" इति श्रुतिः।

द्विषो जहि—

(१) मा, हमारे शत्रुओं का हनन करो।

(२) मा, हमारे काम क्रोधादि रिपुओं का नाश करो।

(३) मा, हमारे साधना विरोधी भावों को दूरीभूत करो।

(४) मा, हमारे त्रिविध कर्म्मफल ध्वंस करो; कारण, वही हमारे यथार्थ शत्रु है, ब्राह्मीस्थिति के दुर्जय विघ्न है। वह हमको मा की गोदी से खींच कर नीचे डाल देता है।

(५) मा, सर्व्वही हमारे शत्रु हैं, मुक्ति मार्ग के रोकने वाले हैं, अतएव सर्वज्ञान-सर्वधर्म्म रूप महाशत्रुओं का विनाश करो।

प्रयोजन समझ कर और भी दो एक स्थान का अर्थ किया जाता है।

"देहि सौभाग्यमारोग्यम्"—

(१) मा, हमको सौभाग्यवान् करो और आरोग्य दान करो।

(२) मा, तुमको पाने का सौभाग्य हमको देना।

(३) मा, संसार समुद्र पार होना ही यथार्थ सौभाग्य है, वह सौभाग्य हमको दीजिये। मा, यह भवरोग अर्थात् पुनः पुनः जन्म मृत्यु दूर करके हमें चिर आरोग्य प्रदान कीजिये।

विधेहि बलमुच्चकैः—

(१) मा, हमको शारीरिक बल दीजिये

(२) मा, हमारे चित्त में बल दीजिये।

(३) मा, हमको परमात्मवस्तु-प्राप्ति के उपयुक्त बल प्रदान कीजिये। श्रुति है—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" बलहीन व्यक्ति आत्मलाभ नहीं कर सकते; इस कारण हमको ऐसा बल दीजिये कि जिससे मा, तुमको पा सकें।

भार्य्यां मनोरमां देहि मनोवृत्त्यनुसारिणीम्—

(१) मा, हमारी मनोवृत्ति का अनुसरण कर सके, ऐसी मनोरमा पत्नी दीजिये।

(२) मा, हमारी पत्नी को मेरी मनोरमा और अभिप्रायानुसारिणी सहधर्म्मिणी कीजिये।

(३) मा, हमको आत्माभिमुखी इच्छाशक्ति दीजिये, जिससे वह शक्ति हमारे मन की भी प्रियतमा हो और हमारे चित्त की वृत्तियां उस शुभ इच्छाशक्ति का ही अनुसरण करें; जिससे और जगत्मुखी मनोवृत्ति न रहे।

(४) मा, हमको दैवी प्रकृति दीजिये, वह प्रकृति हमारी मनोरमा हो एवं चित्त की वृत्तियां भी उसीका अनुसरण करें।

कुछ न कुछ सदिच्छा, कुछ न कुछ दैवी प्रकृति मनुष्यमात्र में ही है; परन्तु वह मन के पक्ष में प्रीतिजनक न होने से ही तो लोग जगद्भोग में मुग्ध रहते हैं। यह भाव जिससे दूरीभूत हो अर्थात् आत्माभिमुखी

इच्छाशक्ति-दैवीप्रकृतिरूपिणी भार्या जिससे मनोरमा हो—मन के पक्ष में प्रीतिजनक हो, वही प्रार्थना कर रही हूँ।

इस प्रकार जो व्यक्ति जिस वस्तु की आकांक्षा करता है, जो साधक जैसा अभाव बोध करता है, वह सरलप्राण शिशु की भांति मा से प्रार्थना करे। जो व्यक्ति जैसा अधिकारी है, वह उसी प्रकार अर्थ ग्रहण करेगा। मा से मांगने का निषेध नहीं है। जो आदर्श पुरुष, हमारे देश की पूर्व्वतन ऋषि-मण्डली में थे, वह भी जब जो आवश्यकता होती थी प्रसन्न वदन से प्रार्थना करते थे। यह उनके ब्रह्मज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं होता था, दूसरा कौन है जिससे याचना करें ? जो हमारे प्राण की प्रत्येक क्षुद्र आकांक्षा पूर्ण करने के लिये सदा कल्पतरु रूप से विराजमान है, वह और कोई नहीं है, हमारी मा—आत्मा वा 'मैं' है। चाहते हो—उससे चाहो, विमुख नहीं होगे; सरल विश्वास से चाहो। वह इच्छामात्रसे सब दे सकती है, इस विश्वास को हृदय में धारण कर लो। केवल चाह नहीं सकते उसीसे पाते भी नहीं यह भी समझ लो। एक मनुष्य से जीतना विश्वास लेकर चाह सकते हो, अन्ततः उतना ही विश्वास रक्खो—निश्चय पाओगे। तब कौन जाने छोटी वस्तु है कौन जाने बड़ी वस्तु है। धन रत्न ही हो वा आत्मज्ञान ही हो, जो चाहोगे वही पाओगे। केवल चाहने का अभ्यास करो।

जहाँ देखो कि तुम चाहने पर भी प्रार्थित वस्तु नहीं पाते, वहाँ समझ लो कि तुम्हारा विश्वास नहीं हुआ। यथार्थ "मा कल्पतरु है, यह सत्य मा है, हम उससे चाहते हैं" यह बोध स्थिर होने से निश्चय ही प्रार्थना पूरी होगी। मा कहाँ है ? इसका अनुसन्धान तुमको नहीं करना होगा। वह सर्वत्र सर्व्वरूप से पूर्णभाव से विराजती है। तुम जहाँ कहोगे, वहीं वह सुनेगी। याद रक्खो कि तुम्हारी प्रत्येक बात सुनने के लिये कान उठा रही है। फिर यह भी है कि वह इच्छा करने से समस्त ब्रह्माण्ड का आधिपत्य दे सकती है, उससे छोटी वस्तु

की याचना करना बच्चों का कार्य्य है; नहीं तो याचना करने में कोई दोष नहीं है। चाहने से वह असन्तुष्ट नहीं होती है।

अस्तु, चण्डी पाठ के प्रथम—इन कामनाओं को पूर्ण करने की चर्चा की कुछ विशेष आवश्यकता है। जीव स्वभावतः विषयों में मोहित है, देहात्मबोध-विशिष्ट है, वासना की अग्नि से सदा जलता रहता है। सुतरां यदि प्रथम ही वासना पूर्ण होने का सहज उपाय देख लेता है, तो निश्चय ही उसकी ओर आकृष्ट होता है। फल के लोभ से आकृष्ट होने पर भी जीव यदि मातृमुखी हो, तो वह भी परम सौभाग्य है। और जिन्होंने आत्माभिमुखी गति का अनुभव किया है, जिन्होंने माँ की ओर मुख फिराया है, मातृलाभ के लिये आकुल पिपासा जिनके प्राणों में जाग्रत हुई हैं, उनके पक्ष में जिन शक्तियों को पाने की अत्यन्त आवश्यकता है, जिस बल को प्राप्त किये बिना अति-गहन चण्डी तत्व में वा मुक्तिमार्गमें प्रवेश नहीं किया जा सकता, उस बल को पाने ही के लिये अर्गलास्तोत्र है। तो भी इस बहाने से स्तोत्र मन्त्रचैतन्य करके पाठ करने से, बहिर्मुखी चित्तवृत्तियाँ कुछ समय के लिये अन्तर्मुखी हो जाती हैं और उस अवसर में धीरे-धीरे साधन-समर में आगे बढ़ने की सुविधा होती है।



कीलक

अधिकार-निर्णय

कीलक शब्द का अर्थ इस स्थान में—अभीष्ट सिद्धि का प्रतिबन्धक है। जिसको साधारण बोली में शाप कहते हैं। गायत्री आदि अनेक प्रसिद्ध मन्त्रों में किसी न किसी ऋषि वा देवता का शाप है। और साथ-ही-साथ उस शाप के उद्धार का भी विधान है। यह कीलक-स्तुति भी शापोद्धार-विशेष है। सप्तशती-मन्त्रात्मक देवीमाहात्म्य के ऊपर भी महादेवकृत कीलक है। उस कीलक को दूर करके देवी माहात्म्य पाठ न करने से वह अभीष्ट फल देने में असमर्थ है। इस शाप वा कीलक का यथार्थ रहस्य—अधिकार निर्णय है। किस प्रकार क्षेत्र पर आरोहण करके, किस प्रकार मानसिक उन्नति लेकर, किस प्रकार साधन बल पाकर, चण्डीतत्व में प्रवेश करने से अभीष्ट सिद्धि होती है, उसीका प्रतिपादन कीलक स्तोत्र में हुआ है। अन्यान्य मन्त्रों का भी शापोद्धार करने का ठीक-ठीक तात्पर्य्य यही है। अस्तु, इस स्तोत्र में कहा है :—

कृष्णायां वा चतुर्दश्यामष्टम्यां वा समाहितः।
ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथषा प्रसीदति ॥
इत्थं रूपेण कीलेन महादेवेन कीलितम्।
यो निष्कीलां विधायैनां चण्डीं जपति नित्यशः ॥
स सिद्धः सगणः सोऽथ गन्धर्वो जायते ध्रुवम्।
नापमृत्युवशं याति मृते च मोक्षमाप्नुयात् ॥

इसका अर्थ यह है कि कृष्णपक्ष की चतुर्दशी अथवा अष्टमी तिथि में, दान और प्रतिग्रह करना होता है, अन्यथा यह चण्डी प्रसन्ना नहीं होती। इस प्रकार कीलक द्वारा महादेव ने इस चण्डी को कीलित किया है। जो व्यक्ति निष्कील करके (अर्थात् इस प्रकार दान प्रतिग्रह करके) नित्य यह चण्डी जप (पाठ) करते हैं, वह सिद्ध हो जाते हैं।

व्याख्या—दान और प्रतिग्रह सम्बन्ध में मूल में कुछ भी उल्लेख नहीं है। कौन देगा, क्या देगा, किस को देगा और किसके निकट से क्या प्रतिग्रह करेगा, कुछ भी मन्त्र में नहीं कहा गया हैं, इस कारण भिन्न-भिन्न भक्तों ने इसकी भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या की है। परन्तु उन अर्थों से अनेकों का संशय निवारण नहीं होता। अस्तु, हमने इस स्थान का जो अर्थ समझा है, ज्ञानरूपिणी मा ने हमारे हृदय में उसके जिस प्रकार अर्थ का विकाश किया है; आओ, पिपासित साधक! हम एक बार उस अर्थ की आलोचना कर समझने की चेष्टा करें।

कृष्णायां चतुर्दश्यां अष्टम्यां—ये साधक के विशेषण हैं। इस स्थान में सप्तमी विभक्ति विशेषण में प्रयुक्त हुई है; अधिकरण में नहीं। उसका प्रमाण रघुनन्दन कृत तिथितत्वमें विशदभाव से वर्णित हुआ है। वैध कार्य्य में, सङ्कल्प वाक्य में जो मास, पक्ष, तिथि आदि का उल्लेख है, वह पुरुष-विशेषण है अर्थात् उस मास, उस पक्ष, उस तिथि विशिष्ट पुरुष, इस प्रकार अर्थ समझाया गया है, इस कारण यहाँ भी कृष्णपक्षीय चतुर्दशी और अष्टमी तिथि-विशिष्ट पुरुष वा साधक ही इस मन्त्र का अर्थ है। साधक किस प्रकार अवस्था में आने से उक्त विशेषण युक्त हो सकता है?

चन्द्रकलाक्षय पक्ष का नाम कृष्णपक्ष है; चन्द्र मन का अधिपति देवता है। चतुर्दशी—एककलामात्र अवशिष्ट चन्द्र वा मन। अष्टमी-अर्द्धक्षीण चन्द्रमा वा मन। जो मन का अन्ततः अर्द्धांश मातृचरण में उपहार दे सके हैं, आत्मा को वा "मैं" को लाभ करने के लिये अग्रसर होकर, अन्ततः अर्द्धमन गंवा दिये हैं, वही कृष्णाष्टमी-

तिथि विशिष्ट साधक हैं। और जिनका प्रायः समग्र मन मातृमय हो चुका है, एक कला अवशिष्ट है—केवल मा को भोग करने के लिये, उपास्य और उपासक दोनों ही एक हैं वह भी परमानन्द रस आस्वादन के लिये, कुछ भेद बोध रखने के लिये, मा किसी साधक का एक कलामात्र मन अवशिष्ट रख देती है—इस श्रेणी के साधक ही कृष्ण चतुर्दशी तिथि विशिष्ट हैं। इन दोनों अवस्थाओं की मध्यावस्था (अर्थात् अष्टमी से चतुर्दशी पर्यन्त) इसी कारण स्वीकृत हुई है।

समाहितः—एकाग्रचित्त—समाधिस्थ। कृष्णाष्टमी वा मन की अर्द्धलयावस्था से मृदु मृदु भाव से समाधि आरम्भ होती है और एक कला शेष रहने पर्यन्त, मातृभोग वा आत्मसाक्षात्कारजनित आनन्द-सम्भोग हुआ करता है। कृष्णचतुर्दशी ही समाधि की दृढ़ अवस्था है। मन के सम्यक् लय में (अमावस्या में) अर्थात् समाधि की परिणत अवस्था में और कुछ भी नहीं रहता—ज्ञाता-ज्ञेय बोध पर्य्यन्त लय हो जाता है, जो रहता वह अव्यक्त अचिन्त्य है तो भी वह ही गम्य है। वहाँ जाकर फिर आना नहीं होता। यही मैं का परमधाम है। "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमंमम" (गीता)। उस अवस्था में चण्डी वा साधन-समर का बिलकुल अन्त होता है; इसीसे इस स्थल में कृष्णाष्टमी से केवल चतुदशी तक का उल्लेख है एवं वही समाहित अवस्था है।

ददाति प्रतिगृह्णाति—अर्पण और ग्रहण; पूर्वोक्तरूप समाहित अवस्था आने से एक व्यापार स्वतः ही संघटित होता है; वही ददाति और प्रतिगृह्णाति है। जिनके मनका अर्द्धांश मातृमुखी हुआ है, वे मातृ-महिमा, मातृस्नेह निश्चय ही अनुभव कर सकते हैं। जिन्होंने एक बार मातृस्नेह अनुभव किया है, वे फिर कभी अकृतज्ञ नहीं रह सकते, कृतघ्नता उनके पक्ष में बिलकुल असम्भव है। कुछ न कुछ मातृ चरण में अर्पण करने की वासना फूटेगी ही; पत्र, पुष्प, फल, जल हो वा भाव भक्ति, श्रद्धा एवं प्रणाम कुछ भी हो, कुछ न कुछ

अर्पण रूप कृतज्ञता-प्रकाश होगी ; यह जो अर्पण है वही ददाति है। उसके बाद, इस प्रकार अर्पण होने से उसका प्रतिग्रह भी अवश्यम्भावी है। तुम मा को जो अर्पण करोगे, वह अनेक गुणा होकर फिर तुम ही को प्रत्यर्पित होगा; यह साधन जगत् का एक अपूर्व रहस्य है, मातृस्नेह का यही अन्तिम निदर्शन है। क्यों ऐसा होता है सुनोगे? तब सुनो! मा तो आत्मा है। दर्पणस्थित प्रतिबिम्ब में माला पहनाने से कार्यतः वह अपने कण्ठ में ही अर्पित होती है। इस समाहित अवस्था में भगवत् उद्देश्य से अर्पित वस्तु वा भाव साधक के मन में एक अभूतपूर्व तृप्ति उत्पन्न कर देते हैं। वे मा को स्नान कराते हैं, परन्तु स्नान होता है अपना। मा की पूजा करते हैं परन्तु पूजा होती है अपनी। माता के उद्देश्य से अन्न उत्सर्ग करते हैं, क्षुधा दूर होती है, अपनी। माता की तृप्ति के लिये अग्नि में आहुति प्रदान करते हैं, परन्तु अनुभव करते हैं—कि अपना सहस्रार से मूलाधार पर्यन्त मानो एक सुखमय स्पर्श अनुभव होता है, यह ऐसी ही एक अवस्था है। साधक मात्र ही इसे प्रत्यक्ष करते हैं। इसी का नाम ददाति और प्रतिगृह्णाति है। जब तक साधना में ऐसा आत्मसम्बेन नहीं आता, तबतक ही साधना एक नीरस कष्टसाध्य अनुष्ठान मात्र जान पड़ती है। परन्तु वह दूसरी बात है।

नान्यथैषा प्रसीदति—अन्यथा चण्डी प्रसन्न नहीं होती। जिनकी पूर्वोक्त रूप अवस्था आई है, वे ही चण्डी तत्व में प्रवेश करने के योग्य अधिकारी हैं। यह न होने से चण्डी की प्रसन्नता-भले प्रकार अनुभव नहीं होती, यही महादेव का कीलक अर्थात् ज्ञानमय गुरु का आदेश है। यह कीलक ही श्रीगुरु का मङ्गलमय आशीर्वाद है। जो व्यक्ति निष्कील करके यह चण्डी पाठ करते हैं, वे ही सिद्ध होते हैं। निष्कील करना—सिद्धि का प्रतिबन्धक दूरीभूत करना है। कुछ समाहित चित्त हुए बिना आत्मबोध विकसित नहीं होता। आत्मबोध महिमान्वित हुए बिना अर्पण और ग्रहण नहीं होता; इस

कारण उस अवस्था में चण्डी-तत्व में प्रवेश करके सिद्धि प्राप्त करना क्या दुराशा नहीं है? साधन-समर में जय प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार बल संग्रह करना होता है, वही क्रम-क्रम से अर्गला कीलक और देवीकवच में वर्णित हुआ है।

इस कीलक स्तुति का और एक प्रयोजन है—इष्टसाधनता ज्ञान है। "इस कार्य्य द्वारा हमारा यह इष्टफल संसिद्ध होगा" इस प्रकार का ज्ञान ही कर्म्मप्रवृत्ति का मूल है। उक्त इष्टसाधनता-ज्ञानांश में भ्रम वा अज्ञानता रहने से, कर्म्म सिद्धि दूर हट जाती है। इसी से चण्डी-तत्व में प्रवेश कर सकने से क्या लाभ होगा, वह भी इस श्लोक में प्रतिपादित हुआ है। सौभाग्य, आरोग्य, वशीकारादि छः प्रकार की शक्ति आदि क्षणिक-प्रीतिकर पार्थिव फलों की जो लोग कामना करते हैं, वह सब तो होवेंगे ही, परन्तु प्रधान फल लाभ होगा-मोक्ष। स्तोत्र के शेष भाग में वही कहा गया है—"शत्रु हानिः परो मोक्षः स्तूयते न स किं जनैः"। असल बात यह है कि चण्डी भोग और अपवर्ग दोनों का ही साधन है; इस कारण जो धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष रूप महाफल के अभिलाषी हैं, वे ही चण्डी पाठ के अधिकारी हैं; कीलक-स्तुति में यह भी प्रतिपादित हुआ है।

वेदान्त आदि दर्शन भी मोक्षशास्त्र अवश्य हैं, किन्तु ऐहिक और पारत्रिक फल से बिलकुल विरक्त हैं एवं एकमात्र मोक्षाभिलाषी साधक ही उन शास्त्रों के सुनने के अधिकारी हैं। परन्तु देवी-महात्म्य दोनों फलों का साधन है; यह कीलक स्तोत्र में परिव्याप्त हुआ है। जो लोग इसको केवल स्तुतिवाद बोलते हैं, उनसे हमारा एकमत हो नहीं सकता। कीलक-स्तोत्र में जैसा कहा गया है, उस प्रकार निष्कील कर—समाहित होकर, चण्डी तत्व में प्रवेश करने से, निश्चय ही भोग और अवसर्ग, ये दोनों फल प्राप्त होते हैं।

किन्तु मा! हमारे लिये क्या उपाय हैं! हमने तो कोई अधिकार प्राप्त किया नहीं है! जिन अधिकारों को प्राप्त करने से, मा तुम्हारी

बड़ी साध के साधन-समर में प्रवेश करके जय प्राप्त कर सकें, यह हममें तो कुछ भी नहीं है! जब बन्धन-ज्ञान ही नहीं हुआ, तब मुमुक्षु किस प्रकार होवेंगे? मन की सोलह कलाएँ तो जगत्-मुखी हैं, हम तो अष्टमी चतुर्दशी तिति विशिष्ट साधक वा अधिकारी हो नहीं सके हैं! तब किस साहस से तुम्हारे अति गहन चंडी-तत्व में प्रवेश करेंगे मा! साहस है। तुम मा हो! हम तुम्हारी सन्तान हैं! इससे अधिक और क्या बल—क्या साहस रह सकता है? हम जानते हैं—मा कहकर पुकारते पुकारते चंडी तत्व में बार-बार प्रवेश करने का उद्यम करते-करते ही उपयुक्त अधिकारी होंगे और उसके बाद यथार्थ साधन-समर में जय लाभ करेंगे, सिद्ध होंगे! यही हमारी अमोघ आशा है।

देवीकवच

मातृ-अनुभूति

कवच—अङ्ग रक्षक। जिसको पहन कर शत्रु के चलाये हुए अस्त्रादि से आत्म-रक्षा की जाती है, उसे कवच कहते हैं। साधन-समर में प्रवेश करने के लिये, इस कवच से आवृत होकर अग्रसर होना होता है; नहीं तो जय पाने की आशा दुराशा मात्र है। इसीसे कहा गया है कि—"जपेत्-सप्तशतीं चंडीं कृत्वा तु कवचं पुरा। निर्विघ्नेन भवेत् सिद्धिश्चण्डीजपसमुद्भवा"॥ सप्तशती चण्डी पाठ के पूर्व यह कवच पाठ किया जाता है। जो इस कवच द्वारा आवृत हो सकते हैं; वे ही निर्विघ्नता से चण्डी-जप से उत्पन्न सफलता वा सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

इस कवच में भिन्न-भिन्न अङ्ग प्रत्यङ्गादि का उल्लेख है और उन

स्थानों की रक्षा करने के लिये मा के भिन्न-भिन्न नाम स्मरण पूर्वक प्रार्थना का विधान है। यथा—'प्राच्यां रक्षतु मामैन्द्री' इन्द्रशक्ति रूपिणी मा हमारी पूर्वदिशा में रक्षा करें ; किंवा—'शिखां मे द्योतिनी रक्षेत्' प्रकाश-शक्ति स्वरूपा मा हमारी शिखास्थान की रक्षा करें; इसी प्रकार सर्वत्र है। इस में जिन स्थानों का उल्लेख है, मन को केन्द्री-भूत करके उन-उन स्थानों में ले जाना होगा; यथा स्थान में मन परिचालित होकर कुछ काल के लिये एकतानता प्राप्त होने से ही, उन स्थानों में विशिष्ट बोधशक्ति प्रकाशित होगी; कल्पना से नहीं प्रत्यक्ष अनुभव होगी। उस अनुभव पर लक्ष्य करके, मा के भिन्न-भिन्न नाम स्मरण और प्रार्थना करनी होगी। कवच में जिस स्थान में जिस नाम के उच्चारण का विधान है, उसी नाम से मा का जो धर्म्म वा शक्ति का प्रकाश प्रतीति गोचर होता है, उस धर्म्म वा शक्ति का अनुभव करने की चेष्टा करनी होगी। इन नामों से विशिष्ट किसी मूर्ति का ध्यान करने की अवश्यकता नहीं है; केवल उस धर्म्म बोध पर आना ही पर्य्याप्त होगा। जैसे 'खड्गधारिणी'—यहाँ पर खड्ग-धारणकारिणी मूर्ति का ध्यान न करके, दृढ़ हस्त से खड्गादि अस्त्र धारण करने की जो शक्ति है, उस शक्ति को—बोध करना होगा। इसी प्रकार सर्वत्र है।

जो जगत्मय सत्यप्रतिष्ठा में अभ्यस्त अथवा गुरुदत्त विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा मन को केन्द्री भूत करने में अभ्यस्त हुए हैं, उनके पक्ष में इस बोधशक्ति का परिचालन करना अनायास—साध्य है। ऐसा न होने से भी कोई व्यक्ति साधारण यत्न के फल से, इस कवच में सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अपने शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्ग प्रत्यङ्गमें बोधशक्ति ले जाने और उस बोध-शक्ति को मातृ-शक्ति रूप से अनुभव कर सकने से ही कवच—पाठ की यथार्थ सार्थकता प्राप्त की जाती है। इससे यह न समझना कि इस कवच के शेष भाग में जो फलश्रुति है, वह स्तुतिवाक्यमात्र है। उसके वर्ण वर्ण में सत्य भरा

हुआ है। अन्य फलों का लाभ हो वा न हो, उसे परीक्षा करने का समय और सुयोग न होने पर भी, 'नश्यन्ति व्याधयः सर्वे' शारीरिक व्याधियों का नाश तो अवश्य ही होता है, यह अनेक लोगों ने परीक्षा कर देखा है। केवल शारीरिक स्वास्थ्य लाभ ही नहीं, साथ ही साथ मानसिक बल और आध्यात्मिक गति की उत्कर्षता—प्राप्ति भी अवश्यम्भावी है। यहाँ पर एक बात और भी कह देते हैं कि रामकवच, सूर्य्यकवच, श्रीकृष्णकवच, कालीकवच इत्यादि भिन्न-भिन्न देव देवियों के कवचों में से, चाहे कोई भी कवच पूर्वोक्त नियम से पाठ करने पर भी वे सब फल प्राप्त होते हैं; इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। तब फिर देवी कवच में जितना अधिक अङ्ग प्रत्यङ्ग का उल्लेख है, अन्य कवचों में उतना नहीं है। अस्तु, जो लोग चण्डी पाठ का यथार्थ फल—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष फल का अभिलाषी हैं, उनके लिये कवच पाठ अत्यन्त आवश्यक है; कारण कि इसके द्वारा निर्विघ्नता पूर्वक साधन-समर में जय प्राप्त किया जाता है। इस कारण नियम पूर्वक पाठ करना होगा; अन्यथा आशानुरूप फल प्राप्ति का मार्ग दूरतर जा पड़ेगा।

देवी सूक्त, अर्गला, कीलक और देवी कवच ये साधन-समर में वा चण्डी-तत्व में प्रवेश करने के पूर्व संग्रह हैं। यह उद्योग-पर्व जिसका जितना सुन्दर, शृङ्खलापूर्ण और दृढ़ यत्न पूर्वक अनुष्ठित होता है, उसकी सिद्धि प्राप्ति वा आध्यात्मिक गति भी उतनी ही सुन्दर, शृङ्खलापूर्ण और द्रुततर होती है। तो जबतक हमारे पूर्ववर्ती अनुष्ठानों का भली-भाँति निर्वाह नहीं होता है, तबतक क्या हम चण्डी पाठ से विरत रहेंगे? नहीं, सो नहीं; पुनः पुनः अनुशीलन से, पुनः पुनः चण्डी पाठ करते-करते हम एक दिन देख पावेंगे कि पूर्व आयोजन किसी न किसी अज्ञेय शक्ति के प्रभाव से प्रायः हमारी अज्ञात दशा में ही सुसम्पन्न हो उठे हैं; तब ही हम चण्डी का ठीक-ठीक रहस्य जान कर माता की कृपा पाकर धन्य होंगे।

प्रथम चरित

ऋषिच्छन्द-उपोद्घात-सूत्र

साधन-समर वा देवीमाहात्म्य में माता के तीन चरित्रों का वर्णन हुआ है, उनमें प्रथम चरित—मधुकैटभ-वध है। इसके ऋषि—ब्रह्मा हैं। जो जिस प्रकार सम्वेदन वा मन्त्र का प्रथम द्रष्टा है, वही उस मन्त्र का ऋषि है। यह मधुकैटभनिधन वा सत्वगुण का प्रलय विराट् मन में ही संघटित होता है; इसी से सृष्टिकर्त्ता वा ब्रह्मा इस चरित का प्रथम दर्शक है। उपाख्यान में भी देखा जाता है कि ब्रह्मा ही मधुकैटभ-निधन का प्रथम हेतु है।

महाकाली—देवता। प्रलयङ्करी तामसी मूर्ति के अङ्क में ही सत्वादि गुणों का अन्त है। यह कालशक्ति के ऊपर अवस्थिता है; इसी से महाकाली है। गायत्री-छन्दः। प्राण-प्रवाह का स्पन्दन ही छन्दः है। इस प्रथम चरित में प्रविष्ट साधक के प्राणों का स्पन्दन वा प्राणायाम ठीक वेदमाता गायत्री के तुलयरूप ही होता है, इसी से गायत्री इसका छन्दः है। नन्दा वा ह्लादिनी इसकी शक्ति है। रक्त दन्तिका—अर्थात् परा प्रकृति का रक्तवर्ण रजोगुणात्मिका चित् इसका बीज है। रजोगुण की क्रिया-शीलता द्वारा ही सत्वगुण प्रलयाभि-मुखी होता है। साधक गण मन में याद रक्खें, चण्डी-तत्व ही परा प्रकृति का विलय है। अपरा प्रकृति का जहाँ आदि विन्दु है वा सत्वगुण का उन्मेष जहाँ है, परा प्रकृति का वही चरम विन्दु है।

अग्नि वा तेजस्तत्व में ही विशिष्ट सर्वभाव का प्रलय होता है; इसी से अग्नि ही इसका तत्व है। मणिपुरचक्र वा नाभिकमल इस का स्थान है। यह ऋक् वेद स्वरूप है। 'श्रुति है' वागेवर्क्। वाक् वा नाद

ही ऋक् है। वाक् प्राणशक्ति का ही विशिष्ट प्रकाश है। दूसरी श्रुति कहती है—'अग्ने ॠचो' अग्नि वा तेज से ही ऋक् का वा वाक्य का आविर्भाव है। नाद वा शब्द रूप से शक्ति का विकाश हुए बिना जप नहीं होता। महाकाली की प्रसन्नता के लिये अर्थात् प्रलयङ्करी तामसी मूर्ति में साधक की प्रीति वा आसक्ति के लिये ही इस प्रथम चरित के जपरूप कार्य्य में इसका विनियोग है।

साधन-समर वा देवी माहात्म्य

प्रथम अध्याय।

ब्रह्मग्रन्थि भेद।

ॐ नमश्चण्डिकायै।

चण्ड-मूर्ति मातृकाचरण में प्रणाम।

जीव! साधक! तुम मा की चण्डमूर्ति दर्शन करना चाहते हो! क्या तुमने एकदिन के लिये भी मा की स्नेह करुणाभार-नम्रा मूर्ति देखी है? एकदिन के लिये भी क्या मा के रक्त-चरणों में कृतज्ञता की पुष्पाञ्जलि अर्पण करके, अपने को धन्य समझा है? एकदिन के लिए भी क्या कातर-प्राण से मा मा कह कर, अश्रुसिक्त नयन से मा के चरणों पर लोटे हो? क्या एकदिन के लिये भी "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं" कह कर गुरु-रूपिणी मा के अभय चरणों में शरण ली है? क्या एक दिन के लिये भी मा को अपने हृदय-राज्य के अच्युत सारथी कह कर समझ सके हो? क्या एक दिन के लिये

भी मा को अपने चिरजीवन का एकान्त सुहृद, बन्धु और सखा कहकर स्नेह के आलिङ्गन से आवद्ध होने के लिये भुजायें फैलायी हैं ? क्या एकदिन के लिये भी मा का विश्व-रूप दर्शन करने में सत्यप्रतिष्ठ हुए हो ? क्या एक दिन के लिये भी माता के श्री मुख-बिनिर्गत "सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज" यह मधुमय अभय बाणी श्रवण कर कर्णकुहर पवित्र किये हैं ? यदि तुम्हारे जीवन में अन्ततः एक मुहूर्त के लिये भी यह सब शुभ संघटन हुआ है, तब ही तुम अपनी मा की चण्डिका मूर्ति दर्शन के अधिकारी हो।

भगवद्गीता माता के हिरण्यमय मन्दिर की अक्षयभित्ति है, मनोमय कोष की साधना है, एवं चण्डी वा देवीमाहात्म्य उसके ऊपर स्थित अतुलनीय प्रासाद (महल) विज्ञानमय कोष की साधना है। जिस प्रकार सोपान श्रेणी अतिक्रम करके बहुत ऊंचे मन्दिर में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार गीतोक्त सातसौ मन्त्रों की साधना से सिद्धि प्राप्त करके चण्डीरूप मुक्तिमन्दिर में प्रविष्ट होने होता है। जो लोग गीता के बुद्धियोग में अभ्यस्त हैं, वेही देवी माहात्म्य दर्शन के अधिकारी हैं। चण्डी क्या है, उसको भाषा में व्यक्त करना असम्भव है। चण्डी मातृ मिलन के तीन तरङ्ग है। सच्चिदानन्द-समुद्र में अवगाहन करने के बाद, जो तीन तरङ्ग आकर जीवत्व की तीन अच्छेद्य ग्रन्थि सम्यक् उच्छेद कर देते हैं, वही चण्डी के तीन रहस्य हैं। भगवद्गीता में, ब्रह्म-समुद्र में अवगाहन और चण्डी में निरवशेष मिलन परिव्यक्त हुआ है। जीव जब पूर्णभाव से मातृ कर्तृत्व में विश्वासवान होता है, जब जीव कर्तृत्व सम्यक् भाव से मातृचरण में उत्सर्ग करता है, तब वह देखता है कि "मा हमारे हृदय रूप रणक्षेत्र में चण्डमूर्ति से स्वयं आविर्भूत होकर, मुक्तिमार्ग के विघ्नरूप दुरपनेय संस्काररूपी असुरों को अपने हाथ से विनाश करके, अपने अङ्ग में मिला लेती हैं।" उस महामिलन के समय जो प्रवाह अपने आप आता है, वही देवी माहात्म्य में असुर निधन रूप से वर्णित हुआ है।

सञ्चित, प्रारब्ध और भविष्यत् ये तीन प्रकार के कर्म्म-संस्कार वा बासना बीज ही मुक्ति के विघ्न हैं। सूक्ष्मदर्शन से ये सत्व, रज और तमोगुणरूप से परिचित हैं। ये ही ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि नाम से प्रसिद्ध हैं, जबतक यह ग्रन्थि भेद नहीं होता, तब तक बारम्बार जन्म मृत्यु की पीड़ा भी दूर नहीं होती। केवल मा को देखने से इन ग्रन्थियों का उच्छेद होता है। "भिद्यते हृदय-ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" मातृचरण में आत्म समर्पण करने के बाद साधक देखते हैं कि उनकी इस हृदयग्रन्थि का सम्यक् उच्छेद करने के लिये, मा स्वयं चण्डिका मूर्ति में आविर्भूता हुई है। एक एक ग्रन्थिभेद करते समय साधकों के हृदय में मा जैसे भाव से आत्मप्रकाश करती है, वही चण्डी का एक एक रहस्य है। प्रथम—मधुकैटभवध वा ब्रह्मग्रन्थिभेद, द्वितीय—महिषासुरवध वा विष्णुग्रन्थि भेद, तृतीय—शुम्भवध वा रुद्रग्रन्थि भेद। यह सब तत्व यथास्थान विशदभाव से आलोचित होंगे।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति जबतक अनुलोमगति वा वहिर्मुखी शक्ति का विकाश करती है, तबतक जीव इस तत्व को हृदयङ्गम नहीं कर सकते। जब विलोमगति वा अन्तर्मुखी शक्ति का विकास होता है, धीरे-धीरे गति परमात्माभिमुखी होती है अर्थात् शक्तिप्रवाह स्थिरत्व अभिमुखी होने लगता है, तब ही जीव के हृदय में यह देवा-सुर-संग्राम आरम्भ होता है; तब जीव प्रत्यक्ष करता है—मा स्वयं समर-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर सुर-विरोधी भावों को समूल विलय कर रही है। मा की इच्छा पुत्र को सर्व भावों से मुक्त करके—शुद्ध पवित्र मुक्त करके, अपने में मिला लें। पुत्र स्नेहविमूढ़ा मा, उनकी इच्छा मुझको एकत्व में उपनीत करे—अपने वक्ष पर स्नेहालिङ्गन से आवद्ध कर रखे और मैं चाहता हूं कि सर्वभाव से खेला करके, जगत् की धूल शरीर में मल कर बारम्बार जन्म-मृत्यु की पीड़ा से पीड़ित हो। परन्तु वह मा! कब तक हमको कठपुतली का खेल

खेलते देखकर निश्चिन्त रहेगी ? इसी से मा जब इस हमारी बड़ी इच्छा के तिन खेलाघरों को भङ्ग कर देने का उपक्रम कर देती है—जब हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण-देह का विलय करने के लिये विशेष भाव से आविर्भूता होती है; तब ही चण्डीमूर्ति से मा का प्रकाश होता है।

चण्ड शब्द का अर्थ—अत्यन्त कोपन। मातृस्नेह से विमुग्ध सन्तान ही माता की चण्डिका मूर्ति दर्शन करने में समर्थ है; कारण कि वह प्रतिकर्म में मातृस्नेह का विकाशमात्र देख पाते हैं। जन्म-मृत्यु में, सुखदुःख में, पापपुण्य में, रोग और स्वास्थ्य में सर्वत्र मा की मङ्गलमयी मूर्ति देखकर आत्महारा होते हैं। क्या व्यावहारिक जगत् में, क्या साधन राज्य में, सर्वत्र मा के मङ्गलमय हाथ का अमृतमयस्पर्श अनुभव करके कृतार्थ होते हैं। आनन्दमयी चिन्मयी के वक्ष पर निरानन्द वा ध्वंस कहां! विशेष कर साधक-पुत्रगण माता की चण्डमूर्ति देखने में प्यार करते हैं। जिस मूर्ति से मा हमारे मैं पन को विनाश करने को उद्यता है, जिस मूर्ति में मा हमारे क्षुद्रत्व, परिणामित्व को ग्रास करके जीवत्व के अच्छेद्य बन्धन से सदा के लिये विमुक्त करने को उद्यता है, वह मूर्ति ही साधक पुत्र को अभीष्ट है—प्रिय से भी प्रियतर है। सरल निर्भीक शिशुपुत्र क्या मा की क्रोधमयी मूर्ति देख कर भीत वा संकुचित होता है ? नहीं, और भी द्रुतवेग से दौड़ कर माता की गोद में आरोहण करने का प्रयास करता है ?

जीव! क्या तुम इस जन्म मृत्यु के अलङ्घनीय घात-प्रतिघात से व्यथित हुए हो ? सदा इस घोर चञ्चलतामय जीवन काल को एक उत्पीड़न-मात्र समझ सके हो ? हृदय के अन्तःस्थल से एक मुहूर्त के लिये भी नित्यस्थिरत्व लाभ के लिये आकुल उद्वेलन अनुभव किया है ? क्या तुम काम क्रोधादि रिपुओं के असहनीय अत्याचारों से अपने को सम्पूर्ण जर्जरित, मथित कह कर समझ सके हो ? रोग में शोक में, प्रवल के अयथा अत्याचार में अपने को अत्यन्त दीन आर्त

कहकर अनुभव किया है? यदि किया है—यदि अमृतमय मातृ-अङ्कप्राप्ति की आशा से आशान्वित हो रहे हो, तो आओ, हम मा की चण्डिका मूर्ति के सन्मुख उपस्थित हों, और दूर से खड़े होकर—माता की गोद में आरोहण कर देखें कि किस प्रकार से मा हमारे सब बन्धन छिन्न करके, हम को मुक्ति मन्दिर में उपनीत करती है—अपने अङ्ग में मिला लेती है। जब देखोगे कि हमारे क्षुद्र निःश्वास से आरम्भ करके निर्वाण वा मोक्ष पर्यन्त प्रत्येक कार्य्य मा की मङ्गलमयी महती इच्छा से अङ्गुली के इशारे पर सिद्ध होता है; केवल तब ही साधक, तुम हृदय खोलकर, हर्षोत्फुल्ललोचन से दोनों बाहें उठाकर 'जय मा, जय मा,' कहते कहते, हमारे मा की चण्डमूर्ति के समीपस्थ होने में समर्थ होगे। तब देखोगे कि तुमको कुछ भी नहीं करना होता है। तुम्हारे समस्त कार्य्य, समस्त साधनायें तुम्हारे बिना जाने अचिन्तनीय उपाय से मा स्वयं सम्पन्न कर रही है, तब ही समझ सकोगे कि मा की इस अभावनीय अनन्त लीला में तुम निमित्तमात्र हो। तब फिर साधक! तुमको भय क्या; आओ, हम चण्डमूर्ति-मातृका चरणों में प्रणाम करके अग्रसर हों, मा के सन्मुख खड़े हों—फिर देखें कि वह किस प्रकार हमारे मैं पन के बन्धन को छिन्न करके, अपने "अणोरणीयान् महतो महीयान्" मैं पन में सदा के लिये मिला लेती है॥

॥ ॐ ॥

मार्कण्डेय उवाच ।

मार्कण्डेय बोले ।

कहा जाता है कि पूर्वकाल में व्यासजी के शिष्य महातेजा जैमिनि मुनि, महर्षि मार्कण्डेय के निकट प्रसङ्गक्रम से देवीमाहात्म्य सुनने के अभिलाषी हुए थे; परन्तु मार्कण्डेय को अवकाश न होने के कारण, उनको विन्ध्याचल-निवासी चार पक्षियों के निकट चण्डी-तत्व सुनना पड़ा था। पूर्व मार्कण्डेय मुनि ने जिस प्रकार देवी-माहात्म्य क्रोष्टुकि मुनि से कहा था, पक्षियों ने ठीक उसी भाव से मार्कण्डेय के मुख की कथा जैमिनि को सुनाई थी। इसी से, इस स्थल में 'मार्कण्डेय उवाच' कहा गया है। मार्कण्डेय-प्राज्ञपुरुष वा प्रज्ञाचक्षु—एवं जैमिनि विश्व वा जीव।

मार्कण्डेय—सप्तकल्पान्तजीवी—अमर। जीव जब अपना अमरत्व समझ सकता है; जब चैतन्य को, प्राण को नित्य, स्थिर ध्वंस और उत्पत्ति रहित अनुभव कर सकते हैं; जब भूत भविष्यत् वर्तमान त्रिकाल, नखदर्पण में प्रतिविम्बित चित्र की भांति प्रत्यक्ष करने में समर्थ होते हैं; जब मृत्युञ्जय विज्ञानमय गुरुरूपी महादेव की कृपा से जीवत्व से—कालपाश से मुक्त होकर प्रज्ञाक्षेत्र में पहुँचते हैं, तब ही जीव मार्कण्डेय अर्थात् प्राज्ञ वा अमर होते हैं। तब ही कर्म्मपरायण नियत परिणामशील संशयपूर्ण जैमिनिरूपी स्थूलाभिमानी विश्व को इस अघटनघटनपटीयसी महामाया का महाशक्तिरहस्य वर्णन करने में समर्थ होते हैं। इसी से, हम चण्डी के षट्संवाद में देखते हैं कि मार्कण्डेय—जैमिनिसंवाद में देवीमाहात्म्य वर्णित हुआ है।

ऐसी आध्यात्मिक व्याख्या देखकर, कोई इस भ्रम में न पड़ जाय कि मार्कण्डेय अथवा जैमिनि नामक कोई ऋषि थे ही नहीं, अथवा चण्डी का उपाख्यानभाग रूपकमात्र है। रूपक के बहाने

स्वल्प बुद्धि मानव के निकट आध्यात्मिक रहस्य वर्णन करना ही इस समस्त पुराण का अभिप्राय है; यह बात हम कभी नहीं कह सकते। क्योंकि दर्शन तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। वृक्ष के शाखा-पल्लवादि विशिष्ट एक पाञ्चभौतिक पदार्थ रूप से जबतक देखा जाता है; तबतक वह आधिभौतिक दर्शन है। जब देखा जाता है कि एक चैतन्यसत्ता ही वृक्ष के आकार में प्रकाशित होती है, तब उसको आधिदैविक दर्शन कहा जाता है; कारण कि वृक्षाधिष्ठित चैतन्य वा देवता को लक्ष्य करके ही उक्तदर्शन-व्यापार सिद्ध हुआ है। और जब जीव का योगचक्षु वा तृतीय नेत्र गुरु कृपा से खुल जाता है, तब वह देखता है कि आत्मा अर्थात् 'मैं' ही वृक्षाकार से प्रकाशित हूं; इस दर्शन का नाम आध्यात्मिक-दर्शन है। जीव का ज्ञान इस तीन प्रकार के स्तर में विचरण करता है; इस कारण जगत् की प्रत्येक वस्तु वा घटना में यह तीन प्रकार ज्ञान का विकाश अवश्यम्भावी है। कोई देखता है कि नदी का स्रोत बहा जाता है; कोई देखता है कि स्वामी के साथ—समुद्र के साथ मिलने के लिये नदी द्रुतवेग से छूटती है; फिर कोई देखता है कि हमारा ही आत्मा—हमारा ही प्राण—हमारी मा स्नेहतरल प्रवाह-रूप से अवस्थान करती है। इनमें से कोई भी भ्रान्तदर्शी नहीं है, सब ही सत्यदर्शी हैं। ज्ञान जब जिस स्तर में विचरता है, तब उसी स्तरोपयोगी अनुभूति का विकाश होता है। तब यह स्थिर जो स्थूल में—भौतिक जगत् में अर्थात् आधिभौतिकभाव में एक पदार्थ वा घटना मात्र है, वही सूक्ष्म में चैतन्य राज्य में वा आधिदैविक भाव में विशिष्ट चैतन्य के प्रकाश रूप से प्रतिफलित होता है। फिर वही कारण में आत्म क्षेत्र में अर्थात् आध्यात्मिक भाव में, केवल आत्म रूप से—'मैं' रूप से ही प्रतीतिगोचर होता है। जिसने जिस प्रकार के चक्षु पाये होंगे—जिसका ज्ञान स्वभावतः जैसे स्तर में विचरणशील, वह उसी प्रकार का अर्थ ही ग्रहण करेंगे। भाव यह है कि साधारण दृष्टि से स्थूल में जिसका प्रत्यक्ष होता है, चक्षुष्मान् व्यक्ति

इसी को सूक्ष्म और कारण पर्यन्त अविकल भाव से (ज्यों का त्यों) देखते हैं। इसी से कहावत है कि 'जो ब्रह्माण्ड में है, वही भाण्ड (देह) में है'। स्थूल और सूक्ष्म केवल मात्रा वा परिमाणगत वैषम्य है, वस्तुगत वा तत्वगत दोनों ही अभिन्न है।

इसी कारण यहाँ पर विशेषभाव से स्मरण करा देना आवश्यक है कि चण्डी का उपाख्यानभाग रूपकमात्र नहीं है; वह बिलकुल सत्य घटना है। फिर जीव शिक्षा के लिये—स्थूल में भौतिक राज्य में जो अनुष्ठित होता है, वही चैतन्य क्षेत्र वा आत्म राज्य में तुल्यरूप से प्रति जीव के हृदय में संघटित होता है। जीव जगत् में स्थूल, सूक्ष्म और कारण में ऐसी ही कुछ शृङ्खला है, ऐसा ही कुछ अलङ्घ्य नियम विराजित है। ऐसे किसी जीवनमुक्त साधक का नाम आज तक सुनने में नहीं आया, अथवा हो नहीं सकता कि जिसके हृदय में कुरुक्षेत्र समर-गीतातत्व अथवा देवासुर संग्राम—चण्डीतत्व विकाश प्राप्त न हुआ हो। परन्तु कोई कोई साधक ऐसा लक्ष्य करते करते अग्रसर होते है, फिर कोई लक्ष्यस्थान में पहुँच कर, जीवन की अतीत घटनाओं की ओर दृष्टिपात करके, देख पाते हैं कि वह प्रायः अज्ञात सार में गीता और चण्डी-तत्व में होकर आये हैं। अस्तु, हम प्रधानतः आध्यात्मिक और आधिदैविक रहस्य जानने ही के लिये चण्डी-तत्व में अवगाहन (प्रवेश) करेंगे। मा हमारे प्रज्ञानेत्र उन्मीलित कीजिये (खोल दीजिये) हमारे हृदय में चण्डीतत्व प्रकाशित हो, और हम कृतार्थ हों।

सावर्णिः सूर्य्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः ।
निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम ॥ १॥

अनुवाद—जो अष्टम (अष्टसिद्धीश्वर—अष्टपाश विमुक्त) मनु नाम से कहा जाता है, वह सूर्य्यतनय सावर्णि है। उसकी उत्पत्ति का विवरण मैं विस्तार पूर्वक वर्णन करता हूँ, तुम अवहित चित्त से श्रवण करो।

व्याख्या—सूर्य्य—जगत् प्रसविता, प्राणशक्ति का एकमात्र आधार है। जो वरणीय भर्ग वा ब्रह्मज्योति अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में सम्यक्-भाव से ओत प्रोत है, उसी का विशिष्ट विकाश क्षेत्र सूर्य्य है; इसीसे ब्राह्मण लोग त्रिसंध्या में गायत्री मंत्र से उस वरणीयभर्ग की उपासना करते हुए, सूर्य्य को ही प्रतिनिधि स्वरूप से ग्रहण करते हैं। प्रति श्वास प्रश्वास में, प्रति वाक्यव्यय में, प्रत्येक इन्द्रिय-सञ्चालन में, प्रत्येक चिन्ता में हमारी जो प्राणशक्ति का व्यय होता है, एक मात्र सूर्य्य से ही उसे हम फिर प्राप्त करके अपना अस्तित्व जाग्रत रखने में समर्थ होते हैं। इसीसे क्या वहिर्जगत में, क्या अन्तर्जगत में, क्या साधना-क्षेत्र में, एक मात्र सूर्य्य ही जीव का सर्वप्रधान आश्रय और अवलम्बन है। गर्भस्थित शिशु जिस प्रकार नाभि से मिली हुई नाड़ी (नाल) द्वारा मातृभुक्त अन्नादि के रस प्रवाह से पुष्ट होता है, उसी प्रकार हमारी नाभिचक्र में वा मणिपुर केन्द्र में सूक्ष्म सूत्ररूपी ज्योतिर्धारा के आधार से सदा सूर्य्य से प्राण-शक्ति रूप रस प्रवाह आता हैं, उसी के फल से हम (जीव) जीवित रहते हैं। जीव मनुष्यत्व प्राप्त करने से समझ सकते हैं कि परिदृश्यमान सूर्य्य ही उनके पितृस्थानीय है।

सावर्णि—सवर्णा का पुत्र। सवर्णा का दूसरा नाम सरण्यु है। वेद में यह सरण्यु नाम से ही वर्णित हुई है। सवर्णा—सूर्य्यशक्ति। यह ऐशीशक्ति की हो प्रतिनिधि है। सूर्य जिस प्रकार ब्रह्मज्योति का

विशिष्ट प्रतिनिधि है, सवर्णा वा सौरशक्ति उसी प्रकार ब्रह्मशक्ति की विशिष्ट प्रतिनिधि है। इसी शक्ति के प्रभाव से यह भूतधात्री वसुन्धरा और अनन्त ग्रहमाला, सूर्य्य मण्डल के चारों ओर परिभृत होकर, महाशून्य में अवस्थान करती हुई अपने अपने अवयव-परिवर्तन रूप प्रणाम करती करती उस वरणीय भर्ग-प्रतिनिधि सूर्य्यदेव की प्रदक्षिण करती है। इस महीयसी शक्ति के प्रभाव से जीवसङ्घ अपना अपना अस्तित्व अखण्डित रखकर, ब्रह्मत्व—महत्व की ओर अग्रसर हो रहा है, मनु इस महीयसी सौर शक्ति ही के गर्भ से उत्पन्न हैं; इसी से सावर्णि नाम से अभिहित हैं।

मनु—मन् धातु से मनु शब्द सिद्ध हुआ है। मन्धातु का अर्थ बोध वा ज्ञान है। जब जीव भावापन्न कल्पित शिशु-चैतन्य वा क्षुद्र ज्ञान, समष्टि-मानव-चैतन्य रूप से प्रदीप्त होता है, तब ही वह मनु कहा जाता है। जिस प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का समष्टि-चैतन्य हिरण्यगर्भ है, उसी प्रकार समग्र मनुष्य जाति का समष्टि-चैतन्य मनु है। इस मनु चैतन्य का प्रत्येक कल्पित अणु ही व्यष्टि मनुष्य रूप से प्रकाशित है; इसी से मनुष्य को मनुज कहा जाता है। और भी स्पष्ट कहते हैं—प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में 'मैं मानुष हूँ' ऐसा एक बोध सर्वदा उदीप्त रहता है, उस बोध का नाम व्यष्टि मनुष्य है। समग्र मानव जाति जिस चैतन्य से परिभृत वा अवस्थित है, वह समष्टि मानव चैतन्य वा मनु है। वह जबतक 'मैं मानुष हूँ' इस बोध में जाग्रत रहती है, तब तक ही हम अपना अपना मानवत्व अनुभव करने में समर्थ हैं। जिस प्रकार हमारी देह में स्थित असंख्य कीटाणु हमारे ही चैतन्य से सचेतन हैं उसी प्रकार समग्र मानव-जाति मनु चैतन्य की सत्ता से सत्तावान है; तात्पर्य्य यह है कि भगवान् मनु को ही मनुष्य जाति का साक्षात् सम्बन्ध में पिता कहा जाता है। इसी से मनु को प्रजापति और ब्रह्मा को पितामह कहा जाता है। मनु ही ब्रह्मा का आत्मज वा प्रथम सृष्टि है। साधनाबल से मनुष्य जब यह

मनुत्व प्राप्त कर लेता है, तब देखता है कि वह एक मात्र जगत् प्रसवित्री सूर्य्यशक्ति सवर्णा के अङ्क में नित्य अवस्थित है। इसी से मनु को सूर्य्यतनय सावर्णि कहा गया है।

मनुष्य! तुम क्या अपने व्यष्टिभावापन्न क्षुद्र मानव चैतन्य को मनुत्व में वा समष्टिरूप महान् मानवचैतन्य में जाग्रत करने के प्रयासी हुए हो? क्या तुम क्षुद्र और परिणामी ज्ञान की सीमा उल्लंघन करके, एक विशाल आनन्दमय ज्ञान में उपनीत होना चाहते हो? क्या तुम मनुजत्व परित्याग करके, मनुत्व प्राप्त करने के अभिलाषी हुए हो? क्यों न होओगे! इस मनुष्य क्षेत्र में अवस्थित तुम्हारा ज्ञान जो क्षण क्षण में विषयरूप में परिणत न होकर—क्षुद्रत्व के आधार स्वरूप लाठी के सहारे बिना स्थिर नहीं हो सकता। तुम जो प्रति मुहूर्त में जन्म-मृत्यु भय से शङ्कित हो, प्रति मुहूर्त में चञ्चलता की पीड़ा से पीड़ित हो, सो तुम क्या स्थिरत्व और महत्व का सन्धान किये बिना रह सकते हो! निश्चला निर्विकल्पा श्रीकृष्ण रूपिणी अपनी माता के प्रबल आकर्षण से आकृष्ट होकर, एक दिन इस सङ्कीर्णतारूप सीमा से बाहिर जाने के लिये तुम्हारी प्रबल वासना अवश्य ही जागेगी; कारण कि स्थिरत्व और महत्व ही तुम्हारा अव्यय स्वरूप है! उस नित्य स्थिरत्व को प्राप्त कर लेने पर तुमको मनुजत्व छोड़ कर मनुत्व में पहुँचना होगा। कब तुम मनुजत्व त्यागने में समर्थ होगे, उसका सङ्केत पूर्व ही दिया हुआ है। जीव! जब तुम सावर्णि सूर्य्यतनय हो सकोगे अर्थात् अपने को वरणीय भर्ग और तदधिष्ठिता महीयसी जगद्विधात्री ऐशीशक्ति की गोद में सदास्थित और परिपुष्ट होते हुए समझ सकोगे। जब तुम "नमो विवस्वते" कहने पर सौरशक्ति सवर्णारूपिणी मा के स्नेहमय स्पर्श से मुग्ध होओगे, जब तुम "भर्गो देवस्य धीमहि" कहकर अमृत स्रावी अनन्त ज्योतिस्तरङ्ग में निमग्न होकर आत्मद्वारा होओगे। जब तुम "तत्त्वं पूषण्णपावृणु सत्य धर्म्माय दृष्टये" कहकर सूर्य्य में सत्य-प्रतिष्ठा करके सत्यदर्शी ऋषि की भाँति

महासत्य के आभास तरङ्ग में सम्वेदित होओगे, जब तुम "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" कहकर वैदिक युग के ब्रह्मर्षियों की भाँति सूर्य्य में आत्मप्राण सम्प्रतिष्ठ देखकर जीवभाव सम्यक् रूप से भूल सकोगे, तब ही तुम मनुजत्व त्याग पूर्वक मनुत्व लाभ के अधिकारी होओगे। साधक ! तुम यह न समझ लेना कि यह होना तुम्हारे लिये बिलकुल असम्भव है। ब्रह्मदर्शी ऋषि जिस अव्यय सरल मार्ग का आविष्कार कर गये हैं; उस मार्ग पर गुरुपदिष्ट उपाय से शनैः शनैः अग्रसर होते रहने से, इसे मनुष्यमात्र ही प्राप्त कर सकते हैं।

हमारे देव कार्य्यादि में आसन शुद्धि नाम से जो एक अनुष्ठान प्रचलित है, उसको अवलम्बन करके ही इस सौरशक्ति अनुभव के मार्ग पर आगे बढ़ने होता है। वर्तमान में वह आसनशुद्धि एक मन्त्र पाठमात्र व्यापार में ही समाप्त है, इसीसे उसका यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता। अस्तु, यहाँ पर हम वह मन्त्र और उसका साधन रहस्य उल्लेख करते हैं :—

"पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वञ्च धारय मां नित्यं पवित्रं कुरु चासनम् ॥"

साधक ! मानलो कि तुम एक गोलाकार फुटबाल की भाँति पृथिवी की पीठ पर बैठे हुए हो। जिस भाव से बैठने पर, कुछ देर तक स्थिर भाव से बैठ सकते हो, उसी भाव से बैठो। 'समकाय-शिरोग्रीव' हो, अर्थात् मेरुदण्ड ठीक सरलभाव में रक्खो। फिर धारणा करो कि तुम्हारे ऊपर नीचे, दायें बायें, आगे पीछे सर्वत्र महाशून्य विराजमान है। महाकाश मण्डल में तुम पृथ्वीरूपिणी मातृवक्ष पर बैठे हो। सामने सूर्य्यदेव महाशून्य में अवस्थित हैं। उन्हीं के स्नेहमय आकर्षण से पृथ्वी के ऊपर तुम धृत हुए हो। मानो पृथ्वी तुमको ही वक्ष पर धारण किये हुए सूर्य्य की प्रदक्षिणा करती है। इस दशा में उक्त मंत्र चैतन्यमय करके पाठ करोगे। उसका अर्थ—हे पृथ्वी रूपिणी मा ! तुम्हारे द्वारा ये लोक समूह धारण हो रहे हैं, और

तुम इस सन्मुखवर्ती सूर्य्यरूपी विष्णुद्वारा धारण हो रही हो। मा! तुम मुझे धारण किये रहो और मेरा आसन पवित्र कर दो; इस प्रकार अनुभव करके, प्रतिदिन सौर-ज्योति में स्नान करके, सूर्य्य में सत्य और प्राण प्रतिष्ठा करके, ज्योतिर्म्मय व्योममण्डल में स्थिर रहने का अभ्यास करो। कुछ दिन ऐसे अभ्यास के फल से तुम देखोगे कि तुम्हारे अन्तर में, बाहिर में चैतन्यमय ज्योति के सिवाय और कुछ भी प्रकाशित न होगा। क्रम से जब उस अनन्तव्यापी चिन्मय ज्योतिर्मण्डल में आत्महारा हो जाओगे, तब ही तुम समझ सकोगे कि तुम सौरशक्ति की गोदी में बैठे हुए हो। फिर धीरे-धीरे "मैं मानुष हूँ" इस बोध के समीपस्थ होकर महती धी-शक्ति रूपिणी सवर्णा की अतुलनीय कृपा की प्रार्थना करो, एवं जिस विराट् मनु चैतन्य से वह क्षुद्र बुद् बुद उठते हैं, वह "मैं मानुष" रूप ज्ञान उसी में मिला देवें। तब ही इस मनुत्व का आभास अनुभव कर सकोगे।

इस मनुत्व के प्राप्त कर लेने से हमारा क्या होगा? हम अष्टम होंगे। अष्टम क्या? "अष्टौसिद्धयः ऐश्वर्य्याणि वा मीयन्ते अस्मिन् इति अष्टमः"। जहाँ अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य्य सम्यक् परिमित होता है, वही अष्टम है। जीव जब यह मनुत्व प्राप्त करता है, तब अणिमा लघिमा आदि सिद्धि उसके आयत्ताधीन हो जाती हैं। इधर ज्योंही यह आठ प्रकार का ऐश्वर्य्य पाकर जीव भगवत् स्वारूप्य अनुभव करता है, त्योंही दूसरी ओर घृणा, लज्जा, भय, निन्दा आदि आठ प्रकार के पाश (बंधन) से जीव मुक्त हो जाता है। इसी से मनु को अष्टम कहा गया है।

मुमुक्षु साधक जिन तीन अवस्थाओं को भीतर से मुक्ति प्राप्त करता है, हमारी माता ने देवीमाहात्म्य के प्रारम्भ में ही उसकी सूचना दी है। मनुजत्व से मनुत्व और मनुत्व से ब्रह्मत्व, यह तीन प्रकार की अवस्था एक के बाद दूसरी माता की कृपा से साधक के सन्मुख अपने आप उपस्थित होती हैं। देवत्वस्तर मनुत्व और

ब्रह्मत्वस्तर के अन्तर्गत होने से यहाँ पर उसका पृथक् भाव से उल्लेख नहीं किया गया है। पिता की गोदी में स्थित शिशुपुत्र जिस प्रकार निर्भय होकर ताली बजाकर सहचरों के साथ हंसता हंसता अङ्ग प्रत्यङ्ग सञ्चालन रूप आनन्द क्रीड़ा करके अनिर्वचनीय सुख अनुभव करता है, उसी प्रकार जीव जब समझ सकता है कि हम पितृरूपी मनु की गोद में सदा अवस्थित हैं, हमारे जन्म मृत्यु, रोग शोक, बाल्य यौवन बुढ़ापा आदि अवस्थाओं का चाहे कुछ भी परिणाम क्यों न हो, मैं अपने आनन्दमय पिता की गोदी में स्थित हूं। फिर चाहे क्षुद्र हूं, चाहे दीन होऊँ, चाहे पाप के अन्ध तमसाच्छन्न गहरे कूप में पड़ा हूँ, चाहे अविश्वासी होऊँ, चाहे श्रद्धाहीन होऊँ, चाहे अज्ञानान्ध हूँ, "मैं अपने आनन्दमय पिता की गोदी में सदा बैठा हुआ हूँ" जीव जब ऐसा अनुभव करता है, ऐसे आनन्दमय सम्वेदन से दिन रात सम्वेदित होता है, इस प्रकार नित्ययुक्तता जब प्रत्यक्ष अनुभव होती है, तब जीव मर्त्यलोक में रहकर भी अमरत्व के आस्वाद से मुग्ध रहता है और साधारण के पक्ष में सदा दुःखमय इस जगत् को, आनन्दमय रूप से भोग करके अनिर्वचनीय शान्ति प्राप्त करता है। मनुज वृन्द! क्या तुम इस नित्य शान्ति पाने के लिये जागृत हुए हो?

महामायानुभावेन यथा मन्वन्तराधिपः।
स बभूव महाभागः सावर्णिस्तनयो रवेः ॥२॥

अनुवाद—वह रवि तनय महाभाग सावर्णि महामाया की अनुकूल इच्छा से जिस प्रकार मन्वन्तर का अधिपति हुआ था—(उसे श्रवण करो।)

व्याख्या—मनुत्व प्राप्त कर लेने से अष्टम हो जाता है; यह पूर्व कहा गया है। अब फिर एक अलौकिक लाभ की बात कहते हैं—'मन्वन्तराधिपा'। जो अखण्डबोध मनु-चैतन्यरूप से प्रतिभात है, वह समष्टि मानव-चैतन्य में अधिष्ठित हो सकने से, व्यष्टि मानव-

चैतन्य आयत्त्वीभूत होते हैं। मनुष्य जाति मनु के ही अन्तर है; मनु होने से ही मन्वन्तर का आधिपत्य प्राप्त होता है। समग्र मानव-जाति की उत्पत्ति, स्थिति और लय उसी के इशारे पर सिद्ध होते हैं। उस समय वह प्रत्येक मानुष के सूक्ष्म और कारण-देह पर्यन्त प्रत्यक्ष कर सकते हैं। उसके फल से—प्रत्येक मनुष्य के अन्तर छिपी हुई भावराशि दर्शन करने में समर्थ होता है। हम मनुष्य हैं, हमारे अन्तर में कितने ही जन्म जन्मान्तर-सञ्चित संस्कार-राशि छिपी हुई हैं, उन्हें हम प्रत्यक्ष नहीं कर सकते; किन्तु जब हम मनुत्व प्राप्त करें, मन्वन्तर के अधिपति होंगे, तब अपने मन की संस्कार राशि तो देख ही सकेंगे, उसके सिवाय प्रत्येक मनुष्य की अनेक जन्म सञ्चित पाप पुण्य जन्म जाति आयु भोग इत्यादि सब ही प्रत्यक्ष कर सकेंगे। हम कभी-कभी किसी विशिष्ट साधु महापुरुष के निकट उपस्थित होने पर देखते हैं कि वह हमारे मन का भाव कहने से पूर्व ही समझ लेते हैं, यह उस आंशिक मनुत्व पाने का फल है। व्यष्टि मानव मनु के ही अन्तर हैं; उस अन्तर राज्य का आधिपत्य प्राप्त कर सकने से, प्रत्येक मनुष्य के ऊपर अपनी इच्छा शक्ति चला कर, उसकी स्वाभाविक निम्नगति का परिवर्तन और आध्यात्मिक उन्नति-साधन करा सकता है।

केवल महामाया के अनुभाव से—अनुकूल इच्छा से—कृपा से यह मनुत्व प्राप्त किया जाता है। मनुत्व में वा बोधमय क्षेत्र में पहुँचने पर ऐसी प्रतीति होती है कि 'मानो समस्त जगत् हमारे ही अन्तर में अवस्थित है,' यही यथार्थ मन्वन्तर का आधिपत्य है।

महामाया क्या है, इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार दर्शनकार एवं उनके अनुगामी भाष्य और टीकाकारों ने अनेक प्रकार के मत प्रकाशित किये हैं। कोई कहते हैं कि जड़ाप्रकृति है, कोई कहते हैं—मिथ्या भ्रान्ति इत्यादि। इस प्रकार अनेक मत हैं! हम उनका मतवाद उपस्थित करके कूट तर्क के आश्रय से माया का विचार नहीं करना

चाहते; कारण कि हम जानते हैं—'वह' बिचारलभ्य नहीं हैं। हमारा उद्देश्य उनको प्राप्त करना है, हम मातृस्नेह के अभिलाषी हैं, मा का स्वरूप विचारने की हमें क्या आवश्यकता है ? हम जब गर्भधारिणी माता के निकट मा कहकर खड़े होते हैं, तब जिस प्रकार उसके स्वभावका विचार नहीं करते, केवल मा कहकर स्नेह की धारा से अभिषिक्त होते हैं, उसी प्रकार चलो हम अपनी एकान्त आश्रय स्वरूपा महामाया जगत् जननी के सन्मुख माता कह कर खड़े हों—देखें वह किस भाव से हमारे निकट अपना स्वरूप प्रकट करती है और किस भाव से सन्तान को आनन्दमय स्नेहधारा से अभिषिक्त करती है।

हम देखते हैं कि, महामाया ही सत्य है। महामाया के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है, महामाया ही जीव की जननी है। हम उसी के गर्भ से उत्पन्न हैं, उसी के वक्ष पर स्थित हैं, उसी के स्नेहमय ज्ञानस्तन्य से परिपुष्ट होते हैं; फिर उसी की कृपा से माता-पुत्र-सम्बन्ध-रहित एक अद्वितीय स्थिर निरञ्जन सत्ता पर पहुँचेंगे। अर्थात् में सम्यक् भाव से महामाया में मिल जावेंगे। हम जानते हैं—महामाया ही जीव है, महामाया ही ईश्वर है और महामाया ही ब्रह्म है। जहाँ माया नहीं है, वहाँ सत्य भी नहीं है, मिथ्या भी नहीं है; जब तक माया है, तब तक सत्य और मिथ्या दोनों ही हैं; जब तक वाक्य मन इन्द्रिय है, सत् चित् आनन्द है, तब तक माया है। निर्गुण चैतन्य में जब अनेक भाव से व्यक्त होने की इच्छा प्रगट होती है, तब वह चैतन्य ही माया रूप से प्रगट होता है। इन अनेक भावों का बीज गर्भ में धारण करने के कारण ही वह जननी है; फिर जगत् रूप से प्रगटित होकर अर्थात् अव्यक्त बीजों को प्रसव करके, पुनः निर्गुणत्व में पहुँचाने के लिये, स्वयं महती क्रियाशक्ति रूप से प्रगटित होती है, और अपनी गोदी में स्थित जीव जगत् को पुनः एकत्व में-ब्रह्मत्व में प्रलीन करती है; इसी से महामाया सृष्टि स्थिति प्रलय की एक मात्र

अधीश्वरी-जगद्‌विधात्री, जगत्‌पालयित्री, जगत् संहर्त्री मोक्षप्रदायिनी जननी है।

इस महामाया की अनुकूल इच्छा-कृपा होने से, अर्थात् उसके स्नेह का अनुभव कर सकने से ही, जीव मन्वन्तर का अधिपति होता है। साधक! क्या तुम इसको जानना चाहते हो? इस महामाया के स्वरूप अन्ततः आंशिकभाव से अनुभव न कर सकने से, चण्डी-तत्व समझ नहीं सकोगे; इसी से खुलासा कहते हैं कि मातृ अङ्क में प्रतिपालित होकर, मातृ स्तन्य से परिपुष्ट होकर, जो सन्तान अपनी गर्भ-धारिणी को नहीं जानता, वह पुत्र चाहे कितना ही अभ्युदय सम्पन्न क्यों न हो, चाहे कितना ही ज्ञान के उच्चतम शिखर पर आरोहण क्यों न करे, जगत् में चाहे कितना ही सम्मानित क्यों न हो वास्तव में वह जैसे घृणा का पात्र है; वैसे ही मनुष्य होकर यदि महामाया को मा कह कर न पहचान सके, तो उसका मनुष्य जन्म ही वृथा है। साधक! तुम अपनी माता को देखोगे? तो वह देखो, जो तुम्हारे क्षुद्र निःश्वास से आरम्भ करके निर्विकल्प समाधि पर्यन्त क्रिया-शक्ति रूप से, सङ्कल्प-विकल्प आकार में, मनोरूप से, काम क्रोधादि आकार में वृत्तिरूप से, बाल्य-यौवन-वार्द्धक्यादि-आकार में अवस्था रूप से और जन्म-मृत्यु रूप से महा-परिवर्तन के आकार में, तुम्हारे निकट आत्मप्रकाश करती है, यह वही हमारी माता महामाया है। जिसको तुम साधना का अनन्त विघ्न रूप मान कर घृणा उत्पन्न करने वाले कुटिल कटाक्ष से त्यागने को उद्यत होते हो, जिसको तुम माया कहकर, मिथ्या कहकर, बन्धन कहकर, आंखें मूंद लेने की चेष्टा करते हो—यह वही तो है! उपर नीचे, पूर्व पश्चिम में, उत्तर दक्षिण में जो कुछ देखते हो, वह सब हमारी महामाया मा ही तो है। यह जो स्नेहमय पुत्र की कमनीय मूर्ति देखकर मुग्ध होते हो, वह और कोई नहीं है—वह महामाया मा है; वह जो कामिनी के कमनीय अङ्ग स्पर्श से आत्महारा होते हो वह और कोई नहीं

है—महामाया मा है; वह जो काञ्चन के लोभ से तृष्णार्त हरिणों की भांति घूमते हो, वह और कोई नहीं है—महामाया मा है; यह जो कुसुम सौरभ से घ्राणेन्द्रिय परितृप्त करते हो, वह और कोई नहीं है—महामाया मा है; यह जो अनेक प्रकार के भोज्य-पदार्थों से रसना की तृप्ति करते हो, वह और कोई नहीं है—महामाया मा है; तुम्हारी स्थूल देह के प्रत्येक परमाणु—महामाया मा है। तुम्हारी क्षुधा तृष्णा मा है, काम क्रोध मा, सुख दुःख मा, पाप पुण्य मा, जन्म मृत्यु मा, दीनता मा, स्वर्ग नरक मा, अज्ञानता मा है ; मा को छोड़कर और कहीं भी कुछ नहीं है; तुम्हारे अन्तर में बाहिर में एक मात्र मा ही पूर्ण भाव से प्रगटित है। जिसको तुम चाहते हो, जिसको तुम अन्वेषण करते हो—वही महामाया मा हमारी तुमको स्नेहमय आलिङ्गन से छाती से लगाकर, अनन्त जन्म मृत्यु-प्रवाह के भीतर से उन्मादिनी वेश में, केश खोले हुए, 'पुत्र! आओ! आओ!' ऐसा कहती हुई चली आरही है। बड़े आदर से बड़े यत्न से तुमको जड़ परमाणु से जीव श्रेष्ठ मानवकुल में लाकर उपस्थित किया है। इतने दिन तक महामाया—मा को तुम नहीं पहचान सके; कुछ हानि नहीं; परन्तु अब तुम मनुष्य हो, मा को न पहचानोगे! मा को न देखोगे! क्या यह मनुष्यता होगी? मा तुम्हारे मुख से आध आध मातृ-आह्वान सुनने को बड़ी ही उत्सुका है! इसी से वह सदा अपने आप मा कहकर, तुम को मा कहना शिखाती है, तो भी तुम मा न कहोगे!

वह देखो, तुम जो चाहते हो, ज्ञान से वा अज्ञान से जो जब चाहते हो, तुरन्त मा उसी रूप से—तुम्हारे योग्य रूप से सन्मुख उपस्थित होती है। तुम बहुत्व की आनन्दक्रीड़ा करना चाहते थे, क्षुद्रत्व का, परिणामित्व का अभिनय करना चाहते थे, देखिये, स्नेह-मयी मा प्रसन्न बदन से तुम्हारी प्रकृति रूप से अवस्थान करके, अनुगता दासी की भाँति तुम्हारी अभिलाषा मिटा देती है। तुम जब फल वा फूल चाहते हो त्योंही मा फल वा फूल के आकार में तुम्हारे

समीप उपस्थित होती है। हाय ! तुम मा को पहचानते नहीं ! केवल फल और फूल ही पहचानते हो ! कौन तुम्हारे समीप फल और फूल के आकार में—काम और काञ्चन के आकार में उपस्थित हुआ है, उसे विचार पूर्वक नहीं देखते ! केवल नाम—रूप पर मोहित होते हो ! वह नाम और रूप किसका है ! कौन वह अनेक नाम और रूप से अपना प्रकाश करता है, उसे बिलकुल नहीं देखते ! बड़े-बड़े दार्शनिकों की भाषायें कण्ठस्थ करके उन्हें मिथ्या कह कर, भ्रान्ति कह कर, उड़ा देने की चेष्टा करते हो ? वह मिथ्या नहीं है, भ्रान्ति नहीं है, स्वप्न नहीं है, अध्यास नहीं है, जड़ नहीं है, वह सत्य है, वह ब्रह्म है, वह अभय है, वह अमृत है, वह आत्मा है, वह और कोई नहीं हैं, वह महामाया मा—'मैं' हूं।

धार्म्मिको ! तुम जिस धर्म्म का अनुष्ठान करके जगत् में धार्मिक बोलकर परिचित हुए हो ! वह जो तुम्हारी प्रकृति ने धर्म्म रूप से आत्म प्रकाश किया है ! वह कौन है ? वह यही महामाया मा है ! अधार्म्मिको ! तुम सदा किस के इशारे पर पाप का पङ्किल अभिनय करते हो ? किसको तृप्त करने के लिये पापपूर्ण मार्ग पर विचरते हो ? कौन तुम्हारी निन्दित-प्रकृति रूप से मलिनता के फटे वस्त्र पहन कर, तुम्हें गोदी में लिये बैठा हैं ? ज़रा विचार कर देखे हो ? यह वही महामाया मा है। हिंसा-द्वेष—निष्ठुरता रूप से अथवा दया क्षमा उदारता रूप से, निद्रा तन्द्रा आलस्य रूप से अथवा उत्साह उद्यम, अध्यवसाय रूप से, विषय सम्भोग रूप से, अथवा सन्यास रूप से, विषय विद्वेष के आकार में, अर्थोपार्जन, परिवार-प्रतिपालन, अथवा जप ध्यान योग पूजादि उपासना रूप से, कौन तुम्हारे निकट आत्म प्रकाश कर रहा है ?

वह देखो—तुम्हारी देहात्म-बुद्धिरूप से मा ! वह देखो—चञ्चलतामय मनोरूप से मा ! वह देखो—सुख दुःख की भोक्ता प्राणरूप से मा ! वह देखो—शुद्ध बोधरूप से मा ! वह देखो—

बन्धनरूप से मा ! वह देखो—मुक्तिरूप से मा ! अरे ! इतने निकट से, इतने अन्तर से और कौन है ! अरे ! इतनी आत्मीयता, इतना स्नेह और कहाँ है ? इतने स्निग्ध मधुर आलिङ्गन से और कौन मुग्ध करेगा ? तुम जगत् में प्रियतमा भार्या के सोहाग पूर्ण आलिङ्गन से मुग्ध होते हो, आत्महारा होते हो वह आलिङ्गन चाहे जितना घनिष्ठ क्यों न हो, उसमें देह का अन्तर रहता है, सम्यक् मिलाप नहीं हो सकता ; किन्तु उस महामाया मा के हमारे आत्महारा आलिङ्गन में कुछ भी अन्तर नहीं रहता है। वह सर्वतोभाव से अपने को भूल कर हमारे में मिल गई है। उनकी इस स्नेह की आत्म-विस्मृति, आनन्द का निगूढ़ आलिङ्गन अनुभव करो; उसी के चरणों में अपनी कृतज्ञता की पुष्पाञ्जलि समर्पण करो। जो तुम्हारी प्रकृति बन कर, दीनता की निम्नतर सीढ़ी पर उतर कर, मलिन परिच्छद से जीवत्व का अभिनय करती है; उस महामाया मा के, उस परमात्मरूपिणी मा के, उस जगत् रूप से प्रकाशशीला मा के सन्मुख एक बार मा कह कर खड़े हो। वह जिस प्रकार अनेक रूप से, अनेक मूर्ति से तुम्हें मुग्ध करके 'आओ-आओ' कहकर पुकारती है, तुम भी—'आता हूँ मा, 'आया मा', कहकर दौड़कर चलो। महामाया मा को हमारी बड़ी साध है—वह मनुज पुत्र को मनुत्व पर उन्नत करावेगी, अष्टम करेगी, मन्वन्तर का आधिपत्य देगी। हम राजराजेश्वरी की सन्तान हैं! क्या मा हमारी दीनता देख सकती है! हमारी दीनता हीनता देखकर मा के आंखों में आंसू बहने लगते हैं। हमारा क्षुद्रत्व दूर करने के लिये—परिणामित्व दूर करने के लिये—जन्म मृत्यु—यातना चिरकाल के लिये दूर करने के लिये वह राजराजेश्वरी होकर भी दीन वेश से हमारे पीछे-पीछे फिरती है। चलो हम एक बार मा कह कर खड़े हों, और कुछ भी नहीं करना होगा, चलो कोटि कण्ठ से एक बार मा कह कर पुकारें। इसी से वह प्रसन्न होगी, आनन्द से अपने को भूल जावेगी, मन्वन्तर का आधिपत्य देगी, हम महाभाग

होंगे—सौभाग्यवान् होंगे। हम सूर्य्य तनय होंगे। अनन्त जगत् प्रसविनी सवर्णा मा के पुत्र कह कर अपने को समझ सकेंगे। मनु होंगे मुक्ति प्राप्त करेंगे।

विशुद्ध चैतन्य जब अनेक भाव से अपना प्रकाश करता है तब वही माया नाम से अभिहित होता है। माता की गोद में बैठे हुए शिशु की भांति जगत् का प्रत्येक पदार्थ ही महामाया की गोदी में स्थित है। मान लो कि एक वृक्ष देखते हो, 'वृक्ष है' यह एक बोध प्रकाशित हुआ। उस बोध का जो अंश 'है' अर्थात् अस्ति रूप से प्रकाशित है, वह अस्तित्व ही वृक्ष रूप विशेषण युक्त होकर प्रतीतिगोचर हुई है। वृक्ष—एक शक्ति मात्र है। वहिर्दृष्टि से यद्यपि वृक्ष को शक्ति रूप से अनुभव नहीं किया जाता है, तथापि कुछ धीर चित्त से दृष्टिपात करने से देखा जाता है कि स्थिर भाव से खड़े हुए वृक्ष वास्तविक स्थिर नहीं हैं, वह एक शक्ति प्रवाह मात्र है। एक शक्ति ने परमाणुओं को दृढ़ भाव से सम्बद्ध कर रक्खा है। प्रतिक्षण अकर्मण्य परमाणु वाहिर निकलते रहते है और नये परमाणु मिलते रहते हैं। भीतर भरा हुआ रस प्रवाह शाखा प्रशाखा पत्र पुष्पादि में बहता रहता है। पृथ्वी की माध्याकर्षण-शक्ति के साथ विरोध करके, आप खड़े हुए हैं, इस प्रकार अनेक क्रिया शक्ति वृक्ष के भीतर हैं; अतएव कुछ शक्ति प्रवाह एक स्थान में 'वृक्ष' इस नाम से परिचित होते हैं। इन शक्ति प्रवाहों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है, एक वृक्ष को गठन करते हैं, दूसरे स्थिर रखने की चेष्टा करते हैं और तीसरे विनाश करते हैं। इस सृष्टि, स्थिति और प्रलय शक्ति का ही साधारण नाम जगत् वा पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ में हर समय इन तीन शक्तियों का सम्मिलन मात्र दिखाई पड़ता है। पूर्व्वे कहा गया है कि अस्तित्व विशेषण युक्त होकर प्रकाश पाता है। यह विशेषण ही शक्ति है, 'जगत् है' यह जो प्रतीति है; यह जो जगत् विशिष्ट एक सत्ताज्ञान है; उससे 'जगत्' अंश वा 'विशेषण' अंश दूर होने से, साधारणतः वह

सत्ता-अंश इस समय हमारी प्रतीति के योग्य नहीं होता। फिर जगत्-सत्ता की प्रतीति न होने से, आत्म-सत्ता अर्थात् 'मैं हूँ' यह ज्ञान भी नहीं रहता। वह सत्ता वा अस्तित्व-अंश सर्वदा शक्ति के अङ्क में ही अवस्थित है; इस कारण जगत् कहने से हम एक शक्ति और एक सत्ता समझते हैं। उनमें शक्ति-अंश सदा हमारे इन्द्रिय ग्राह्य होकर स्थूलभाव से प्रकाशित होता है। इस अंश की साधारण संज्ञा-नाम और रूप है। दूसरा अंश अर्थात् सत्ता हमारे स्थूल इन्द्रिय ग्राह्य न होने पर भी अप्रत्यक्ष नहीं है। यह शक्ति और सत्ता वस्तुतः अभिन्न है। शक्ति की सत्ता है अथवा सत्ता की ही शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान में कोई भी भेद नहीं है। जब तक भेद प्रतीति होता है, तब तक देखा जाता है कि शक्ति मानो शत्ता को धारण किये हुए है। यह शक्ति जड़ नहीं है, चित् वा चैतन्य मात्र है। इसी का नाम महामाया है। इसी से, पूर्व कहा है कि जीव-जगत् महामाया के ही अङ्क में स्थित सन्तान मात्र है।

यह शक्ति वा माया मिथ्या नहीं है, भ्रान्ति नहीं है—सत्य है। ब्रह्म की आवरक (छिपाने वाली) नहीं है—प्रकाशक है। स्वप्रकाश ब्रह्म का विशिष्ट प्रकाश ही—शक्ति वा माया है। हम जानते हैं कि माया सगुण ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है। यह महायाया मा जब फिर बहुत्व के स्पन्दन से कम्पित न होकर, अनेक भाव से विराजित प्रकाश शक्ति को उपसंहृत करके, स्थिरत्व में उपनीत होती है, तब ही वह ब्रह्म निरञ्जन निर्गुण निर्विकल्प इत्यादि संज्ञा से अभिहित होती है। वह वाक्य और मन के अतीत है। जब तक जीव जगत् है, जबतक उपासना साधना है, तबतक वह महामाया है। जबतक मातृलाभ है, तबतक वह महामाया रूप से ही प्रकटिता है। इस महामाया के स्वेच्छाकल्पित शिशु-चैतन्य ही जीव हैं! आकाश परमाणु से हिरण्यगर्भ पर्य्यन्त सब ही महामाया की गोद में स्थित सन्तानमात्र है; अथवा महामाया ही जीव जगत् आकार से नित्य

प्रकाशित हैं। हम फूल में फूल नहीं देखते, देखते हैं मा; फल में फल नहीं देखते, देखते हैं मा; जल में जल नहीं देखते, देखते हैं रसमयी मा; वायु वायु नहीं है, स्पर्शमयी मा है; चन्द्र सूर्य्य चन्द्र सूर्य्य नहीं हैं, मातृ चक्षु वा मा है; विद्युत् विद्युत् नहीं है, मा का कटाक्ष वा मा है; निर्मल आकाश आकाश नहीं है, प्रशान्त उदार मातृवक्ष है; मेघमाला मा का केशजाल है ; यह परिदृश्यमान जगत् ही मा की प्रगट मूर्ति है ! जगत् देखकर जो मा को मन से न समझ सकेगा, वह किस प्रकार जगदतीता, भावातीता मा को पकड़ सकेगा ! हमारी मा ने दया करके गुरु रूप से हृदय में आविर्भूत होकर, जिस के अज्ञानान्ध चक्षु ज्ञानाञ्जनशलाका द्वारा उन्मीलित कर दिये हैं, केवल वे ही विश्व के प्रति अणु परमाणु में मातृ मूर्ति देख पाते हैं और सदा आनन्द में आत्महारा रहते हैं। चैतन्यदेव ने कहा है कि:—"चारों ओर देखा मैं ने राई-हेम रूप"। जबतक जो देखते हो, उस में इष्ट का स्फुरण न हो, तबतक तपस्या केवल तपस्या मात्र है। एक श्लोक में भी कहा है कि:—

अन्तर्वहिर्यदि हरि स्तपसा ततः किम्–
नान्तर्वहिर्यदि हरि स्तपसा ततः किम् ?

जिस के अन्तर बाहिर में हरि है, उसको फिर तपस्या से क्या प्रयोजन ? और जिसके अन्तर बहिर में हरि नहीं है, उसको तपस्या का क्या फल ? परन्तु वह दूसरि बात है।

अनुभाव—इस माया के अनुभाव-अनुकूल इच्छा से-कृपा से-स्नेह की उपलब्धि से जीव मन्वन्तर का आधिपत्य प्राप्त कर सकते हैं। अनुभाव क्या ? अनुपश्चात् भूयत इति अनुभावः। महामाया चैतन्य मयी शक्तिस्वरूपा है; इस कारण दुर्विज्ञेया है, किन्तु अनु अर्थात् अव्यवहित के पश्चात् ही वह भाव के रूप में प्रकटिता होती है। प्रतिक्षण हमारे अन्तर में जो भावराशि विकसित होती और मिलती रहती है, वही महामाया का अनुभाव है। काम क्रोधादि वृत्तियां,

रूप रसादि विषय, दया क्षमादि गुण, ये सब महामाया के ही अनुभाव हैं। यह भावराशि महामाया के ही अङ्क में उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं। जब हमारी मा अव्यक्त अवस्था से प्रथम व्यक्त अवस्था में आविर्भूता होती है, तब ही वह भाव के आकार में प्रकटिता हो जाती है। वह भावराशि घनीभूत होकर ही इस स्थूल जगत् के आकार में प्रकाशित हुई है। भाव की घनीभूत अवस्था ही स्थूल है। जबतक महामाया अनुभाव के आकार में रहती है, तबतक वह केवल मानसग्राह्य है; वह घन होने से ही स्थूल इन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाती है। भाव ही महामाया का अणु अर्थात् पश्चाद्वर्ती द्वितीय स्वरूप है। महामाया का अपना निर्विशेष स्वरूप जीव के निकट अव्यक्तप्राय; होने पर भी, भावमयी अनुभाव-स्वरूपिणी महामाया मा प्रति जीव के निकट प्रतिमूहूर्त में प्रकटिता है। वह प्रतिक्षण में हमारे निकट भाव के आकार में प्रकटिता हो रही है। भाव ही मा है! भाव भाव में भाविनी मा सर्वदा ही आती है; यह बात यदि हम समझें तो यथार्थ महामाया के अनुकूल इच्छा वा मातृ स्नेह अनुभव करके आत्महारा हो सकते हैं। साधक! तुम जिस को भाव कह कर कल्पना मात्र कह कर उपेक्षा करते हो, वही भाविनी अनुभावरूपिणी हमारी मा है; इसे यदि समझ सको, तो तुम्हारा साधन मार्ग सुगम होगा; यदि महामाया को चाहो तो प्रत्येक भाव में आगे बढ़ो। भाव को मा कहो, भाव के पावों पर पुष्पाञ्जली दो, भाव के चरणों पर प्रणत होओ, भाव उपेक्षा की वस्तु नहीं है; यह जगत्, भाव के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

एक स्थान में चैत्र नामक कोई व्यक्ति अपने पिता पुत्र भृत्य और एक कामुक बन्धु के सहित बैठा हुआ है। सामने एक थोड़े दिनों का पकड़ा हुआ व्याघ्र जंजीर से बंधा हुआ सो रहा है। इस समय में चैत्र की पत्नी किसी कार्य्य के लिये वहां गई। उस को देखते ही चैत्र के मन में पत्नी भाव, उस के पिता के मन में पुत्रबधू भाव, पुत्र

के मन में मातृ भाव, भृत्य के मन में प्रभुपत्नी भाव, बन्धु के मन में काम भाव और व्याघ्र के मन में खाद्यभाव उपस्थित हुआ। एक नारी मूर्ति ने इतने भिन्न-भिन्न भावों की उद्दीपना कर दी। चिन्ता करके देखिये कि क्या व्यापार है? वास्तविक इतने भाव क्या नारी मूर्ति में थे? नहीं—वह प्रत्येक का स्वगतभाव है।

तुम्हारे पांव में एक कांटा लग गया, तुम को व्यथा हुई। वह भाव कहां था? कण्टक में वा तुम्हारे अन्तर में? इसी प्रकार समझिये कि तुमने आम खाया। मधुर रस आम में था वा तुम्हारे भीतर स्थित एक प्रकार भाव वा अनुभूति है। इसी प्रकार जगत् में सर्वत्र है। हम दिन रात जो जगद् भोग करते हैं वह जगत् भाव के सिवाय और कुछ नहीं है। वह भाव हमारे ही अन्तर में अवस्थित हैं। बाहिर में जगत् कहने से कुछ है वा नहीं, उसे जानने का कोई उपाय नहीं है। सर्वत्र एकमात्र परमपद अवस्थित है। उसी की अर्थ राशि वा भाव समूह सदा हमारे अन्तरराज्य में एक के बाद एक फूटने लगता हैं, फिर मतलब निकल जाने पर मिल जाता है। यह परमपद ही महामाया है और उस पद का जो अर्थ वा पदार्थ है, वही भाव है; इसी से उसको महामाया का अनुभाव कहा जाता है। महामाया महाशक्ति रूपिणी चिन्मयी परा प्रकृति मा हम को पूर्णत्व ब्रह्मत्व पर पहुँचाने के लिये, परिच्छिन्न वा विषयज्ञान वा अज्ञान से विशुद्ध अपरिच्छिन्न ज्ञान पर पहुँचाने के लिये जब जिस भाव से भावुक बनाने की आवश्यकता मन में समझती है, तब उसी प्रकार का अनुभाव प्रकाश कर देती है। पाप पुण्य धर्म्माधर्म्म रोग शोक, परिताप व्यसन, हंसने रोने आदि का जब जो भाव हमारे अनुकूल होता है—जब जिस भाव में भावुक होने से हमारी आध्यात्मिक गति खरतर होगी, जब जिस भाव में भावित होने से भावातीता महामाया को मा कहकर सहज में पहचान सकें; तब हमारी मा उसी भाव से प्रकाशित होती है। कुछ लक्ष्य पूर्वक देखने से भली भांती समझा जा

सकता है कि वह भावराशि मानो किसी अव्यक्त क्षेत्र से दूसरे किसी की इच्छा से आविर्भूत होती है और फिर किसी अव्यक्त क्षेत्र में लीन हो जाती है। उसका आविर्भाव तिरोभाव मानो बिलकुल स्वतंत्र अर्थात् जीव भावीय ज्ञान सीमा से बिकुल्ल बाहिर अवस्थित है। जो साधक इस भावराशि का केन्द्र अन्वेषण करने के लिये लालायित होते हैं—भाव भाव में महामाया का अनुभाव लक्ष्य करते हैं—भाव को मा कहकर—आत्मा कहकर—भाव के पीछे दौड़ते हैं, वह साधक पुत्र ही महामाया को पहचान सकते हैं।

हम देखते है कि, जगत् में अनेक साधक अपनी अपनी इष्टमूर्ति का ध्यान करते समय हृदय में सम्पूर्णभाव से इष्टदेव को स्थापना करते समय कुछ दूर आगे बढ़ने के बाद जब देखते हैं कि इष्ट मूर्ति के बदले कोई जागतिक भाव फूटने लगा है—शिवजी के बदले बानर बना है। राज राजेश्वर के आसन पर जगत् की धूलि-धन जन स्त्री पुत्र यश प्रतिष्ठा आदि में से कोई एक आगया है, तब ही चौंक उठते हैं और एक दीर्घ श्वास त्याग कर मनमें कहते हैं कि "हाय! हमारा कुछ भी न हुआ, मा का ध्यान करने बैठे क्या खाक धूल, अनेक भावनायें एकत्र होकर मानो हृदय क्षेत्र में तौल नाप कर रही हैं, हमारे पक्ष में भगवत् प्राप्ति बिलकुल असम्भव है। इतने चञ्चल मन से क्या भगवान् की साधना होती है! साधना व्यापार केवल संसारत्यागी अरण्यवासी साधु महापुरुषों ही के लिये है; वह हम जैसे चञ्चल संसारी गृहस्थ लोगों के लिये नहीं है"। किन्तु हाय! यदि वह जान सकते कि उस चञ्चलता रूप से, जगत् के धन जनादि रूप से माता-ही आई है—भाव मात्र में माता है, यदि इस बात को समझ सकते—यदि उसे देख पाते कि छलनामयी रङ्ग प्रिया लीला बिलासिनी हमारी माता जबतक आनन्द लीला करेगी, तबतक बार-म्बार उसकी भावमयी मूर्ति रूपान्तरित होगी ही होगी! तब फिर हताश होने का कोई कारण नहीं रहता। अरे, पुत्र जब मा कह कर

पुकारता है, पुत्र जब हृदय—सिंहासन पर मातृ चरण प्रतिष्ठा करने को उद्यत होता है, तब अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई नहीं है कि उस सिंहासन को स्पर्श कर सके। पुत्र, मा कहकर पुकारने से—ब्रह्मा विष्णु महेश्वर आदि देवतावृन्द भी मार्ग छोड़ देते हैं। फिर जगत् की भावराशि तो तुच्छ हैं। मा के सिवाय, मा का सिंहासन स्पर्श करने की किसी को सामर्थ्य नहीं है।

साधक! भगवत् चिन्ता में नियुक्त होकर यदि देखो कि जागतिक भाव राशियां आकर तुम्हारी इष्ट चिन्ता में व्याघात उत्पन्न करती हैं। तो उन भावों को लक्ष्य करके सत्यप्रतिष्ठा करो। प्रत्येक भाव को हटाने की चेष्टा न करके, उसको छद्मवेशी इष्ट मूर्ति जान कर आदर करो; उन्हीं को मा कह कर प्रणाम करो! उस चञ्चला भावमयी मा के चरण लक्ष्य करके अपनी साधना का तीक्ष्ण शर सन्धान करो। भावचञ्चला हमारी मा तुरन्त स्थिर हास्यमयी मूर्ति में प्रगटिता होगी, चित्त स्थिर होगा, मा को पाओगे, तुम्हारा जन्म-जीवन सार्थक होगा।

एक बात यहां और भी कहे देते हैं कि चित्त चञ्चल होने से साधना नहीं होती—यह बात बिलकुल भ्रान्तिमूलक है। चित्त स्थिर होने पर तो साधना की परि-समाप्ति होती है! मा को पाने के पूर्व किसी का चित्त स्थिर नहीं होता है, और न हो सकता है। मा के आजाने पर चित्त अपने आप स्थिर हो जाता है, सूर्य्य के उदय होने पर अन्धकार अपने आप भाग जाता है। मातृलाभ के पूर्व किसी प्रकार हठ-क्रिया अथवा वहिः प्राणायामादि द्वारा चित्त की वृत्तियां निरुद्ध होने पर, विशेष कुछ फल प्राप्त नहीं होता। वह एक प्रकार की निन्द्रा विशेष है—जड़ समाधि मात्र है। वास्तविक प्रज्ञा का प्रकाश होने से चित्त अपने आप स्थिर हो जाता है; किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। और यदि ऐसी प्रज्ञा प्राप्त होने के पूर्व चित्त दृढ़-भूमिक हो, अर्थात् वृत्ति प्रवाह यदि किसी एक विषय का

अवलम्बन करके दीर्घ काल तक चलता रहे, तो संसारी जीवों के पक्ष में वह महा-अमङ्गल उत्पन्न करता है। काम क्रोधादि की उद्दीपना अथवा शोक दुःखादि का आविर्भाव होने से, वह मनुष्य को कितना ही अभिभूत क्यों न करे, चित्त की चञ्चलता के कारण शीघ्र ही फिर तिरोहित होती है; किन्तु साधारण अवस्था में चित्त स्थिरभूमिक होने से, उसके उपद्रवों से मनुष्य की कैसी दुर्दशा होती है, एक बार बिचार देखिये। तब ही तो कहा है कि चित्त चाञ्चल्य मा की आशीर्वाद है।

वह चाहे कुछ हो, महामाया के अनुभाव अथवा अनुभाव-रूपिणी महामाया ही मनुजों को मनुत्व में पहुँचा देती है। तब साधक इस मनुष्य देह में ही अवस्थान करके उपनिषद् के ऋषियों की भांति मुक्त कण्ठ से कहता है-"अहं मनुरभवम् सूर्य्यश्च" मैं मनु हुआ, मैं सूर्य्य हुआ। यह न समझ लेना कि यह शब्द की झङ्कार मात्र है। यह न समझना कि यह भाषा की उच्छ्वास मात्र है। यह बिलकुल सत्य है—मनुष्य के बिलकुल आयत्त योग्य है। हृदय के अन्तर राज्य में दिन रात जो भाव एक के बाद एक क्रम से उठते हैं, बुरे भले का बिचार किये बिना, छोटे बड़े का विचार किये बिना, प्रत्येक भाव को मा कहो। वह भाव कहां मिल जाते हैं; उसी स्थान में जाने के लिये उस भावरूपिणी माता के चरण पकड़ कर रोओ। कातर रोदन से व्याकुल होओ, अश्रुधारा से हृदय सिक्त करो। बारम्बार अकृतकार्य होंगे, बार बार निष्फलता होंगी; परन्तु कातर प्रार्थना-मा कह कर पुकारने से निवृत मत हो। भाव तुम को छोड़कर चले जावेंगे; परन्तु तुम बिफलता से हताश मत हो। बारम्बार की बिफलता ही सफलता पर ले पहुँचती है। कुछ दिन ऐसा करते रहो तो देखोगे-समझ सकोगे कि तुम महामाया मा की गोद में सदा अवस्थित हो। भाव रूपिणी मा—ही तुम्हीको भावा-तीत क्षेत्र में ले जायगी। जिससे भावराशि का आविर्भाव और

तिरोभाव है, वही उसका स्थान है। हाय जीव! कब तुम उस महान् उदार शान्त पूर्ण प्रकाशमय उदासीन भावातीत मातृस्वरूप प्रत्यक्ष करके धन्य होओगे। परन्तु वह दूसरी बात है।

अब हम संक्षेप से एक बार मन्त्र का स्थूल मर्म्म आलोचना कर देते हैं कि ब्रह्मा से आकाश के परमाणु पर्य्यन्त, सर्वत्र ही महामाया का प्रकाश है। सच्चिदानन्दमयी महामाया का अभाव कहीं भी नहीं है। उसके अनुभाव के अवलम्बन से अग्रसर होने पर अर्थात् जागतिक भावों को महामाया कहकर समझ लेने पर, जीव मन्वन्तर का आधिपत्य प्राप्त कर सकता है—शुद्ध बोध रूप से अवस्थान करने में समर्थ होता है। तब उस वरणीय भर्गशक्ति की गोद में स्थित आत्मज कहकर अपने को अनुभव करता है। उसके समान सौभाग्य वाला जीव और कौन हो सकता है? इसी से मन्त्र में महाभाग शब्द का उल्लेख हुआ है (महान् भागः वीर्य्यं यस्य सः इति महाभागः) तब वह अनन्तवीर्य्यं और अमितपराक्रम होता है। अष्टम अर्थात् अष्ट सिद्धीश्वर और अष्ट पाश विमुक्त होकर भगवत्सारूप्य प्राप्त करता है। समग्र मानव मण्डली की बोध शक्ति उसी के इशारे पर चलती है।

इस प्रकार चण्डी के प्रारम्भ में ही हमारी मा महाफल की सूचना करके—पुत्रों को चण्डी तत्व में प्रवेश का बल बढ़ाकर, आत्महारा होकर आकुल स्नेह से आकर्षण कर रही है। जो इस आकर्षण की सीमा में आपड़ेंगे, वही धन्य होयंगे। वह अनिच्छा से भी विवश होकर धीरे-धीरे माता की गोदी की ओर आगे बढ़ते जायँगे। अनेक समय जिस प्रकार हम अनिच्छा होने पर भी जगत् में कोई-कोई अच्छा काम कर डालते हैं, इस माता के आकर्षण की सीमा के भीतर आपड़ने से उसी प्रकार अनिच्छा होने पर भी मातृमुखी गति आरम्भ होती है। मनुष्य जब इस गति को मृदु-मृदु भाव से अनुभव करता है, तब ही से उसका अज्ञानान्धकार दूर होता रहता है। नित्य

नवीन उत्साह से, नित्य नवीन अनुभूति से प्राण परिपूर्ण होता रहता है। तब जीव पूर्ण उत्साह से साधन-समर में अवतीर्ण होता है।

स्वारोचिषेऽन्तरे पूर्व्वं चैत्रवंश-समुद्भवः।
सुरथोनाम राजाभूत समस्ते क्षितिमण्डले॥ ३ ॥

अनुवाद—पूर्व्वकाल स्वारोचिष—मन्वन्तर में चैत्रवंश में उत्पन्न समस्त भूमण्डल के अधिपति सुरथनाम से एक राजा थे।

व्याख्या—यह मन्त्र चण्डी के उपाख्यान भाग का बीज स्वरूप है। किस प्रकार क्षेत्र में उपनीत होने से—किस प्रकार आध्यात्मिक बल प्राप्त कर लेने पर, साधक के हृदय में चण्डीतत्व की सूचना होती है, उसी का यहाँ निरूपण किया गया है। आओ प्रिय साधक! हम माता के चरणों का स्मरण करके, विज्ञानमय गुरु का आशीर्वाद ग्रहण करके, उपाख्यान भाग का आध्यात्मिक रहस्य जानने की चेष्टा करें।

स्वारोचिषेऽन्तरे—स्वर्—स्वर्ग, रोचिस्—दीप्तिज्योति। स्वारोचिष शब्द का अर्थ स्वर्गीय ज्योति। अन्तर देश इस दिव्य ज्योति द्वारा प्रकाशित होने से जीव सुरथ हो सकता है। सुरथ कौन, वह आगे कहते हैं। किस उपाय से अन्तर देश स्वारोचिष होता है वा इश्वरीय ज्योति द्वारा प्रकाशित होता है, प्रथम उसकी आलोचना की जाती है। साधक जब जगत् के सब पदार्थों को स्नेहमयी महा-माया जानकर सरल प्राण से ग्रहण करने का अभ्यस्त होता है, जब सत्य कह कर—मा कह कर प्रत्येक भाव के पीछे-पीछे माता के ढूढ़ने की लोलुप दृष्टि फैलाता है, जब भावमयी, नाम और रूपमयी महामाया को हृदय में रखकर यथार्थ माता की प्राप्ति के सत्यसम्वेदन में जीव जागरित होता है; सरल प्राण बच्चों की भाँति मा मा कहकर जब व्याकुल हो पड़ता है, जब थोरा-थोरा करके प्राण में मातृस्नेह का अनुभव करके, कृतज्ञता की पुष्पाञ्जलि प्रदान करते समय आत्महारा

हो जाता है, तब वह देखता है कि उसका अन्तर राज्य शान्त, निर्म्मल, शुभ्र ज्योति से उद्भासित हुआ है। केवल अन्तर ही नहीं—अन्तर बाहिर परिपूर्ण करके इस ज्योति का सागर उमड़ने लगा है। जगत् के छोटे-छोटे भाव हमारी मा की उस अङ्गज्योति में कहाँ मिल गये हैं। उस अन्तरवाह्यभेदी दिगन्तव्यापी ज्योतिर्मण्डल में निवास करके जीव अपने को परम आनन्दमय पुरुष कहकर अनुभव करता है। केवल सत्यप्रतिष्ठा ही इस प्रकार के अनुभव पाने का सरल अव्यय मार्ग है। जो साधक गुरु के बताये हुए उपाय और बुद्धियोग की सहायता से सर्वत्र मातृ दर्शन के अभ्यस्त हुए हैं, उनका अन्तर शीघ्र ही स्वारोचिष होता है।

योगशास्त्र इसको सुषुम्ना—नाड़ी भेद कहता है, तन्त्र इसको कुलकुण्डलिनी का जागरण कहते हैं, पातञ्जल इसको विशोका वा ज्योतिःष्मती वृत्ति कहते हैं और वेदान्त इसको चिदाभास कहता है, प्रत्येक का कहना यथार्थ है। योगिजन कठोर योग साधन से जिस चिदाभास को प्राप्त करके अपने को कृतार्थ मानते हैं, सन्यासी लोग कठोर वैराग्यव्रत पालन कर दुस्साध्य निदिध्यासन के फल से, जिस ज्योति का आभास देखकर धन्य होते हैं, तान्त्रिक लोग जिस कुल कुण्डलिनी का जागरण एक प्रकार का काल्पनिक व्यापार मानते हैं; जिस सुषुम्ना प्रवाह को प्रकाशित करने को राजयोगी यम नियम आसन प्राणायामादि का अभ्यास कर जीवन व्यतीत कर देते हैं, उस स्वारोचिषत्व की प्राप्ति सत्यप्रतिष्ठा की सहायता से अति सहज में और अनायास में हो जाती है। इसके लिये किसी प्रकार की कठोरता आवश्यक नहीं है, दृढ़ संयम का प्रयोजन नहीं होता है, सन्यास का दुःसाध्य त्याग-मार्ग आवश्यक नहीं है, ज्ञानी की नीरस विचार से पूर्ण गहरी खोज की आवश्यकता नहीं है, किसी प्रकार कला-कौशल की आवश्यकता नहीं है, केवल सरल विश्वास से वैदिक युग के ऋषियों की भाँति जगत्मय ब्रह्म सत्ता के दर्शन का अभ्यास होने से—माता

को भूले हुए शिशु की भाँति सर्वत्र माता के दर्शन में अभ्यास होने से ही निर्म्मल चिदाकाश प्रकाशित होता है। वह शुभ्र शान्त माता के अङ्ग की ज्योति इतनी प्रत्यक्ष, इतनी सघन है कि उसकी घनीभूत सत्ता में जगत् की सत्ता विलुप्तप्राय हो जाती है। यही यथार्थ कुण्डलिनी जागरण है। यही यथार्थ सुषुम्ना प्रवेश है। मेरुदण्ड में एक सर्प कल्पना कर लेने से कुण्डलिनी जागरण नहीं होता। मेरुदण्ड में एक सूक्ष्म स्नायु (नस) कल्पना करके उसमें कल्पना द्वारा प्रवेश करने से सुषुम्ना प्रवाह का प्रकाश नहीं होता। वास्तव में इस विशोका ज्योति-दर्शन से जीव के सब प्रकार शोक मोहादि की जड़ ही कट जाती है। तब जीव यथार्थ आनन्द का आभास पाकर उन्मत्त की भाँति वीणा से मोहित मृग की भाँति, पूर्णत्व की ओर आगे बढ़ता रहता है। इस जगत् में रहकर साधारण लोगों को जो दिखाई न पड़े ऐसे अन्तर्जगत् में प्रवेश से उत्पन्न तृप्ति को भोगता रहता है। सचमुच उस समय घनान्धकारमयी सदा परिवर्तनशीला जीवननिशा का सुप्रभात होता है। उस चैतन्यमय ज्योतिः समुद्र में स्नान करके जीव कृतार्थ होते हैं। हाय जीव! तुम कब उस ज्योतिर्म्मयी मातृ मूर्ति के दर्शन से धन्य होओगे? परन्तु वह दूसरी बात है।

कोई कहते हैं—कि सर्व्वदा ज्योतिर्म्मयी मूर्ति का ध्यान करने से, अन्तर दिव्य ज्योति से प्रकाशित होता है। कोई कहते हैं—मन हृदय में उठने से ईश्वरीय ज्योति का दर्शन होता है। कोई कहते हैं—मणिपुर के नाभिपद्म में सूर्य्य का ध्यान करने से ज्योति दर्शन होता है। इन सब की बात ठीक है। जो केवल एक जड़ ज्योति के दर्शन से ही परितृप्त होते हैं, वह उसका कोई न कोई उपाय अवलम्बन करने से सफलकाम हो सकेंगे; परन्तु क्या वह मुक्तिदायक होगा? प्रज्ञा का प्रकाश हुए बिना—ज्योति प्राणमय, चैतन्यमय हुए बिना क्या अज्ञान दूर होता है? अन्तर में ज्योति का दर्शन करने होता है, उस अन्तर वस्तु को समझे बिना क्या यथार्थ

स्वारोचिषत्व प्राप्त होता है ? इस अन्तर के दर्शन करने की शक्ति प्राप्त होने से, मनुष्यों का अनेक जन्म सञ्चित अज्ञान दूर हो जाता है। वह अज्ञान अन्तर-बाहिर भेद प्रतीति है। साधारणतः अन्तर कहने से देह पर्यन्त यह परिदृश्यमान जगत् पर लक्ष्य पड़ता है; यही एक मारात्मक अज्ञान है। वास्तव में अन्तर बाहिर कहने में कोई स्थान भेद नहीं हैं बल्कि "सब ही अन्तर है," यह कहा जा सकता है। हम जो जगत् भोग करते हैं वह हमारा अन्तर मात्र है। वह सुदूरवर्ती आकाश, वह ज्योतिर्म्मय सूर्य्य चन्द्रादि ग्रहमाला, वह विशाल समुद्र, वह बहुत ऊँचे पहाड़, सब ही हमारे अन्तर मात्र हैं। धन, जन, स्त्री, पुत्र सब ही हमारे अन्तर मात्र हैं। यह रक्त मांस का बना हुआ स्थूल शरीर हमारे ही अन्तर है। ओः! मैं कितना महान् हूँ! इतना बड़ा मैं! इतनी विशालता—इतनी दूर मेरी व्याप्ति! आ—मा के चरणों में कोटि प्रणाम!

इस बात को और भी कुछ स्पष्ट भाव से समझने की चेष्टा कीजिये; देह के भीतर मन नहीं है—मन के भीतर देह है। मन के कुछ अंश ने घनी भूत होकर यह स्थूल देह का आकार धारण किया है। जैसे जल का कुछ अंश जम कर बरफ बन जाता है, ठीक उसी प्रकार है। दर्शन-शास्त्र में भी कहा है—मनोमय कोष के भीतर प्राण-मय कोष है और उसके ही भीतर अन्नमय कोष वा स्थूल देह है। इसको केवल पढ़कर कण्ठस्थ कर लेने से कुछ विशेष फल नहीं होता, समझना होता है, अनुभव करना होता है, उपलब्धि करना होता है, तब अज्ञान दूर होता है, प्राणों में शान्ति आती है, अमरत्व का स्वाद पाया जाता है। पूर्व्व मन्त्र की व्याख्या में कहा है कि भाव ही यह जगत् है। दिन रात में हम जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं, भोग करते हैं, वह सब ही भाव मात्र है। भाव मन का धर्म्म है। इस कारण यह परिदृश्यमान जगत् सब ही हमारा मन वा अन्तर मात्र है। एक फूल देखने से, वह वस्तुतः बाहिर नहीं है, तुम्हारे ही

मन ने फूल का आकार धारण कर लिया है, इसी से तुमको पुष्प देखने रूप व्यापार संघटित हुआ है। ऐसे ही सर्वत्र समझिये। स्त्री पुत्र ही कहो, धन रत्न कहो, अथवा दूरवर्ती चन्द्र सूर्य्य, कहो सब ही तुम्हारे अन्तर वा मन मात्र हैं। वेदान्त-दर्शन में भी ठीक यही बात कही है। विषयावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणावच्छिन्न चतन्य और प्रमातृचैतन्य के एकत्व द्वारा ही विषयज्ञान होता है। अस्तु, हम दार्शनिक भाषा के भीतर प्रवेश करके वस्तु को कठोर नहीं करेंगे। पर जिन्होंने न्यायशास्त्र पढ़ा है, उनके मन में एक संशय हो सकता है। वह कहते हैं कि मन का परिमाण अणुमात्र है। इतना बड़ा जगत् यदि मन है तो फिर उसका अणुत्व सिद्ध नहीं हुआ। बात तो ठीक ही है,—"अयौगपद्याज् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहोच्यते"—एक समय में दो ज्ञान लेकर नहीं रख सकता है इस कारण मन को अणु कहा जाता है। वास्तव में मन अणु से भी अणु है तो भी महत् से भी महान्। अणु परिमाण होने पर भी उसका विशालत्व शास्त्रीय व्याप्तित्व सर्व शास्त्र सिद्ध और प्रत्यक्ष अनुभूत है। प्रत्यक्ष विषय में प्रमाण की आश्यकता नहीं है।

"यह जो कुछ देखते हैं, जो कुछ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं, जिसको हम बाहिर कह कर समझते हैं, वस्तुतः वह हमारे ही अन्तर में स्थित है। अपने ही अन्तर राज्य में हम रात दिन विचरते हैं।" जबतक इस प्रकार के अनुभूति का प्रकाश नहीं होता, तबतक जीवों का मृत्युभय दूर नहीं होता। साधक लोग इस अनुभूति को प्राप्त करने के लिये इस जगत् को मा के अन्तर धारणा करने की चेष्टा करें। "यह जगत्—हमारे ही अन्तर है" इस प्रकार की धारणा करने में, प्रथम जीव भावीय 'मैं' का स्मरण होने से "वह असम्भव" इस प्रकार प्रतीति होती है; इस कारण साधन राज्य में "मैं" शब्द को सर्वत्र त्याग कर, मा शब्द अथवा भगवान् का कोई न कोई नाम व्यवहार करना होता है। इससे साधन मार्ग सुगम हो जाता है।

श्रुति है—**"यथा पूर्वमकल्पयत्"**—यह जगत् मा की कल्पना मात्र है। कल्पना अन्तर में रहती है; कारण कि वह मन का धर्म्म है; इस कारण जगत् देखता है, इसके कहने से ही समझना होगा कि मा का मन देखता है। सूर्य्य, सूर्य्य नहीं है, मा के मन का एक भाव मात्र है, मा समझती है कि मैं सूर्य्य हूं। चन्द्र, चन्द्र नहीं है मा समझती है कि मैं चन्द्र हूं। वृक्ष, वृक्ष नहीं है, मा समझती है कि मैं वृक्ष हूँ। भूमि, भूमि नहीं है, मा समझती है कि मैं भूमि हूं। वायु, वायु नहीं है, मा समझती हैं कि मैं वायु हूं। कामिनी, कामिनी नहीं है, मा समझती है कि मैं कामिनी हूं। काञ्चन, काञ्चन नहीं है, मा समझती है कि मैं काञ्चन हूँ। पुत्र, पुत्र नहीं है, मा समझती है कि मैं पुत्र हूँ। इसी प्रकार सर्वत्र समझिये। जगत् मा के मन का भाव वा मन है। हमारे मन के भाव बहुत अल्पक्षण स्थायी हैं; परन्तु मा का मन असीम और अनन्तवीर्य्य है! इसी से उसके भाव इतने घन और इतने समय स्थायी हैं कि हम उनको और भाव कहकर सहसा धारणा नहीं कर सकते। वस्तुतः हम मा के ही अन्तर में जन्म लेते हैं, और मा के ही अन्तर में विचरते हैं और फिर मा के ही अन्तर में मर जाते हैं। हम सब अवस्थाओं में मा के अन्तर स्थित हैं। जिस प्रकार किसी सुसज्जित अट्टालिका में प्रवेश करने पर, अनेक प्रकार की वस्तुएँ देखने पर भी एक गृहमात्र की प्रतीति होती है; उसी प्रकार इस जगत् में असंख्य भेद, असंख्य नाम रूप, असंख्य पदार्थ देखने पर भी, मानो वह सब एक मात्र मा के अन्तर रूप एक गृह में स्थित हो रहे हैं, ऐसा समझना चाहिये। ऐसी धारणा के फल से बहुत्व बुद्धि, भेद बुद्धि धीरे-धीरे एकत्व की ओर अग्रसर होती है और अन्तर नामक वस्तु का ठीक ठीक बोध होता है। पूर्व जो महामाया के अनुभाव की बात कही गई है, वह इस अन्तर ज्ञान सापेक्ष है।

यहाँ पर और एक रहस्य है कि जो जिसके अन्तर है, वह

उसके आश्रित है। यह जगत् मा के अन्तर है; इस कारण मा के आश्रित है। हम माके अन्तर हैं, इस कारण सर्वतोभाव से मा के आश्रित हैं। मा आश्रय है—एक मात्र आश्रय, एकान्त आश्रय है। इस प्रकार आश्रय, आश्रित-भाव साधना मार्ग का सर्व प्रधान अवलम्बन है। हम अनेक समय मान लेते हैं कि भगवान्‌को न पाने से—मा को न देखनेसे—हमारी क्या क्षति है; भगवान्‌के बिना भी तो हमारे सब काम चले जाते हैं। यह हमारी अज्ञानता मात्र है। वृक्ष पर लगे हुए फल यदि मान लें कि वृक्ष न रहने से हमारी क्या क्षति है,—वायु यदि मान ले कि आकाश न रहने से हमारी क्या क्षति है,—जल यदि मान ले कि मिट्टी के न रहने से हमारी क्या क्षति है,—देह यदि मान ले कि प्राण न रहने से हमारी क्या हानि है, तो इस प्रकार का मानना जैसे अज्ञान मूलक, ऐसा सिद्धान्त किया जाता है, ठीक इसी प्रकार जो भगवान् को परित्याग करके अपना अस्तित्व जागरित रखनेकी चेष्टा करते हैं उन्हें अज्ञानी शिशु के सिवाय और क्या कहा जा सकता है। अन्तर बाहिर भेद ज्ञान दूर होने पर, सर्वत्र हमारा ही अन्तर है ऐसा अनुभव प्राप्त करने पर, यह आश्रय आश्रित ज्ञान अवश्यम्भावी है।

अस्तु, जब अन्तर देश सर्वत्र स्वर्गीय ज्योति से—मा की लावण्यमयी अङ्ग प्रभा से भली भाँति प्रकाशित जान पड़ता है तब ही अन्तर स्वारोचिष होता है, तब ही जीव सुरथ नाम से समस्त क्षितिमण्डल का अधिपति होता है। सुरथ इस प्रकार स्वारोचिष-अन्तर-विशिष्ट साधक की जीवात्मा है। कठोपनिषद् में कहा है;—"आत्मानं रथिनं विद्धि देहन्तु रथमेवच"। आत्मा-रथी है; एवं देह-रथ है। जीवात्मा का यह देह रथ जब सुन्दर भाव से सजा हुआ रहता है तब ही जीव को सुरथ कहा जाता है। जबतक यह स्वारोचिषत्व प्राप्त नहीं होता है; जबतक स्वर्गीय ज्योति से हृदय प्रकाशित नहीं होता; जबतक जीव महामाया की जगन्मूर्ति विश्वास के साथ हृदयमें धारण नहीं कर

सकते; जबतक पूर्ण अस्तित्व ज्ञान के उज्वल प्रकाश से अज्ञानान्ध जीवों का हृदय राज्य प्रकाशित नहीं होता, तबतक जीव सुरथ नहीं हो सकता, सुरथ हुए बिना, मनु होने की आशा नहीं रहती। किस भाव से मा अपने स्नेह की सन्तान, जीवों को इस सुरथ स्वरूप में लाती है, उसका उल्लेख करते हुए महर्षि मार्कण्डेय कहते हैं—'चैत्रवंश समुद्भवः"। (चित्र+ष्ण=चैत्र)। विचित्र अनेक योनिमें भ्रमण करके—जड़ परमाणु से क्रमशः गुल्मलता वृक्ष कीट पतङ्ग पक्षी पशु जङ्गली असभ्य, अर्द्ध सभ्य आदि असंख्य योनि असंख्य वंश भ्रमण करके जीव सुरथ होता है—मनुष्य होता है।

महामाया मा अपनी जीव सन्तानको स्नेहमय गोद में धारण करके इस प्रकार असंख्य चित्र विचित्र वंशों में से, जब श्रेष्ठ वंश मानव कुल में लाकर उपस्थित करती है, जब मनुष्य सम्यक् ज्ञान के समीप पहुँचता है, जब असंख्य जन्म मृत्यु के घात प्रतिघात से, त्रिविध दुःख से बार बार चोट खाते खाते, माता के अस्तित्व में विश्वासवान् होता है; जब आध्यात्मिकादि तीनों दुःख की एकान्त निवृत्ति और अत्यन्त निवृत्ति के उपाय विषयक यथार्थ जिज्ञासा आरम्भ होती है, तब ही जीव सुरथ होता है। पक्षान्तर में, जीव जबतक भगवत् सत्ता में विश्वासवान् नहीं हो सकता—जबतक इस जगन्मूर्ति को महामाया नहीं समझ सकता, तबतक उसका देह रथमात्र रहता है; सुरथ नहीं होता।

मानव! एक बार अपने अतीत जीवन की ओर दृष्टि डालो। देखो कि जिस दिन तुमने प्रथम आनन्द के उच्छ्वास से क्षुद्रत्व का अभिनय करने की इच्छा की थी, जिस दिन तुम अपार आनन्दमय एकत्व से बहुत्व के आनन्द में लुब्ध हुए थे, उसी दिन—उसी मुहूर्त से महामाया मा ने तुम्हारी प्रकृति रूप से निवास करके तुमको गोद में लेकर विचित्र अनेक योनियों में उत्पन्न अनेक प्रकार की लीला कराकर, जीवश्रेष्ठ मानवकुल में लाकर उपस्थित कर दिया है।

तुमको सुरथ बनावेगी, तुम्हारा देहरथ सर्वेन्द्रिय-सामञ्जस्यपूर्ण असीम ज्ञान का आधार करेगी, हर समय गति रूप से उन्मादिनी की भांति तुमको गोद में लेकर दौड़ रही है। जबतक तुम तिर्य्यक् जाति (कीट पतङ्ग सर्पादि) में प्रवृत्ति मात्र से परिचालित होकर आगे बढ़ते जाते थे तबतक मा को नहीं पहचान सके तो कुछ हरज नहीं। अब मा ने तुमको प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों हाथों से आलिङ्गन द्वारा बांध रक्खा है, तुम्हारा देहरथ सुसज्जित किया है, अन्नमय कोष का कार्य्य सुसम्पन्न हुआ है, तुम सुरथ हुए हो। तुमने सम्पूर्ण क्षिति मण्डल पर आधिपत्य प्राप्त किया है, जड़ के ऊपर प्रभुत्व करने का अधिकार पाया है, तो क्या अब भी तुम मा को भूले रहोगे? अब भी मा को न देखोगे?

जिसने हमको जड़ परमाणु से ज्ञान के पूर्ण विकाशक्षेत्र में मानव-कुल में पहुँचाया है, जिसने हमारा अन्तरदेश स्वारोचिष कर दिया है, जिसकी स्वर्गीय अङ्ग ज्योति से हमारा हृदय राज्य प्रकाशित हुआ है; पीछे कहीं हमारे अहं कर्तृत्वाभिमान में विन्दुमात्र चोट न लगे, इस कारण, जो हमारे सब कार्य्य अपने हाथ से पूर्ण करके भी अपना कर्तृत्व हम से छिपाये रखती है; जो आड़ से अपार स्नेह प्रकाश कर धन्य करती है परन्तु मैं उसे प्रेम करने से ही अदृश्य हो जाती है, हाय! एक दिन के लिये भी हम उसको मा कह कर पुकार नहीं सकते! एक दिन के लिये भी सरलता पूर्ण हृदय से पुत्र की भांति उसका स्नेह, उसका आदर अनुभव नहीं कर सकते! जो हमारे जन्म मरण का साथी है, जो हमारे सुख दुःख का सखा है, जो हमारी अनन्त यात्रा का अद्वितीय सहचर है, जो हमारे देहरथ का एक मात्र सारथी है, जिसकी मङ्गलमयी इच्छा से हम मनुष्य हुए हैं, सुरथ हुए हैं, उस स्नेहमयी महामाया मा की ओर मुख फेर कर एक भी कृतज्ञता की दीर्घ निःश्वास नहीं छोड़ सके हैं! हमारे मनुष्य जीवन को धिक्कार है! धिक्कार है हमारी कृतघ्नता को!

कृतज्ञता प्रकाश करना तो दूर रहा। जिसे छोड़ कर और कुछ भी नहीं है, जिसके अस्तित्व से हमारा अस्तित्व है, उसके अस्तित्व में आज पर्य्यन्त सम्यक् विश्वासवान भी तो नहीं हो सके हैं! सरल प्राण से उसकी सत्ता भी नहीं देखी! हाय! तो भी मा हमारा कितना आदर और कितना स्नेह करती है! जानते हैं वह जो मा है, वह अपने अनुपम स्नेह का बदला नहीं चाहती है। उसका कार्य्य स्नेह स्तन्य दान है। उसे वह सदा करती है और करेगी। हम कृतघ्न हम अकृतज्ञ सन्तान हैं, पर तो भी वह हमें घृणा की दृष्टि से नहीं देख सकती, बल्कि अमृतमय स्नेह की सञ्जीवनी धारा से सदा ही सींचती रहती है और सींचती रहेगी। हाय! यह स्नेह, यह मातृत्व क्या वाणी द्वारा प्रगट किया जा सकता है! परन्तु वह दूसरी बात है।

जीव जब चैत्रवंश समुद्भूत होता है अर्थात् विचित्र अनेक योनि, अनेक वंशों में भ्रमण करके मनुष्य कुल में अवतीर्ण होता है, जब अन्तरराज्य स्वर्गीय ज्योति से प्रकाशित होता है—ज्ञान के निर्म्मल प्रकाश से प्रकाशित होता है—तब ही जीव सुरथ होता है, और सुरथ होने ही से समस्त क्षितिमण्डल का अधिपति होता है। क्षितिमण्डल शब्द से पार्थिव वस्तुएँ समझी जाती हैं। सुरथ होने ही से पार्थिव पदार्थों के ऊपर आधिपत्य करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। अन्नमय कोष वा स्थूल देह तब अनन्त ज्ञान विकाश के योग्य क्षेत्र होती है। सब इन्द्रियां सामञ्जस्य पूर्ण होती हैं, बुद्धि का विकाश-केन्द्र विकसित होता है, स्थूल सूक्ष्म का भेद प्रतीति योग्य होता है—सबसे प्रधान बात यह है कि ईश्वर में विश्वास होता है।

यहाँ पर साधन का आभास दिया जाता है—क्षिति मण्डल-शब्द का अर्थ मूलाधार चक्र है। गाढ़ रक्तवर्ण त्रिपुरक्षेत्र के बाहिर अष्टशूल से आवृत चतुष्कोण धरा वा क्षितिमण्डल अवस्थित है। यह अव्यक्ता प्रकृति की चरम परिणति हैं। गन्ध इसका तत्व है। मेरुदण्ड के निम्नभाग में इसका स्थान है इस चक्र के मध्य

भाग में "ॐ" यह क्षितिबीज अवस्थित है। मन्त्र चैतन्य करके गुरु के उपदेश किये हुए उपाय से उक्त बीज का ध्यान करने से अथवा उस केन्द्र में सत्यप्रतिष्ठा और प्राण-प्रतिष्ठा करने से विशिष्ट-विशिष्ट दर्शन वा अनुभूति प्राप्त होती है। कुछ दिन इस प्रकार अभ्यास के फल से, इच्छा मात्र ही मन को इस क्षितिमण्डल में ले जाकर निरूद्ध कर रक्खा जा सकता है। योगाभ्यास करने वाले साधकों को प्रथम ही "अङ्गमेजयत्व" वा अङ्ग विक्षेप स्वभावतः उपस्थित होता है, वह इस मूलाधार की विशिष्ट क्रिया से दूर हो जाता है। पार्थिव देह स्थिर भाव से स्थित रहती है। इसके सिवाय दो एक सिद्धि भी प्राप्त होती है! यही क्षितिमण्डल का आधिपत्य है।

तस्य पालयतः सम्यक् प्रजाः पुत्रानिवौरसान्।
वभूवुः शत्रवो भूपाः कोलाविध्वंसिनस्तथा ॥४॥

अनुवाद—वह औरस पुत्रों की भाँति प्रजा का पालन करता था। परन्तु वे ही उसके शत्रु होकर, स्वाधीनता पाकर कोला नामक राजधानी नष्ट करने को उद्यत हुए थे।

व्याख्या—"प्रकर्षेण जायन्ते आविर्भवन्ति वा इति प्रजाः भावाः"। प्रजा शब्द का अर्थ वृत्ति वा भाव है। अनेक प्रकार की योनियों में भ्रमण करके जीव जब सुस्थ होता है, जब पार्थिव देह वा स्थूल पदार्थों के ऊपर अधिकार प्राप्त करता है, अर्थात् जब जीव भावीय अहं ज्ञान की अन्तिम सीमा पर पहुँचता है, तब उन सब मनोवृत्तियों वा भावों को औरस पुत्रों की भाँति आत्मज समझ कर प्रतिपालन करता है। क्या अन्तर में क्या बाहिर में जितने प्रकार के भाव उदय होते हैं, "वह सब ही तो हमारे भाव हैं, सब ही तो हमारे आत्मज है, सब ही तो हम से उत्पन्न हैं, इस कारण इनका पोषण करना एकान्त कर्त्तव्य है"। इस प्रकार कर्त्तव्य बोध से पुरुषकार के, अहंकार के सुदृढ़ कार्म्मुक हाथों से, भावों की पुष्टि करने

में यत्नवान होते हैं; कारण कि जीव तब भी नहीं समझ सकता कि भाव मात्र ही महामाया का अनुभाव है। जब समझ सकेगा तब ही तो मनु हो जाएगा।

साधारणतः इस भाव समष्टि का नाम ही "हम" है। जिस प्रकार वृक्ष कहने से—उसकी शाखा प्रशाखा पत्ते फूल फल और उस पर बैठे हुए पक्षी आदि सब को मिलाकर एक वृक्ष समझा जाता है, उसी प्रकार मैं (हम) कहने से—हमत्व के साथ अच्छेद्य सम्बन्ध से जो कुछ है वह सब ही भाव मात्र है। साधारणतः मैं कहने से अनादि-जन्म सञ्चित संस्कार राशि विशिष्ट एक "मैं" को समझ सकते हैं। प्रथम तो मन बुद्धि आदि अन्तःकरण, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, सप्त धातु विशिष्ट स्थूल देह, इसके बाद—स्त्री, पुत्र, धन, विद्या, यश इत्यादि, इसके बाद सुख-दुःख, पाप-पुण्य, दया-क्षमा, हिंसा-द्वेष आदि; इस प्रकार जो कुछ है वह सब ही हमारे साथ जड़ दिया गया है, अथवा इस समय हम इन सब को ही "मैं" कह कर समझ रहे हैं। ये सब भाव त्याग देने पर भी यह "मैं" रह सकता है, हम पहले नहीं समझ सकते हैं, इसी कारण "मैं" की तृप्ति करने के लिये भावों का पोषण करते रहते हैं, यही है सुरथ का औरस पुत्रवत् अर्थात् अपत्यनिर्विशेष से प्रजा पालन।

औरस पुत्र सब से प्रियतम है। उरस् शब्द का अर्थ वक्षःस्थल अर्थात् हृदय है। हृदय से-आत्मा से उत्पन्न होने के कारण पुत्र को औरस कहा जाता है। आत्मा का—परम प्रेमास्पद प्रियतम का अंश है उसी से, जगत् की सब वस्तुओं की अपेक्षा आत्मज इतना प्रिय होता है। जागतिक भावों भी ठीक इसी प्रकार प्रियतम के साथ, आत्मा के साथ अच्छेद्य सम्बन्ध विशिष्ट हो पड़ते हैं; इसी से बाध्य होकर इनको औरस पुत्र की भाँति प्रतिपालन करना होता है। परन्तु अन्त में यही शत्रु हो जाते हैं। किस प्रकार हम भावों की पुष्टि करते हैं और किस प्रकार ये शत्रु हो जाते हैं, उसे स्पष्ट कहते हैं—

देखिये, बहुतेरे मनुष्य ही स्त्री, पुत्र, धन, यश और देहादि के पुष्ट करने में व्रती हैं। (ये सब भी भाव मात्र हैं, यह पूर्व्व विशेष भाव से कहा जा चुका है) उनके कारण जीव अपने तक को भूल जाता है। "किस प्रकार हमारा कुटुम्ब सुख से रहेगा, किस प्रकार हमारे पास बहुत-सा धन होगा, किस प्रकार हमारी देह सुन्दर और सुस्थ रहेगी, किस प्रकार मैं यशस्वी होऊँगा", किस प्रकार मैं जगत् का उपकार करूँगा", इत्यादि, भावों को बहुत दिन तक पुष्ट करने पर भी जब प्राण की यथार्थ तृप्ति नहीं होती, तब देखते हैं—वही दिन जीव-जीवन का प्रथम शुभ दिन है—मैं जिनके पालन-पोषण में सदा लगा रहता हूँ वे वास्तव में मेरे आत्मीय नहीं हैं—शत्रु हैं। और यह भी देखते हैं कि वे (भाव) "भूप" अर्थात् राजा हो बैठे हैं; कारण कि अब तो भावों के द्वारा ही मैं परिचालित हो रहा हूं। उनके इशारे से, उनकी इच्छा से मैं चलता हूं, उनके आदेश के बिना मुझे एक पद भी आगे चलने का उपाय नहीं है। इस प्रकार जितनी आँखें खुलती जाती हैं, उतना ही देखता है कि सर्वनाश! यह भावों मुझको आत्मराज्य से अलग करने को तैयार हुए हैं। पूर्व तो मैं भावों का प्रतिपालक, राजा था। अब देखता हूँ कि भाव ही मेरे राजा हैं। उन्होंने कोला नामक राजधानी में, चित्तक्षेत्र में, प्रवेश करके समूल विध्वस्त करना आरम्भ कर दिया है। हाय! जिस प्रजावृन्द की सुख स्वच्छन्दता के लिये मैंने अपने सर्वस्व की बाजी लगा दी थी, चाहे प्राण चले जायें परन्तु ये तृप्त रहें इसी ध्वनि में रहता था, जिन जागतिक भाव राशियों को पूर्णत्व में पहुँचाने के लिये जीवन भर चेष्टा की थी, इस समय वही हमारे शत्रु हैं! अब वे ही हमारे परिचालक हैं।

प्रभात से सन्ध्या और सन्ध्या से पुनः प्रभात पर्य्यन्त इस प्रकार हम भाव राशियों द्वारा परिचालित होते हैं। क्षुधा, तृष्णा, निद्रा आदि दैहिक, स्त्री पुत्रादि सांसारिक, धन यश आदि जागतिक और

दया क्षमा सन्ध्या वन्दना उपासना आदि परमार्थिक भाव-राशियों ने सदा हमको चञ्चल कर रक्खा है। यह अवस्था जिसे दृष्टि पड़ती है, जो इस चिरपराधीनता को प्रत्यक्ष करता है वह क्या फिर निश्चिन्त रह सकता है? यह भावचाञ्चल्य वा प्रजावर्ग की विरोधिता गुरुकृपा से जिसके हृदय में विष की अग्नि फैलाती है वही वास्तव में विषादयोगी है। गीता का विषादयोग देवीमाहात्म्य में चरम अवस्था में उपस्थित हुआ है। अगले श्लोक में वह स्पष्ट होगा।

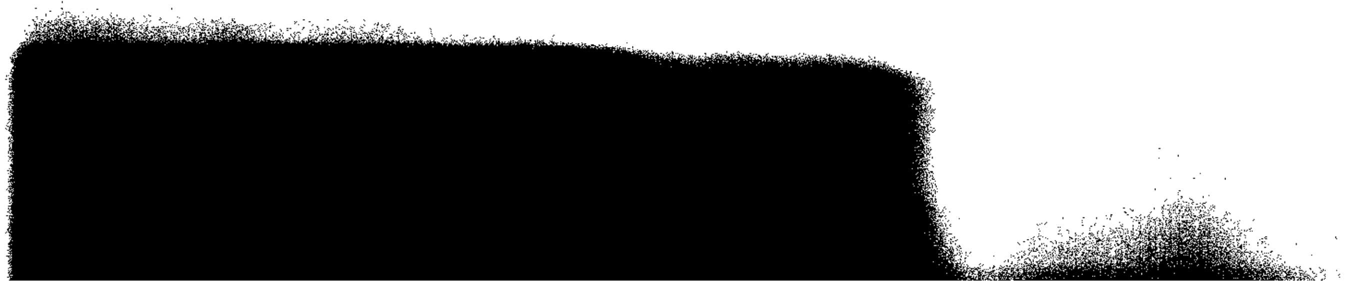
जीव! तुम एक बार देखो—अपने चारों ओर दसों दिशा में, अन्तर में बाहिर में एकबार भली भाँति निरीक्षण करो। संसार-संस्कारश्रेणी तुम्हें किस प्रकार चलाती है। किस भाव से तुम्हें दिन-रात गर्दभ की भाँति बोझे से लादती है। तुम्हारे ही यत्न से तुम्हारे ही आदर से प्रतिपालित—परिपुष्ट है, तुम्हारी ही अपनी इच्छा से की हुई विषयवासना, तुम्हारे आनन्दलीला के सहचर स्त्री पुत्रादि ने किस प्रकार तुमको अधीनता से जकड़ लिया है। तुमसे उठने को कहते हैं तब उठना होता है, बैठने को कहते हैं तब बैठना होता है, मरने को कहते हैं तब मरना होता है ऐसा ही तुम भावों के अधीन हो रहे हो। इस अवस्था का विशेष अनुभव करने की चेष्टा करो। चाहे तुम अतुल ऐश्वर्य के अधिकारी हो, चाहे पार्थिव सब प्रकार के सुख से सुखी क्यों न हो; परन्तु एक बार अपने चित्त क्षेत्र—अपनी राजधानी की दुर्दशा देखो—एक के बाद एक, भाव आकर पवन से चञ्चल समुद्र की लहरों की भाँति तुम्हारी शान्ति के किनारों में सदा टकराते रहते हैं। बड़े आदर से—बड़े स्नेह से प्रियतम शिशुपुत्र को छाती से लगा कर चूमते हो, स्नेह की अमृत धारा से आत्माहारा हो जाते हो; परन्तु क्षणभर में ही फिर दूसरा भाव आकर तुम्हारे चित्तक्षेत्र अधिकार कर लिया है और तुमको उस आनन्द से भ्रष्ट कर दिया है। आहार करने बैठे—अच्छा इसी को करो। जगत् का सर्वप्रधान भोग—आहार है। मां ने तुमको खाने का सुयोग दिया

है, अनेक प्रकार की भोज्य सामिग्री तुम्हारे सामने है, उदर में भूख भी तीव्र है। भलीभाँति स्थिर होकर आहार से उत्पन्न तृप्ति भोग करो; परन्तु हाय! वह भी तो नहीं कर सकते। दो बार मुख में अन्न देते न देते कितनी चिन्ता, कितनी व्यस्तता, कितनी उत्कण्ठायें आकर तुम्हारे भोग में बाधा उत्पन्न करती हैं, तब फिर आहार नहीं है, तृप्ति नहीं है, एक नित्य का अभ्यस्त कार्य होता है। इसी प्रकार सर्वत्र—एक भाव पूर्ण नहीं होता तबतक दूसरा आकर उपस्थित हो जाता है! भाव राशियाँ हर समय हमारे कान पकड़ कर उठो बैठो कराती रहती हैं। कान तोड़ देने से हरज नहीं है, परन्तु उनकी आज्ञा पालन करना ही होगा! न तुम उठ सकते हो न बैठ सकते हो। उठते-उठते बैठने का हुक्म होता है, फिर बैठने का उद्योग करते ही उठने का हुक्म होता है; इससे अधिक जीव की और क्या दुर्दशा हो सकती है?

अच्छा देखो—जो इस प्रकार से अपनी स्थिरता में व्याघात उत्पन्न करतें हैं, जो अपनी नित्य शान्ति प्राप्ति के मार्ग में विघ्न रूप हैं, उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? अहो! यह जो राजा प्रजा सम्बन्ध है! मैं ही तो राजा हूं, मैं ही प्रतिपालक हूं! और आज—वे ही मेरे "शत्रवो भूपाः"। केवल शत्रु और स्वाधीन होकर ही चुप नहीं हुए हैं बल्कि मेरी राजधानी कोलानगरी अर्थात् चित्तक्षेत्र पर्य्यन्त विध्वस्त कर रहे हैं। हाय! सुरथ की कैसी दुर्दशा है! साधक! यदि सुरथ हुए हो तो तुम भी इसी प्रकार प्रजा वृन्द के अत्याचारों से पीड़ित होते हो, इस में कुछ सन्देह नहीं।

तस्य तैरभवद् युद्धमतिप्रबलदण्डिनः।
न्यूनैरपि स तैर्युद्धे कोलाविध्वंसिभिर्जितः॥५॥

अनुवाद—तब अतिप्रबल दण्डधारी राजा सुरथ के साथ उनका युद्ध हुआ था। सुरथ की अपेक्षा हीन बल होने पर भी कोला विध्वंसि जनों द्वारा इस युद्ध में वह पराजित हुआ।



व्याख्या—जीव जब भावराशि द्वारा अपने पैरों को पुर्णभाव से जंज़ीर से जकड़े हुए देखता है तब स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये अत्यन्त व्याकुल होता है। भावों के अत्याचार से किस प्रकार छूट सके, यह विचार प्रबल भाव से आता है। तब वह एकदफे दोनों पक्ष का बलाबल निरूपण करने की चेष्टा करता है। प्रथम तो आत्मबल देखकर अपने को अति प्रबल दण्डधारी मानता है, कारण की प्रजा वृन्द वा भावराशि तो हमारी इच्छा से उत्पन्न है, हमारे ही यत्न से परिपुष्ट है, हमारे ही बल से बली है! मैं यदि इनके विरुद्ध खड़ा होऊँ, मैं यदि इनको कठोर दण्ड देऊँ, अर्थात् चित्त क्षेत्र से भावराशि को निकाल दूं, अथवा वृत्तियों के निरोध पूर्वक भाव विकाश का अवसर न देकर एकदम जड़ से नष्ट कर दूं, तो थोड़े ही श्रम से मेरा अभीष्ट सिद्ध हो सकता है। उसके बाद दूसरे पक्ष का बल देखने से जाना जाता है कि भाव पक्ष हमारे पक्ष से कम है—हीनबल है; कारण कि हमारी ही सत्ता से उसे सत्ता मिली है, वह हमको जिस प्रकार चलाता है, हम इच्छा करके ही तो उसी प्रकार के आचरण करते हैं, हम यदि उनको इस प्रकार का अवसर न दें तो फिर भाव पक्ष की प्रबलता कहाँ रहे? इस प्रकार दोनों पक्ष के बल का विचार करने पर जब आत्म पक्ष प्रबल और विरुद्ध पक्ष दुर्बल देखा जाता है तब बड़ी तय्यारी से युद्ध का उद्यम होता रहता है। अनेक प्रकार के योग, हठक्रिया, प्राणायाम, ज्योतिर्धारण, निरामिष आहार, ब्रह्मचर्य्य गृहस्थ का त्याग, सन्यास अवलम्बन इत्यादि अनेक प्रकार के उद्योग भावों को निर्मूल करने को उद्यत होते हैं। प्रायः सब ही वृथा हैं। हाय! मुग्ध (मोहित) जीव तो भी नहीं समझ सकते कि भाव राशि महामाया का ही अनुभाव है। महामाया की कृपा बिना इस भीषण भाव-समर में विजयी नहीं हुआ जाता है।

मैंने भी एक दिन इस प्रकार आयोजन से भाव-समर में विजयी होकर, आत्मराज्य प्रतिष्ठा करने को उद्यत हुआ था। अनेक चेष्टा,

अनेक उद्यम, न जाने क्या-क्या किया, परन्तु सब निष्फल हुआ। एक बार मन में आया कि—अबकी बार मैं भाव-समर में विजयी हुआ। आहा! थोड़ी ही देर में देखा कि भावों के द्वारा मेरा सर्वस्व लुट गया। यह भावों की चञ्चलता ऐसा भयानक कठोर शत्रु है कि जिसने इनका अनुभव किया है, केवल वही समझ सकता है, वाणी द्वारा दूसरे को नहीं समझाया जा सकता है।

अपने जीवन की एक घटना संक्षेप में कहे बिना नहीं रहा जाता है। उस समय विवाह मात्र हो गया था। पढ़ना समाप्त करके अर्थोपार्जन आरम्भ करके विवाह बन्धन से बंध गया था। एक दिन रात के समय शयन करने गया तो क्या देखता हूं कि—नवोढ़ा वधू निद्रा में मग्न है, उसी समय अपनी बन्धन दशा के विषय की कुछ गम्भीर चिन्ता हुई। जीवन की भूत भविष्यत और वर्तमान दशा का विषय विचारते विचारते सो गया अथवा तन्द्रा वश हुआ, अथवा जाग रहा था, यह नहीं मालूम। तो अकस्मात् क्या देखा कि सम्मुख में अपूर्व ज्योतिर्म्मयी मातृ मूर्ति, मन्द मुसक्यान मुख से खड़ी हुई है। उसने हँसते-हँसते मुझसे कहा कि—देखता है, तुझे किस प्रकार बांध लिया है। वह हँसी और कण्ठस्वर स्नेह करुणा प्रकाशक होने पर भी उपहास रूप था। मैंने देखा कि—सचमुच मैं दृढ़ भाव से बंध गया हूं, उस बन्धन की दशा कैसी भयानक है! दोनों पांव दोनों टांग, कटि, उदर, छाती, कण्ठ, दोनों हाथ, दोनों बाहु और सिर प्रत्येक अङ्ग पृथक्-पृथक् भाव से मजबूत रस्सी से बधा हुआ है। केवल यही नहीं, उन रस्सियोंका प्रत्येक सिरा एक मज़बूत खूंटे से बांधकर धरती में गढ़ा हुआ है। मेरे हिलने-डुलने का कुछ भी उपाय नहीं है, किसी अङ्ग को बिन्दुमात्र भी चलाने की शक्ति नहीं है। ऐसे भाव से मैं बंधा पड़ा हूं।—अपनी ऐसी दशा में भी मुझको किसी प्रकार का भय वा कष्ट नहीं जान पड़ता है, बल्कि थोड़ा-थोड़ा हँसता हूं; कारण कि सामने

करुणामयी देवी मूर्ति के दर्शन से उस समय एक ऐसा आनन्द जान पड़ता था कि बन्धन की पीड़ा ही नहीं जान पड़ती थी। फिर वह कण्ठस्वर, उस स्नेह करुणा और उपहासपूर्ण कण्ठ से उच्चारण हुआ—"देखता है तुझको किस प्रकार बांधकर डाल दिया है"। मैंने हंसते हंसते कहा—"हाँ देखता हूं, परन्तु यह अधिक बन्धन क्या है! इच्छा करूँ तो इसे अभी तोड़ सकता हूं"। सचमुच ही मेरी समझ में यह आता था कि मैं इच्छा पूर्वक बंध गया हूं, एक दफे बल प्रयोग करने से इन बन्धनों को तोड़ सकता हूँ। उसने हँस कर कहा "ईं, इतनी सामर्थ्य! तोड़ दो देख! मैं यदि न तोड़ दूं तो तू कुछ भी न कर सकेगा"। मैंने फिर कहा कि "इसमें अधिक कहना ही क्या है! यह देखो अभी सब बन्धन टूटते हैं"। यह कहकर ज्योंही बल प्रयोग करने को तय्यार हुआ, त्यों ही मेरा कण्ठ रुक गया, स्वास बन्द हो गया। बन्धन और भी कठिन हो गया, अव्यक्त पीड़ा से अस्थिर हो गया; बड़ा भय हुआ। कातरता प्रकाशक गों-गों शब्द इतना अधिक होने लगा कि समीप के घर में सोई हुई पूज्य माता जी की निद्रा भङ्ग हो गई। वह दौड़कर आईं और मुझे पकड़ लिया। तब फिर कुछ नहीं, देवी मूर्ति हँसते-हँसते अदृश्य हो गई, बन्धन का चिह्न मात्र भी नहीं रहा; परन्तु भय और पीड़ा से मेरा कण्ठ सूख रहा था। बड़ी देर पीछे सुस्थ हुआ।

ऐसा ही होता है—हम प्रथम आत्म बल का प्राधान्य देख कर, अहंकर्तृत्व के अभिमान से फूलकर, भावों के सुदृढ़ बन्धन काटने को तय्यार होते हैं, परन्तु तो भी यह नहीं समझते कि भाविनी हमारी मा जबतक अपनी तलवार हाथ में लेकर समराङ्गण में अवतीर्ण न होगी तबतक ये भावासुर नष्ट न होंगे। जबतक रोग, शोक, दारिद्र्य अत्याचार, पीड़न, विषयचाञ्चल्य, जन्म, मृत्यु आदि भाव राशियों की ओर साधक की दृष्टि रहती है, जबतक वह समुद्र न देखकर लहरों की पंक्ति मात्र देखता है, जबतक भाविनी को न देख कर

भावमात्र को देखता है, तबतक मा हमारी इच्छा से ही इस भाव-विद्रोह को उपस्थित कराये रहती है। भावराज्य में ऐसी विद्रोहाग्नि प्रज्वलित किये बिना, जीव सदा क्षुद्रत्व में जगत् की धूलि में ही मुग्ध रहते। आत्मशक्ति, आत्मराज्य, आत्ममहत्व, अमृतत्व को भूल जाते। महामाया मा पुत्र को कभी अपूर्ण नहीं रहने देगी, वह केवल इस अपेक्षा में है कि किस प्रकार हमारी छोटी छोटी इच्छाओं में से इस परिछिन्न भावाधीनता में से अपनी महती आकर्षणी-शक्ति प्रवाहित करे। क्या करने से हम सचमुच निष्कपट प्राणों से शिशु की भाँति मा कहकर रोने लगेंगे। किस प्रकार हमको पूर्ण स्वाधीनता के क्षेत्र में—मुक्ति के हिरण्यमय मन्दिर में स्थान देवे,—इसी से भाव रूपिणी मा हमारे विरुद्ध आचरण करके स्पष्ट भाव से समझा दे रही है कि हमारे हाथ पांव सहस्र जंजीर से जकड़े हुए हैं। यह प्रजा विद्रोह नहीं है—मा का मङ्गलमयी महती इच्छा का पूर्व्ववर्ती क्रूर उद्योग मात्र है।

मा सुरथ को—हम को विशेषभाव से पकड़ पकड़ कर समझा देती है कि हम किस प्रकार कठोर बेड़ियों से सदा बंधे रहते हैं और बंध रहे हैं। अपनी अस्वतन्त्रता का जितना बोध होता रहेगा, उतने ही हम जीवत्व से मुक्त होने के लिये—स्वाधीन होने के लिये लालायित होंगे। इस जगत् में पूर्ण स्वाधीनता असम्भव है। ऐसा आत्मीय, ऐसा मित्र कोई नहीं है कि जिसके पास सब प्राण खोलकर स्वाधीन व्यवहार से सन्तोष प्राप्त कर सकें। स्त्री पुत्र, माता पिता, मित्र चाहे कोई भी क्यों न हो, उनके साथ व्यवहार करने से हमको बहुत कुछ उन्हीं की इच्छानुसार चलना होता है। अपने प्राणों को एक तरफ संकुचित रख देना होता है। देखिये—स्त्री के साथ माता की भाँति व्यवहार नहीं चलता, पिता के साथ मित्र के समान व्यवहार नहीं चलता, मित्र के साथ पुत्र के समान व्यवहार नहीं चलता। इसी प्रकार जगत् में सर्वत्र है। ऐसा कोई नहीं है कि जिसके साथ हम अपने सब भावों का लेन-देन कर सकें; परन्तु जहाँ मैं स्वाधीन हूं,

जहाँ मेरे प्राणों को तिलभर भी सङ्कोच प्राप्त नहीं होता, वह एक मात्र स्थान हमारी मा है। हमारी पूर्ण स्वाधीनता का क्षेत्र है। वही हमारा पिता है, वही हमारी माता है, वही हमारा सखा है, वही हमारा बन्धु है; वही हमारा गुरु है, वही हमारा प्रभु है, वही हमारा पुत्र है, वही हमारी कन्या है, वही हमारी भार्य्या है, वही हमारी दासी है, वही हमारी सखी है, वही हमारा आत्मीय है, वही हमारा प्राण है, वही हमारी आत्मा है, वही हमारा सर्वस्व है, वही हमारा सर्व है। प्राणों के समस्त कपाट खोलकर निःसङ्कोच बात कहने का, निःसङ्कोच व्यवहार करने का एक मात्र स्थान—महामाया मा है। मैं जिस प्रकार कहने से तृप्त हो सकता हूँ, हमारी मा तत्क्षणात् उसी भाव से हमारे साथ व्यवहार करती है। उसका अपना कोई विशिष्ट भाव नहीं है! वह तो भावातीता है। केवल पुत्र स्नेह से आत्म विस्मृत होकर, भाव भाव से हमारी तृप्ति साधन में सदा निरता रहकर भावाधीनता के हाथ से हमको सदा मुक्त कर देने के लिये धीरे-धीरे उन्होंने यह भाव-विद्रोह की तैयारी की है।

क्या तुम जानते हो कि मा हमें क्यों मुक्त करेगी? मुक्त न होने से मा हमको दिल भर कर प्यार नहीं कर सकेगी। मुक्त न होने से प्राण भरकर आदर नहीं कर सकेगी। मुक्त न होने से मुझे भी इतना स्नेह भोग करने को स्थान नहीं मिलता। हमारा छोटा-सा हृदय है; उसमें वह उदार अपार स्नेह प्रेम कैसे रख सकेगी। जिस प्रेम के स्थिर स्रोत का एक बिन्दु पकड़ लेने से, अनन्त देव सहस्रशीर्ष हुए हैं, जिस प्रेम की एक बूँद पाकर सूर्य्यदेव सहस्र किरणों से प्राण-शक्ति वितरण करते हैं, युग युगान्तर से "आपोज्योतीरसोऽमृतम्" रूप स्नेह धारा ढाल कर जीवों को संजीवित करते हैं, जिस प्रेम की एक बूँद पाकर विश्व ब्रह्माण्ड के अगणित जीवों के प्राण में प्रेम नाम से एक अमर सम्वेदन फूट निकलती है, जिस प्रेम के एक बिन्दु का सहस्रांश पाकर हमारी गर्भधारिणी माता पुत्र

स्नेह से व्याकुल हो गई है, जो इस प्रेम का केन्द्र, जो इस समस्त प्रेम का एक मात्र आधार, उस महामाया मा का प्रेम भोग करें वह आधार कहाँ ! वह पात्र कहाँ ! अरे ! हमारा हृदय तो इतना छोटा है कि एक बिन्दु से ही भर जाता है; तब वह अनन्त प्रेमसिन्धु किस प्रकार धारण कर सकेगा ! इसी से, हमारी मा मुक्त हमें करेगी। हमको विशाल-अनन्त कर लेगी। हमारे समस्त बन्धन काट कर अमृत की स्नेहधारा अनन्तकाल पान करायेगी, इसी कारण यह भाव-विद्रोह—यह कठोर आयोजन (तय्यारी) है।

समझ लिया, मा की इस भावविद्रोहरूप मर्म्मभेदी अशान्ति में अनन्त शान्ति छिपी हुई है, जाना कि मा—इस प्रकार बन्धन—पीड़ा का अनुभव कराकर मुक्ति की ओर खींच लेरही है; जाना कि मा—बन्धनज्ञान पूर्णमात्रा में प्रकाशित न होने से, मुक्तिरूप सुवर्ण-कमल नहीं खिलता है; जाना कि मा—हमारे ही महामङ्गल के लिये तुमने हमारी प्रजा को हमारे विरुद्ध उत्तेजित करके अपार बलवान् किया है। सब जान लिया मा—तो भी क्षणभर का विलम्ब युगान्तर जान पड़ता है। कब इस देहेन्द्रिय मन बुद्धि अहङ्कार के आधिपत्य से सदा के लिये मुक्त होकर, सदा शान्तिमय अनन्त स्वाधीनता के क्षेत्र में अपार स्नेहसमुद्र में सदा के लिये निमग्न होऊँगा ? कब—मा कब ? उस दिन में अभी कितनी देरी है ! हमारी कालातीता मा ! कब इस कालप्रवाह की अगणित तरङ्ग भङ्ग से दृष्टि दूर होकर महामुक्त क्षेत्र में प्रसारित होगी ?

अस्तु, युद्ध अवश्यम्भावी है ! जब औरस पुत्र के समान प्रतिपालित प्रजागण राजा सुरथ को राज्यच्युत करने को उद्यत हुए हैं, तब युद्ध अनिवार्य्य है। सुरथ एक बार अन्तिम चेष्टा करके देखा भावराशि को सदा के लिये विध्वस्त करने को उद्यत हुआ; परन्तु सब निष्फल ! भावसमूह जयी हुए। जीव भावसमर में पराजित हुए। भावों को हीनबल मान कर, जीव ने समराङ्गण में उतर कर वृत्ति-

निरोध की चेष्टा की थी; परन्तु "न्यूनैरपि स तैर्जितः"। क्यों यह पराजय संघटन हुआ—प्रबल पराक्रमी सुरथ के साथ समर में उसके अधीन रहने वाले दुर्बल क्षुद्र भावों की किस प्रकार जय हुई, श्लोक में "कोलाविध्वंसिभिः" इस हेतुगर्भ विशेषण द्वारा वह व्यक्त हुआ है। अर्थात् भावसमूह पूर्व से ही कोलानगरी—सुरथ की राजधानी पर अधिकार कर बैठे थे! जब एक के बाद एक आकर अनेक जन्म जन्मान्तर से भावों के अंकुर समूह चित्त क्षेत्र में उदय होते थे, तब तो उनका विनाश किया नहीं गया! बल्कि उनपर जल सींचकर उन क्षुद्र अंकुरों को तब तो पुत्र की भाँति पालन किया गया था। अब वे परिपुष्ट, बलवान् और बहु संख्यक हो गये हैं, चित्तक्षेत्र में घर कर लिया है (बना लिया है)। फिर तो उनको हटाना असम्भव ही है; इस कारण सुरथ पराजित हो गया।

ततः स्वपुरमायातो निजदेशाधिपोऽभवत्।
आक्रान्तः स महाभागस्तैस्तदा प्रबलारिभिः ॥६॥

अनुवाद—अनन्तर (भावसमर में पराजित होकर) सुरथ अपने नगर में आकर केवल अपने देश का अधिपति हुआ; परन्तु वह महासौभाग्यवान् है; इस कारण तब भी पूर्वोक्त प्रबल शत्रुओं ने उस पर आक्रमण किया।

व्याख्या—यह पूर्व कहा गया है कि—क्षितिमण्डल शब्द से मूलाधार चक्र समझा जाता है। जीव इस मूलाधारचक्र में चित्त स्थिर कर सकने से, शारीरिक चञ्चलता के हाथ से कुछ निस्तार अवश्य पाता है, परन्तु भावों की चञ्चलता दूर नहीं होती। तब क्रम से स्वाधिष्ठान और मणिपुर में चित्त स्थिर रखने का यत्न करता है, परन्तु वहाँ भी भावों के साथ विरोधिता से पराजित होने होता है, तब अगत्या (विवश) स्वपुर में—हृदय में—दहर पुण्डरीक में आश्रय लेना होता है। हृदय ही जीवात्मा का निवास स्थान है। वेदान्त ने

हृदय शब्द का अर्थ "हृदि अयं इति हृदयः" किया है। हृदय ही आत्मा का विशेष अनुभूति का स्थान है। यह हृदय ही सुरथ का स्वपुर है। पूर्व्व उसने यहीं से राज्य-विस्तार किया तथा क्रम से मणिपुर और स्वाधिष्ठान अतिक्रम पूर्व्वक यह क्षितिमण्डल—मूलाधार पर्य्यन्त गया था। स्वभावतः जीव का मन इन नीचे के तीन केन्द्रों ही में विचरण करता है, इन्हीं स्थानों में जीवभाव का पूर्ण विकाश होने पर फिर महामाया की कृपा से भावविद्रोह उपस्थित होता है। भाव समर में पराजित होकर, जीव फिर अपने स्थान की ओर आगे बढ़ता है। क्रम से सवत्र पराजित होता है, तब अनन्योपाय होकर स्वपुर का आश्रय लेता है।

अनेक सुकृतों के फल से—मा की अपार कृपा से जीव इस स्वपुर (अपने नगर) का पता पाता है। साधारणतः जीव ऐसा आत्मविस्मृत हो पड़ता है कि, "स्व" क्या वस्तु है उसी को भूल जाता है। जगत् का मोह—बहुत्व की आनन्द-क्रीड़ा, जीव को स्वपुर से हटाकर बहुत दूर ले जाती है। संसार संस्कार श्रेणियाँ (पंक्तियाँ) डाकुओं की भांति—विद्रोहीरूप से जब सर्वस्व छीन लेती हैं जब आत्मशक्ति आत्मराज्य आत्मस्मृति पर्यन्त विस्मृत हो जाती है, तब जीव फिर धीरे-धीरे उस लोप हुई स्मृति के पुनः जगानेके लिये यत्नवान् होता है। तब एकबार भावों के अत्याचार से बचने के लिये स्वपुर का आश्रय लेता है—"मैं कौन हूँ" उसे स्मरण करने के लिये एकबार प्राणपण चेष्टा करता है।

संसारक्षेत्र में भी देखते हैं कि—बारम्बार पुरुषकार की निष्फलता देखकर, पुनः पुनः आशाभङ्ग और अचिन्तित घटनाओं की पीड़ा से पीड़ित होकर, पुनः पुनः जन्म मृत्यु के कोड़ों की चोट से व्यथित होकर जीव भगवत् मुखी होता है—ईश्वर में विश्वासवान् होता है। ईश्वर में विश्वासवाला होना और अपने की खोज करना एक ही बात है। आत्मस्मृति जागरित होने से ही जीव स्वपुर में प्रवेश करने को उद्यत

होता है—स्वकीय महान् स्वरूप पुनः प्राप्त करने के लिये चेष्टा करता है। सब प्रकार के भावों की चञ्चलता के हाथ से छूटने के लिये लालायित होकर, जीव जब स्वस्थान में—अनाहत केन्द्र में आत्मसंस्थ होने को उद्यत होता है, तब वहाँ पर भी देखता है कि प्रबल शत्रु यहाँ आकर भी आक्रमण करते हैं। कठिनता से त्यागने योग्य संसार संस्कार त्रेणी के आक्रमण से बचने के लिये, इतनी दूर आकर भी जब आत्मसंस्थ नहीं हो सकता, तब जीव हताश (ना उमेदी) की अत्यन्त नीची सीढ़ी पर उतरता है। हाय! ऐसे क्षेत्र में आकर कितने साधकों के पैर उखड़ गये, कितने ही साधक अवसाद के घोर अन्धकार से आवृत्त हो गये, कितने ही साधक यहाँ पहुंचकर "भगवत्-प्राप्ति" अति दुरूह व्यापार है ऐसा कहकर घोषणा करते हैं।

अधिकांश साधक अपने हृदय-पद्म में इष्टमूर्ति को ध्यान की सहायता से बिठाने में चित्त की चञ्चलता के कारण सफल नहीं हो सके हैं। जिन्होंने इसमें सफलता प्राप्त की है, उन्होंने भी क्षणभर में बड़ी इच्छा की, बड़े आदर की श्रीमूर्ति गंवा दी है और हताश हो जाते हैं। जो विशिष्ट मूर्ति का भ्रम अतिक्रमकर आत्म स्वरूप में स्थित होने के प्रयासी हैं, वह भी निर्म्मल प्राणों को शान्त करने वाली बुद्धिज्योति के दूसरी पार स्थित उस महान् चैतन्य समुद्र में स्नान करने पर क्षणभर में विषयाकार में आकारित हो जाते हैं। जिन्होंने उस चित् समुद्र में प्रवेश करने की सामर्थ्य प्राप्त की है, वे भी समाधि से विच्युत होते हैं। इस प्रकार सर्वत्र भावराशि वा प्रजासमूह की अत्याचार कहानी साधकों के मुख से सुनी जाती है। इस अत्याचार, इस भावचञ्चलता को दूर करने के लिये फिर अनेक प्रकार के आयोजन उद्योग का विधान है। वृत्तिनिरोध हठ-योग प्राणायाम प्रत्याहार आदि अनेक उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं। भिन्न-भिन्न रुचि के साधकगण यहाँ तक आकर स्वपुर में आश्रय लेकर भी जब संस्कार-श्रेणी द्वारा पीड़ित होते रहते हैं, तब अपनी

अपनी रुचि अनुसार एक-एक कौशल के आधार से बाधा निवारण को उद्यत होते हैं। शायद उस कौशल को सीखने में—भावसमूह के अत्याचार निवारण करने में दो तीन जन्म व्यतीत हो जायं। बगीचे को घेरते-घेरते ही जीवन व्यतीत हो जाने से—फूलों की सुगन्ध न जाने कब ग्रहण करोगे ? बाधा निवारण करने में ही यदि जीवन का अधिकांश समय बीत जायगा, तो फिर मातृ लाभ कब करोगे ?

परन्तु—तुम माता का अन्वेषण करने वाले शिशु हो ! तुम अमृत के प्यासे जीव हो ! तुम उन विघ्नबाधाओं की ओर क्यों दृष्टिपात करोगे ? तीर्थयात्री जब बहुत दूर चलते चलते थक कर हिरण्यमय तीर्थमन्दिर की ऊँची ध्वजा दूर से देख लेता है, तब क्या फिर मार्ग की थकावट की ओर अथवा पांव में कांटे विध जाने की पीड़ा की ओर लक्ष्य करता है ? यदि लक्ष्य पड़े और उसका उपाय करने को तय्यार हो, तो उसको तीर्थ दर्शन में बिलम्ब अवश्यम्भावी है। जिनपर ऐसे अत्याचार आक्रमण आते रहते हैं, वे जिससे हताश न हो अथवा बाधा निवारण के उद्देश्य से सम्पूर्ण प्रयत्न खर्च न कर डाले, इसी कारण महर्षि उच्चकण्ठ से आशा की मोहन वाणी सुनाते हैं। सुनिये "आक्रान्तः स महाभागः"—कारण कि वह (सुरथ) महा सौभाग्यवान् है, इसी कारण स्वपुर में भी शत्रु का आक्रमण है। इसी प्रकार के भाव से शत्रु द्वारा स्वपुर में आक्रान्त जीव अत्यन्त भाग्यवान् है। साधक मात्र को ही इस प्रकार भावराशि द्वारा अन्त तक आक्रान्त होना ही होगा, एवं यह आक्रमण ही सौभाग्य की सूचना कर देता है। ऋषि ने महाराज सुरथ को दुर्भाग्य कह कर घोषणा नहीं की, परन्तु यदि साधारण दृष्टि से देखा जाय—सुरथ अति भाग्यहीन है; कारण, राज्यभ्रष्ट शत्रुओं के अत्याचार से पीड़ित; स्वपुर में भी सुस्थ होकर रहने का उपाय नहीं; वहाँ पर भी अपत्य-निर्विशेष से प्रतिपालित प्रजाजनों का अयथा आक्रमण है; इसकी अपेक्षा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ? परन्तु तथापि सुरथ को "महाभाग" कहा गया है।

साधक मात्र को ही इस प्रकार की एक अवस्था आती है। कुछ भगवत् मुखी होने से, प्राण में यथार्थ ही माता के अन्वेषण का भाव कुछ फूटने से, उसकी चारो ओर से अनेक प्रकार के उपद्रव आकर उपस्थित होते हैं। रोग, शोक, दारिद्र्य, बन्धु विच्छेद आदि घटनायें आकर साधक को चञ्चल कर डालती है। उन चञ्चलताओं का अतिक्रम करके साधक जब धीरे-धीरे अग्रसर होकर थोड़ा थोड़ा करके भगवत्रस का आस्वाद पाता है, तब और भी विषम समस्या होती है—एक ओर तो जगद्भाव उसे फिर अच्छे नहीं लगते हैं; मानो जगत् भोगों के ऊपर कड़वी औषध लगा दी गई है ऐसे जान पड़ते हैं। इस कारण अत्यन्त अनिच्छा से जगत् के भोगों को ग्रहण करना होता है; तो भी दूसरी ओर भगवत् मुखी गति भी विशेष खरतर मन में आती नहीं। जैसे एक तरफ तो मा को नहीं पाता और दूसरी तरफ संसार भी उसे अच्छा नहीं लगता। इस तरह दोनों ओर से आक्रान्त साधकों के मर्म्म स्थान के मानो सैकड़ों टुकड़े होते रहते हैं। इस प्रकार के क्षेत्र में पहुँचे हुए निराश हृदय साधक के मन में पूर्ण साहस और आशा के सञ्चार के लिये ही मन्त्र में "महाभाग" शब्द का उल्लेख हुआ है।

जो मातृमुखी हुए हैं, जिन्होंने मातृ लाभ ही जीवन का एक मात्र उद्देश्य स्थिर किया है, वे इस प्रकार समस्या पूर्ण क्षेत्र में आकर हताश न हों। तुम महासौभाग्यवान् हो इस कारण से मा ने तुम्हारे प्रतिकूल वेदन—रूप से भावसमूह का आक्रमण उपस्थित किया है। और भी एक बात है—उस आक्रमण को रोकने के लिये माता के चरण सुदृढ़ भाव से धारण करने के सिवाय और किसी उपाय करके अपनी आध्यात्मिक गति को शिथिल न करना। बाधा, विघ्न, अत्याचार पीड़ायें यह सब आवेंगी; ये अपना अपना कार्य करेंगी। चिर विद्रोही प्रजा विद्रोह आचरण करेगी ही; उनसे तुम मा को पीठ नहीं दिखाना। तुम तलवार हाथ में लिये वाधा निवारण में उद्यत होकर

मा को न भूल जाना। उद्देश्य मातृलाभ ही विघ्ननिवारण उपाय है। तुम उद्देश्य भूलकर, उपाय को ही उद्देश्य समझकर ग्रहण न कर लेना। किसी प्रकार हठ क्रिया की सहायता से, चित्तवृत्तियों के निरोध की चेष्टा में जीवन का जितना अंश व्यतीत करोगे, उस समय मातृ उद्देश्य से दुःखी प्राण से रोते रहो। अत्याचार से विव्रत होकर तुम इष्टस्मरण से, मातृचिन्ता से विमुख हो रहे हो, यह कहकर मा को जतलाओ। हमारे सर्वनिवेदन, तथा सर्वदुःख प्रगट करने का ऐसा विश्वस्त स्थान और कहाँ है! अपने को अशक्त दुर्बल, अत्यन्त पीड़ित जानकर नित्याश्रय मातृचरणों में शरण लो। प्रत्येक विघ्न को मा का मङ्गलमय आह्वान कह कर ग्रहण करो। प्रत्येक भावको छद्मवेशिनी (बनावटी वेशवाली) मा कह कर समझने की चेष्टा करो। भिन्न भिन्न मनोभावों को महामाया का ही अनुभाव कहकर आदर करो। उसके चरणों में मा कहकर आंसुओं से भीगी हुई पुष्पाञ्जलि प्रदान करो। मा की यह छोटी छोटी संसारभावमयी मूर्ति संहरण करके महती मूर्ति में प्रगटित होने के लिये प्रार्थना करो। तो देखोगे, कि थोड़े ही समय में तुम्हारा भावविद्रोह शान्त हो गया है। साधक! हाथ की हवा से जलती हुई अग्नि शिखा को शान्त मत करना चाहो। हाथ जल जायगा, अग्नि नहीं बुझेगी। इसी प्रकार वृत्ति निरोध में सम्पूर्ण प्रयत्न करने से वृत्तियों का निरोध तो हो सकता है; परन्तु मातृलाभ न होगा, कारण कि तुम मा को तो चाहते नहीं हो—तुम तो चित्तचाञ्चल्य दूर करना चाहते हो। जो चाहोगे, सो पाओगे। मन की चञ्चलता-निवृत्ति जीवन का उद्देश्य नहीं है। निद्रित अवस्था में तो वह अनायास ही प्राप्त है; परन्तु मातृलाभ क्या होता है? चित्त को चित् समुद्र दिखाओ, मन को मा को दर्शन कराओ, भावों को भाविनीमूर्ति दिखाओ, आप शान्त होगे; तुम धन्य होगे।

पूर्व कहा गया है कि जीव भगवद्‌मुखी होने से अनेक प्रकार की विघ्न बाधायें उपस्थित होती हैं। क्यों होती हैं? यह प्रश्न अनेकों के

मन में आता है। कोई कोई कहते हैं मा की परीक्षा है। हम कितना प्राण लगाकर मा को चाहें तब वह दिखाने के लिये मा हमको अनेक प्रकार से पीड़ित करती है। कोई कहते हैं कर्म्मफल भोग है। परन्तु हमने समझा है कि—जीव मातृमुखी होने से ही, उसके पूर्व पूर्व जन्म सञ्चित संस्कार एकत्र होते रहते हैं। इन संस्कारों को क्षय करने के लिये अनेक जन्म स्वीकार करने पड़ते हैं, हमारी मा दया करके उन संस्कारों को दो ही एक जन्म में क्षय करा देती है। इसी कारण अनेक जन्मों में विनाश करने योग्य कर्म्म एक ही बार में फलोन्मुख हो जाते हैं। लाखों जन्म का कर्म्मफल एक जीवन में भोग करने के लिये, एक साथ बहुत बाधा विघ्न सह्य करने होंगे। मा को पुकारने से—मातृ स्नेह अनुभव करने से जन्मस्रोत का ह्रास अथवा बन्द हो जाता है। यह ही साधक के प्रति मा की विशेष कृपा है।

अमात्यैर्बलिभिर्दुष्टै र्दुर्बलस्य दुरात्मभिः।
कोषोबलं चापहृतं तत्रापि स्वपुरे ततः ॥७॥

अनुवाद—अनन्तर उस स्वपुर में भी बलशाली दुष्ट और असत् प्रकृति मन्त्रिवर्ग ने उस हृतराज्य दुर्ब्बल सुरथ का कोष (खज़ाना) और बल हरण कर लिया था।

व्याख्या—जीव जब भाव-समर में पराजित होकर स्वपुर में आश्रय लेता है, जब समस्त जगत्-संस्कारों को विस्मृति के गम्भीर जल में डुबाकर नित्य शान्तिमय सर्व गुहाओं में श्रेष्ठ पुराण परम पद की खोज में हृदय गुहा में प्रवेश करता है; तब वहाँ भी देखता है कि अत्याचारों का पार नहीं है। यहां पर भी प्रबल विरोधी मन्त्री लोग हैं। ये मन्त्रीवर्ग कौन हैं? शास्त्रीय आदेश समूह। जिन विधि निषेध-वाक्यों का पालन करके, अपने अपने वर्णोचित आश्रम धर्म्मों का अनुष्ठान करके, जीव हृदयगुहा का पता पाता है; वह कर्म्मकाण्ड—वह आनुष्ठानिक धर्म्म ही जीव की आत्मप्राप्ति का प्रबल और

अन्तिम विघ्न है। अनेक जन्म धारण कर जप, पूजा, व्रत उपवासादि शास्त्र में कहे हुए उपदेशों का पालन करने के फल से भावविद्रोह उपस्थित होता है। कितनी प्राणनाशक तपस्या, कितने ही कठोर योगाभ्यास आदि के फल से आत्मरूपिणी मा का अनुसन्धान जाग्रत होता है, साधक स्वपुर का पता पाता है, उनकी संख्या कौन कर सकता है ? जो शास्त्रीय आदेश धर्म्म राज्य प्रतिष्ठा के समय में अनुकूल धीमान् मन्त्री की भांति प्रधान सहाय और सलाह देने वाले होते हैं ; जो अधर्म्म की गति से बचाकर जीव को शान्ति के सुनिर्म्मल सलिल से अभिषिक्त करते हैं जिनकी सहायता से सुरथ ने सुविशाल धर्म्मराज्य-प्रतिष्ठा करके शुभ्र सत्वगुण रूप निर्म्मल यश प्राप्त करते हैं; भाव-विद्रोह से पराजित होकर स्वपुर में आश्रय लेकर, अपने राज्य प्रतिष्ठा के समय वही सुरथ देखता है कि—वे ही प्रतिकूलाचारी प्रबल शत्रु हैं। पूर्व जो सत्-हितचारी थे, इस समय स्वपुर में प्रवेश करने को उद्यत होकर समझ सके—वे भी दुष्ट और दुरात्मा हैं।

यथार्थ में जीव का अधर्म्मगति रोक कर धर्म्ममार्ग की ओर लाने के लिये, कण्टक द्वारा कण्टक निकालने की भांति वैध कर्म्मादि ही प्रधान सहायक हैं। शास्त्रीय विधिनिषेधों का प्रतिपालन करते करते ही मनुष्य के प्राणों में मातृलाभ आत्मलाभ की प्रबल वासना जागरित होती है। मा हमारे धर्म्म से अतीत है, अधर्म्म से अतीत है, कर्म्म से अतीत है, वह अनिर्वचनीय परमानन्दमय अद्वितीय वस्तु है; इस बात को जीव तब समझ सकता है जब वह अनेक दिन तक शास्त्रीय आज्ञाओं का अनुष्ठान करता रहता है। यदि किसी ऐसे मनुष्य को देखो कि वह वैधकर्म्मों का अनुष्ठान न करने पर भी यथार्थ में मातृ अन्वेषी हुआ है, तो समझो कि पूर्व पूर्व जन्म में उसका कर्म्म-काण्डों का साधन समाप्त हो चुका है। पहले धर्म्म-राज्य, फिर आत्मराज्य। पहले धर्म्म, फिर मा। इसी से धर्म्म को मुक्ति का सोपान कहा जाता है। जीव जो अपरिच्छिन्न, पूर्ण और आनन्दमय

है! वह कब तक परिच्छिन्न अपूर्ण क्षणिक आनन्ददायक धर्म्म की सीमा के भीतर निवास करेगा? जीव जो नित्यमुक्त है! वह कबतक धर्म्मरूप सोने की बेड़ी पैरों में पहन कर अधीन रहेगा? एक दिन उसको शास्त्र की सीमा से बाहिर उन्मुक्त क्षेत्र (खुले खेत) में, स्वाधीनता के बड़े आंगन में–मधुमय माता की गोद में उपस्थित होना ही होगा। यह जीव 'स्व' है, इस कारण स्वैर विचरण के बिना जीव को स्वस्ति प्राप्त नहीं होता। इसी से 'स्व' को प्राप्त करने के लिये, एकबार सर्वस्वान्त होकर स्वपुर में आश्रय ग्रहण करेगा ही। मा को—अपने को पाने के लिये एकबार हृदयानुभूत चैतन्य का आश्रय ग्रहण करने को उद्यत होगा ही। भगवत्गीता का वह महावाक्य—'ईश्वरः सर्व्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" "तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत" यह शान्तिमय अभय वाणी जीवके प्राण प्राण में ध्वनित अवश्य होगी। परन्तु स्वपुर में प्रवेश करने पर जीव देखता है कि मन्त्रिलोग—वैधकर्म्म से उत्पन्न संस्कार समूह अति दृढ़भाव से बंध रहे हैं। वे अति बली हैं। अधर्म्म संस्कार दूर करना उतना कष्टसाध्य नहीं है; परन्तु शास्त्र विधि के संस्कार समूह दूर करने में, जीव बहुत अधिक कष्ट भोग करते हैं। शराब पीने वाले का शराब पीने का संस्कार जितना शीघ्र दूर किया जाता है, एक त्रिकाल सन्ध्या करने वाले निष्ठावान ब्राह्मण के सन्ध्या वन्दनादि का संस्कार दूर करना उसकी अपेक्षा अधिक कष्टकर है। इसी प्रकार अधर्म्म संस्कार की अपेक्षा धर्म्म-संस्कार प्रबल और कट्टर शत्रु हैं; इनकी गति बहुत ऊँची है। परन्तु ऐसा एक दिन आता है, मातृ करुणा का ऐसा एक प्रवाह आता है कि वे संस्कार प्रबल बाढ़ में तृणराशि की भांति कहां भासित होता है। वही दिन—जीव-जीवन का शुभ दिन है, वही दिन राम प्रसाद के सुर में सुर मिलाकर साधक कहते हैं—"धर्म्मा-धर्म्म दो बकरियाँ तुच्छ खूंटे से बांध रक्खो, यदि न माने (ओरे मन) ज्ञान—खड्ग से बलि दे दो।"

अस्तु, मन्त्र में—बलिभिः, दुष्टैः एवं दुरात्मभिः, इन तीन विशेषण

पदों का प्रयोग हुआ है। धर्म्म कर्म्म के संस्कार बड़े प्रबल हैं यह पूर्व कहा गया है। दुष्ट क्यों कहा? "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"; यह भगवद् वाक्य जब जीव के हृदय में यथार्थ प्रतिध्वनित होता रहता है, तब क्या फिर जीव काम्य कर्म्मों को वा धर्म्म संस्कारों को दुष्ट नहीं कह कर रह सकता है? उसके बाद दुरात्मा—असत् प्रकृति। यह छोड़ने से भी नहीं छूटती। जानते हैं—धर्म्म में हमारा आत्मराज्य नहीं है, जानते हैं कि धर्म्म में हमारा मोक्ष नहीं है, जानते हैं कि धर्म्म में हमारी मा की गोद निरवछिन्न नहीं है? परन्तु जानने से क्या हुआ! हमने छोड़ा तो क्या हुआ! धर्म्म हमको नहीं छोड़ता है! जीव के स्वपुर का द्वार रोक कर बैठा है—वह देखो धर्म्म संस्कार है। क्या केवल इसी से—"कोषोबलश्चापहृतम्" जीव का कोष और बल तक हरण कर लिया है—ये देखो धर्म्म संस्कार। हमारा आनन्दमय कोष—मा का हिरण्यमय मन्दिर हमारे सदा विश्राम का शान्तिनिकेतन लूट लिया है उन धर्म्म-संस्कारों ने। वैध कर्मों के संस्कार हमारे परिच्छिन्न नश्वर आनन्द के सहाय मात्र हैं, परन्तु हमारा जो नित्यानन्द धाम है—जहां पर आरोहण कर सकने से, मा की फैलाई हुई दोनों भुजायें अपने आप आकर, हमें खींचकर गोद में उठा लेंगीं, जहाँ पहुँचने पर हम सदा के लिये मातृ वृक्ष में मिले रहेंगे। जहाँ पहुँचने से हमारे सब प्रकार के सन्ताप, दुःख ज्वालायें सदा के लिये नष्ट हो जायँगे। हाय! हमारा वह शान्तिनिकेतन वह आनन्दमय कोष तो वैधकर्म्म संस्कार स्वरूप मन्त्रियों द्वारा लुट गया।

यहाँ पर आधुनिक वेदान्त वादी लोग कह सकते हैं कि जब आत्मा आनन्दमय कोष से भी अतीत है, तब आनन्दमय कोष के लुट जाने से हानि ही क्या है? थोड़ा स्थिरभाव पूर्वक आलोचना करने से यह संशय दूर हो जायगा। आत्मा यद्यपि आनन्दमय कोष से भी अतीत है यह बात सर्व्ववादि सम्मत है—परन्तु, उपासना वा

साधना नामक कुछ व्यापार जबतक रहता है, तबतक आनन्दमय कोष में ही उसका विशिष्ट साक्षात्कार प्राप्त होता है। आनन्दमय कोष में आत्मबोध लेजाना ही साधना है। अन्नमय, प्राणमय आदि स्थूलतर कोषों में जो आत्मबोध घनीभूत हो रहा है, उनमेंसे उपसंहार कर आत्मबोध को आनन्दमय कोष में लेजाना ही साधना का अन्त है। साधना के सूत्रपात से ही अन्नमय कोष वा स्थूल देह से जीव का आत्मबोध उपसंहरण आरम्भ होता है। क्रम से प्राण मन और विज्ञान कोष अतिक्रम करके, आनन्दमय कोष में पहुँचता है। "मैं नित्यानन्दमय महान् चैतन्य मात्र-स्वरूप हूं" इस बोध में पहुँचने पर ही साधना की समाप्ति हो जाता है। उपासना द्वारा यहाँ तक ही जा सकता है। वही हिरण्यगर्भ परमेश्वर आदि नामों से प्रसिद्ध है। यही अक्षर पुरुष—जिस स्थान में जगत् संस्कार बीज की भाँति स्थित है "वट कणिकायां वृक्ष इव'। इस स्थल में पहुँच सकने से फिर जगद्बीज वा संस्कार राशि जीव को बद्ध नहीं कर सकते। वह नित्य मुक्तता का आभास पाता है। जिस प्रकार परमेश्वर में अनन्त कोटि भुवनों के संस्कार वा बीज रहने पर भी वह बद्ध नहीं है, जिस प्रकार इस श्रृष्टि स्थिति प्रलय कार्य्य में सदा निरत रहने पर भी वह नित्य मुक्त है; ठीक उसी प्रकार ही जीव आनन्दमय कोष में स्थिति कर सकने से फिर जगद् भाव से बद्ध नहीं होता; संसार उसके स्वाधीन लीलामात्र होता है। इस अवस्था में सदा नित्यानन्द का रस उपभोग होता रहता है। यही जीव को साधन से पाने योग्य है—यही जीव का यथार्थ शान्तिनिकेतन है। वैष्णव शास्त्रों का नित्य रासमण्डल वा गोलोकधाम यही स्थान है। इसके दूसरी पार जो स्थित हैं वे "अवाङ्मनसोगोचर" वाक्य से अतीत, मन से अतीत, साधन से अतीत स्वसंवेद्यमात्र हैं। आनन्दमय कोष में आरोहण कर सकने से इससे आगे की अवस्था में अनायास पहुँच जा सकते हैं। वह स्वयमागत एक अवस्था विशेष है। (अवस्था कहने से भी ठीक नहीं कहा

गया है !) ब्रह्मलीला का अवसान वा वेदान्त प्रतिपाद्य "परान्तकाल" उपस्थित होने से ही यह प्राप्त होती है; इस कारण वेदान्तवाद के साथ हमारा किसी प्रकार विरोध नहीं है।

अस्तु, जीव स्वपुर में प्रवेश करने पर ही समझ सकता है कि वह आनन्दमय कोष पर्यन्त धर्म्मसंस्कारों की परिच्छिन्नता से सीमाबद्ध होकर है। अजी ! मान लीजिये—शास्त्र में लिखा है कि लालजवा (गुड़हर) के फूल से विष्णु की पूजा न करो, शिव को बेलपत्र विपरीत भाव से चढ़ाओ, दायाँ नथना खूब दबाओ, जिससे बायु न निकले, बायें पांव के ऊपर दायाँ पांव स्थिर भाव से रक्खो, इत्यादि सहस्र आज्ञाओं के पालन करने ही में जीवन व्यतीत हो गया, मन्त्रियों की आज्ञा का पालन करते-करते समस्त उत्साह ही चला गया, आत्मसंभोग वा आनन्दमय कोष की स्वाधीन लीला को फिर कब भोग करेंगे ? हाय ! कमर बांधते-बांधते जीवन कट गया, अब मा की गोद में कब उठेंगे ? इस प्रकार असंख्य शास्त्रीय विधि निषेध वाक्य माता की प्राप्ति के पक्ष में पहले पहले हितकारक होने पर भी, ये भी तो बन्धन हैं। यह भी तो क्षुद्र क्षुद्र भावों की अधीनता है ! स्वाधीनता चाहने वाले जीव—मातृ-वक्षरूप उन्मुक्तक्षेत्र में विचरने वाली सन्तान क्या इतना समझ कर—इतना विचार कर आगे बढ़ने में समर्थ हो सकती है। न कर सकती ! तो भी उनकी उपेक्षा करने का भी साहस नहीं होता। जबतक जीव माता के स्नेह में विमुग्ध नहीं हो सकते, तबतक वैध कर्म्मों के संस्कार जीव को बहुत ही पीड़ित करते हैं। उनका अनुष्ठान करने में भी यथार्थ आनन्द नहीं पाते और छोड़ भी नहीं सकते। इसीसे ये ही प्रबल शत्रु—नित्यानन्द के विघातक हैं !

केवल इतना ही नहीं; जीव का जो 'बल'—नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तत्व आदि जो कुछ सामर्थ्य है, वह सब ही मन्त्रियों द्वारा लूट लिया गया है; कारण कि वे ही जीव को अनित्य अशुद्ध अज्ञान और बद्ध कहकर

प्रतीति करा देते हैं। प्रजा ने केवल राज्य ले लिया है; परन्तु सुरथ के सर्व्व प्रधान सहायक मन्त्रियों ने कोष और बल पर्यन्त सब छीन लिया है। जीव जब समझ सकता है कि उसका वास्तविक स्वरूप अनेक पौराणिक कथाओं की सीमा के भीतर है, तब वह उनको ही प्रबल शत्रु समझ लेता है। पातञ्जलदर्शन में भी ठीक यही बात कही है—"स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षाः"। स्थूलवृत्तियां साधारण शत्रु हैं और सूक्ष्मवृत्तियां प्रबल शत्रु हैं। काम क्रोधादि वृत्तियां आत्मराज्य प्राप्ति के पक्ष में उतनी विघ्नकारक नहीं हैं कि जितनी विघ्न कारक सूक्ष्मवृत्तियां अर्थात् धर्म्म संस्कार हैं। इस धर्म्म शत्रु के हाथ से परित्राण पाना बड़ा ही दुरूह व्यापार है; ये सर्व्वत्र ही पराजित करते हैं। इस स्थान में जीव को चरमबिषाद योग उपस्थित होता है, इसके बाद फिर विषाद युक्त नहीं होना होता है। गीता के कुरुक्षेत्र-समर में अनात्मीयों को आत्मीय जानकर विमूढ़ युद्ध विमुख अर्जुन के विषाद-योग की समाप्ति यहाँ पर है। स्वपुर प्रवेश में मन्त्री के विद्रोह ने सुरथ के प्राणों में जो विषाद उपस्थित किया था, उसकी तीव्रता बहुत ही अधिक है; कारण कि वह युद्ध और विषाद मनोमय क्षेत्र में हैं; परन्तु यह अमात्य (मन्त्री) विद्रोह विज्ञानमय क्षेत्र में—अधिक ऊँचे पर है।

जागतिक साधारण दुःखों के साथ—साधन-जगत के दुःखों में कितना अन्तर है, वही केवल साधक जन का बोधगम्य है। बहुत दिन से किसी रोगी के शरीर में कोई कठिन पीड़ा देने वाली व्याधि रहने का दुःख अथवा गुणवान्-युवकपुत्रवियोगविधुरा माता का दुःख, अथवा विवाह के उपरान्त तुरन्त ही पति का वियोग हो जाने वाली बाल-विधवा का दुःख अथवा भूख से पीड़ित हड्डी और चमड़ा जिसका शेष रह गया है ऐसे मनुष्य का दुःख देखने से जैसा अनुभव होता है, यही दुःख की चरम सीमा है; परन्तु ये सब दुःख उस दुःख के साथ तुलना में अकिञ्चित्कर हैं—जो दुःख आनन्दमय कोष में

आरूढ साधक के प्राणों में अनुभुत होता है। इस विषय में एक आत्म-सम्वेदन है, यथा—

"अनौपम्यमनिर्देश्यमव्यक्तं निश्चलं महत्।
यथा ब्रह्म तथा तस्य विरहवेदनं भृशम्॥"

भगवान जिस प्रकार अतुलनीय अनिर्देश्य अव्यक्त निश्चल और महान् हैं, उनकी विरह वेदना भी ठीक वैसी ही अतुलनीय, अनिर्देश्य, अव्यक्त, निश्चल और महान् है। वैष्णव-ग्रन्थों में कृष्णवियोग से पीड़ित श्री राधा के जो वाह्य लक्षण वर्णित हुए हैं, उनका एक अक्षर भी कपोल कल्पित नहीं है; सचमुच वही दशा होता है। जो श्रीमती हुई हैं—आराधिका वा राधिका हुई हैं, केवल वे ही श्रीकृष्ण के प्रेम का अनुभव कर सकती हैं। जिसने एक बार श्रीकृष्ण प्रेम का अनुभव किया है, उसके लिये फिर जगद्भाव में विचरण अथवा श्रीकृष्ण विरह कितना तीव्र कितना दुःखदायक है, उसे वह श्रीमती मात्र ही जानती हैं; और कोई उसे किस प्रकार समझ सकेगा! भाषा द्वारा वह विरह वेदना वर्णन नहीं की जा सकती है। यद्यपि हर एक पत्ते में, हर एक बृक्ष में, धूलि के प्रत्येक परमाणु में, जगत् में सर्वत्र हमारे प्राण के प्राण श्रीकृष्ण स्वयं विराजमान हैं, तो भी उससे क्या प्यास मिट सकती है। अरे! अपरिच्छिन्न कृष्णप्रेमसिन्धुनीर में जिसने एकबार स्नान किया है, वह क्या फिर इस परिच्छिन्न प्रेम बिन्दु से—नाम रूप विशिष्ट चैतन्य से परितृप्त हो सकता है। हाय! जीव कब तुम उस अगाध कृष्ण प्रेम सागर में प्रवेश करोगे! कब श्री राधिका होकर धन्य होओगे। परन्तु वह दूसरी बात है—

ततो मृगयाव्याजेन हृतस्वाम्यः स भूपतिः।
एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनं वनम्॥८॥

अनुवाद—अनन्तर छीन लिया गया है राज्य जिसका, वह भूपति शिकार खेलने के बहाने से अकेला घोड़े पर चढ़कर घोर जङ्गल में चला गया।

व्याख्या—भाव समर में हार जाने पर जीव स्वपुर में प्रवेश करके भी जब स्थिरता और शान्ति प्राप्त नहीं कर सका, जब उसने देखा कि केवल संसार-संस्कार श्रेणी ही उसके प्रतिकूल नहीं है, बल्कि विधिवत् कर्म्मों से उत्पन्न कठिन संस्कार भी प्रधान शत्रु है; उन्होंने उसके आनन्दमय कोष और नित्य-शुद्धबुद्धत्वादि रूप बल पर्य्यन्त सब हरण कर लिया है; जब जीव अपने को समझ लेता है कि मेरा स्वामित्व हरण कर लिया—क्या देह राज्य में, क्या मनो राज्य में, क्या ज्ञानमय क्षेत्र में, क्या आनन्द के केन्द्र में, कहीं भी अपनी बोलकर प्रभुत्व करने की तिलभर भी सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि, देह हमारी अनिच्छा से रुग्न होता है, वृद्ध होता है, अकर्मण्य होता है, मन हमारी अनिच्छा से सदा विषयों की ओर दौड़ता है, ज्ञान हमारी ज्ञेय वस्तुओं को सम्यक प्रकाशित नहीं करता; और आनन्द—सो उसका अस्तित्व का तो खोज भी नहीं पाया जाता है—सब ही हमारे हैं तो भी सब ही विपक्ष हैं—स्वाधीन हैं; मेरी इच्छा से—मेरी आज्ञा से देह का एक बूँद लोहू भी चलायमान नहीं होता है—सब ही स्वाधीनता धारण कर, मेरे आत्म-राज्यप्रतिष्ठा के प्रतिकूल में प्रबल-भाव से खड़े हैं—मेरी माता की गोद प्राप्त होने के प्रबल विरोधी हैं, तब इस प्रकार अपनी शोचनीय दशा देखकर, वह अत्यन्त विषादग्रस्त होता है।

यद्यपि मन्त्र में विषाद शब्द का उल्लेख नहीं है, तथापि "एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनं वनम्" यह बात ही सुरथ के पूर्ण विषाद योग की सूचना देती है। यह विषाद बाहर से दिखाने का नहीं है; ऐसी अवस्था को प्राप्त जीव तो बड़े सौभाग्यवान् होते हैं; इसी कारण पूर्व ही सुरथ को महाभाग कहा गया है। परन्तु सुरथ के प्राण में जो अव्यक्त पीड़ा उपस्थित हुई है, उसे साधारण लोग किस प्रकार समझेंगे? जिस व्यक्ति ने स्वपुर का पता पाया है, साधारण लोग उसको देखकर, उसके चरणरजकणा के लिये लालायित रहते हैं। वास्तव में वह एक

तरफ महासौभाग्यवान् होने पर भी दूसरी ओर वह अत्यन्त दुःखी है; कारण कि जीव भाव और जीवत्व की गांठ उसके लिये उस समय असहनीय दुःखमय जान पड़ती है। जबतक मा का प्राण भरकर दर्शन नहीं किया जा सकता; जबतक पूर्णप्राणों से मातृस्नेह भोग नहीं किया जाता, जबतक यथार्थ ग्रान्थिभेद नहीं हुआ है, तो भी ग्रन्थि की पीड़ा अधिक जान पड़ती है; तबतक जीव को क्या कष्ट होता है, उसे वह मनुष्य जिसे ग्रन्थि का बोध भी नहीं हुआ है, वह कैसे समझेगा ? इसी कारण यहाँ पर विषाद शब्द छोड़ दिया गया है, गीता में विषादयोग के बाहिरी लक्षण बहुत कहे गये हैं—"गाण्डीवंस्त्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते। मुखञ्चपरिशुष्यति, वेपथुश्च शरीरे मे" इत्यादि शब्दों से, धनुष का हाथ से गिरना, गात्रदाह, मुखशोष, हृदय कांपना आदि विषाद के चिन्हों ने अर्जुन के अन्नमय कोष में प्रकाश पाया था, परन्तु सुरथ के विषाद लक्षण सूक्ष्म और कारण देह में प्रकटित होने से उनका बाहिर विशेषरूप से प्रकाश नहीं हुआ है। प्रजा विद्रोह वा भाव विरोधिता विज्ञानमय कोष में और मन्त्रियों का विद्रोह या धर्म्म-कर्म्म के संस्कारों के कारण परिच्छिन्नता आनन्द-मय कोष ही में प्रकाशित होती है। जिसका ज्ञान वा अधिकार जितना उच्च है, उसका विषाद भी उतने ही उच्चस्तर का होता है। खिलौना टूट जाने से बालक रोता है; परन्तु ज्ञानवान् व्यक्ति उपयुक्त पुत्र की मृत्यु से भी विचलित नहीं होता; इससे क्या समझना चाहिये कि उसको दुःख नहीं होता ? अकेला घोरे पर चढ़कर बनमें चले जाने से, सुरथ के महा विषाद की सूचना करने पर भी हम देखते हैं कि वह एक साधन विशेष है; विषाद का बहिर्लक्षण मात्र नहीं है।

अकेले बनमें गमन करनेमें किस प्रकार साधन रहस्य छिपा हुआ है, अब हम उसकी आलोचना करते हैं, पहले, मन्त्र के शब्दों का अर्थ समझ लेना होगा। "मृगया" शब्द का अर्थ अन्वेषण अर्थात् आत्मानुसन्धान है। अन्वेषणार्थक मृग धातु से मृगया शब्द सिद्ध

हुआ है। 'हय' शब्द का अर्थ—इन्द्रियरूप अश्व है। कठोपनिषद् में कहा है—"इन्द्रियाणि हयानाहुः"। 'गहनवन' शब्द का अर्थ—विषयारण्य है। रूपरसादि विषयों के साथ गहन वन के सादृश्य, भागवतादि अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में उल्लिखित हुआ है। अतएव समस्त मंत्र का अर्थ—भाव समर में पराजित होकर, जीव ने आत्मानुसन्धान के बहाने से इन्द्रियरूप घोड़े पर चढ़कर, अति गहन विषयारण्य में गमन किया।

जीव प्रथम तो आत्म प्राप्ति के लिये उद्यत होकर, चित्तवृत्तियों के निरोध करने की चेष्टा करता है। बाह्य विषयों से चित्त को रोक कर, अनेक प्रकार के योग-कौशलादि उपायों का अनुष्ठान करता रहता है, परन्तु यथार्थ अमरत्व का पता नहीं पाता; यथार्थ शान्ति का आनन्द का केन्द्र खोजने से नहीं पाता; सर्वत्र ही संस्कार वा भावराशियों के द्वारा पीड़ित होता रहता है। तब स्नेहमयी हमारी मा आदर से सन्तान को एक सरल मार्ग पर लेजाती है। इतने दिन तक तो उसने मा को चाहा नहीं, चाहा है तो संयम, चाहा है तो योगध्यान, चाहा है तो सिद्धि शक्ति; इसी कारण अबतक यह ऋषिजनसेवित सरल मार्ग दृष्टि में नहीं आया। बराबर चोट खाकर, अनेक बार विफल प्रयत्न होकर, यथार्थ माता का अन्वेषण प्राणों में विकसित हुआ है; इसी से, इस समय इन्द्रिय अश्व पर चढ़कर विषयारण्य में गमन और मा का सन्धान आरम्भ हुआ है।

यही बुद्धियोग है! गीता में इसी बुद्धियोग की सूचना दी गई है—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"। जिसके द्वारा मुझ को आत्मा को पाया जाता है, वह बुद्धियोग जीव को प्रदान करता हूँ। यह भगवान् की अपने मुख से कही हुई अभयवाणी है। गीता में जो मोक्ष फलप्रद कल्पवृक्ष के बीज बोये हुए हैं, देवीमाहात्म्य में वे फल फूल-समृद्ध वनस्पतिरूप में परिणत होकर, जीवों को कृतार्थ करते हैं। जीव जब गुरु कृपा से बुद्धियोग में अधिकार लाभ

करता है, तब उसका दृढ़ परिश्रम किस भाव से काय साधक होता है, उसीका वर्णन करने को महर्षि ने कहा है :—"मृगयाच्छल से अरण्य में प्रवेश"।

जीव जब अन्तर राज्य तन्न तन्न (पूर्णतया) अनुसन्धान करके भी मा का पता नहीं पाता, (कारण, तब भी अन्तर वस्तु को ठीक ठीक नहीं समझ सकता) तब विवश हो फिर इन्द्रियग्राह्य विषय राशि के समीप उपस्थित होता है। प्रथम तो इन विषयों इन्द्रियग्राह्य रूप रसादि भोग्य वस्तुओं को नश्वर और मिथ्या कह कर विषवत् त्याग कर अन्तर-राज्य में प्रवेश करता है (वर्तमान युग के अधिकांश साधक ऐसे ही ज्ञान द्वारा परिचालित होकर ही साधन मार्ग में अग्रसर होते हैं।) फिर लौट कर उसी विषयारण्य में प्रवेश करते हैं, किन्तु कुछ परिवर्तन होता है,—पूर्व विषयमात्र समझ कर विषय भोग करते थे, इस बार मृगया के बहाने से आत्मानुसन्धान के छल से। प्रथम छल करके वा नक़ल करके ही विषय विषय में माता का अनुसन्धान जागरित होने लगता है, कारण कि, बुद्धियोग की प्रथम अवस्था में साधक मन में विचारता है कि विषय तो यथार्थ मा नहीं है। विषय समूह क्षुद्र हैं, हमारी मा अनन्त है; विषय भावों की घनीभूत अवस्था है, हमारी मा भावातीता है। विषय अज्ञान मात्र है; हमारी मा ज्ञानमयी है। इस कारण विषयों में विचरण करके क्या विषयों से अत्यन्त विरुद्ध मा का सन्धान पाने की सम्भावना है? परन्तु क्या किया जाय! अन्तर राज्य में जब अमृत का पता नहीं पाया गया, तब विवश हो वहिः राज्य में विषय से विषय में अनुसन्धान करने में हानि ही क्या है? इसीसे, मानो छल करके, नक़ल करके इन्द्रियों की सहायता से विषय विषय से मा का अनुसन्धान आरम्भ करें; तो कुछ दिन बाद देखते हैं कि यह छल नहीं है यथार्थ ही अनुसन्धान है। फिर यहाँ पर एक बात कह देते हैं कि—मृगया आत्मानुसन्धान है। यह बाहिर से अनुसन्धान

के आकार में प्रकाशित होने पर भी वास्तव में यहाँ से ही आत्म लाभ सूचित होता है। क्योंकि स्थूल विषयों में मातृ बोध होने से ही, यथार्थ माता की प्राप्ति का आरम्भ होता है।

इंन्द्रियों के द्वारा विषयों में विचरण करने से, किस प्रकार मा का अनुसन्धान वा मा की प्राप्ति संघटित होती है, अब उसकी आलोचना की जाती है। चाहे कोई भी पदार्थ तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो—इन्द्रियरूप घोड़े अपनी इच्छा से चलकर, चाहे किसी पदार्थ के सम्मुख तुमको उपस्थित करें, उसीको तुम मा कह कर, सत्य कह कर ग्रहण करो। चक्षु कोई रूप लाकर उपस्थित करें, तो तुम उसे मा के रूप से ग्रहण करो। कान शब्द के समीप उपस्थित करें तो तुम उसे माता का आवाहन अथवा माता के कण्ठस्वररूप से ग्रहण करो। नासिका सुगन्ध के समीप पहुँचावे तो तुम उसे माता के अङ्ग से निकली हुई सुगन्धरूप से ग्रहण करो, रसना विचित्र रस के समाप उपस्थित करे तो तुम 'रसो वै सः' कह कर, मातृ-आस्वादन से अमृतायमान हो। त्वक तुमको कोमल स्पर्श से रोमाञ्चित करे, तो तुम स्नेहमय माता के कर स्पर्श से पुलकित होओ। इस प्रकार एक सूर्य्योदय से दूसरे सूर्य्योदय पर्य्यन्त जो कुछ करो, वह सब कुछ मानो मातृपूजारूप से समाप्त होता है ऐसा समझो। "यत्करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्" यह मर्म्म मर्म्म से अनुभव करो। केवल मुख से कहने से यथार्थ फल प्राप्त न होगा। भावों के विरुद्ध, विषयों के विरुद्ध, संस्कारों के विरुद्ध, युद्ध कर पराजित हुए हो, क्षत विक्षत हुए हो; अब अनुकूल चलो, फिर भी उन्हीं के भीतर माता के सम्वेदन से पुनः पुनः सम्वेदित होते रहो। बहुत दिन, बहुत जन्म, बहुत युग से जगद्भाव का अभ्यास हो रहा है, जगद्भाव में चल रहे हो, जगद्भाव में ही विमुग्ध हो; इस कारण, जगद्भोग ही करो; परन्तु मा समझ कर करो। जो कुछ देखो, जो कुछ करो, जो कुछ समझो, वह सब ही महामाया की भिन्न भिन्न मूर्ति है; यह

समझ कर जागरित हो। यह सुकौशल कर्म्म ही बुद्धियोग है, यही मोक्ष मार्ग का आविष्कारक है। समस्त शास्त्र, समस्त वेद, समस्त दर्शन यही एक बात कहते हैं। "ईशावास्यमिदं सर्व्वं; स एव सर्व्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्; आत्मैवेदं सर्व्वम्; सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि सहस्रों शास्त्र प्रमाण भी हैं। "भगवान् सर्व व्यापी हैं" इस बात को मनुष्य मात्र ही जानते हैं, अनेक बार सुना है; परन्तु इसका अनुभव बहुत थोड़े लोग करते हैं। सीखने को कुछ नहीं, सिखाना कुछ नहीं है, जानना भी कुछ बाकी नहीं है, सुनना कुछ बाक़ी नहीं है, केवल जो सीखा है, जो जाना है, जो सुना है, उसे कार्य्य में परिणत करो। यही यथार्थ साधन है।

यह बुद्धियोग ही तुम्हारे चित्त की चञ्चलता दूर करने का अमोघ अस्त्र है। तुम्हारा मन कहेगा कि सामने जो देखते हो, यह एक वृक्ष मात्र है; तुम्हारी बुद्धि फिर ज़ोर देकर कहे नहीं, वह वृक्ष रूपिणी मा है; हमारी मा वृक्ष का कपटवेश धारण किये खड़ी है। पहले पहले यह नक़ल करना सो मन में जान पड़ेगा। इसीसे ऋषि कहते हैं कि—"मृगया व्याजेन"। परन्तु वास्तव में छल वा नक़ल नहीं है। हमारा अविश्वासी मन प्रथम तो समझ नहीं सकता, अथवा स्वीकार नहीं करना चाहता कि इस परिदृश्यमान जगत् रूप से एक मात्र महामाया ही नित्य विराजित है। मन की चातुरी से, इन्द्रियों की धूर्तता से तुम ठगई (धोखे) में मत आओ। उनकी कुटिल उत्तेजना से इस बुद्धियोग का उपक्रम तुम्हारे निकट नक़ल करने की भांति प्रतीत होने पर भी इसके अनुष्ठान से विमुख मत हो। बुद्धि द्वारा सर्वत्र सत्य की प्रतिष्ठा करो—सर्व्वव्यापी मातृसत्ता में विश्वासवान् हो, फिर देखो कि—इसका परिणाम कितना मधुर है। गीता कहती हैं—"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।" सर्वत्र सत्य भाव से सत्य दर्शन करने ही से सत्य प्राप्त होता है।

मा को तुम जिस प्रकार चाहो—जिस मूर्ति में मा के दर्शन करने के लिये तुम्हारे प्राण लालायित हों, मन में विचार लो कि तुम्हारे सम्मुख मा उसी रूप से उपस्थित हुई हैं; तब तुम मा को पाकर जैसा व्यवहार करते हो, ठीक उसी प्रकार का व्यवहार प्रत्येक जड़ पदार्थ से करते रहो। झूठ बोलने वाले गड़रिये के लड़के की भाँति झूठमूट कहो—"मा! यह मैंने तुमको पाया है" "मा! यह मैंने तुमको पकड़ लिया" यह कहकर वृक्ष, मिट्टी, पत्थर को जकड़ कर पकड़ो, उसी से आत्म-हारा होने की चेष्टा करो, मा कहकर प्रत्यक्ष मा के निकट सन्तप्त हृदय का जो कुछ आवेदन निवेदन हो बिना विचारे करते रहो। इस प्रकार नक़ली भक्ति, नक़ली मातृलाभ, नक़ली मृगया आरम्भ करो, तो फिर शीघ्र ही यथार्थ भक्ति में पहुँच सकोगे। यदि तुम्हारे प्राण में यथार्थ मातृलाभ की इच्छा जाग्रत हो, तो फिर बिचार वितर्क, विज्ञान की युक्ति आदि में न जाकर, सरल प्राण से इस सत्य मार्ग का अवलम्बन करो। इसी क्षण से इस प्रकार भाव से मातृलाभ आरम्भ हो। आगे जगत् रूपिणी मा को देखो—जगद् रूपिणी मा का उपभोग करो; फिर जगदतीता मा का पता पाओगे। जगत् छोड़कर—पञ्चभूत छोड़कर, भावराशि परित्याग कर, मा को समझने के दिन बहुत दूर है। पहले स्थूल में—प्रत्यक्ष में मा को पकड़ो, फिर सूक्ष्म में—अव्यक्त क्षेत्र में अग्रसर होओगे। देखो, भगवान् वस्तु दुर्लभ नहीं है, बल्कि अति सुलभ है, दुर्लभ हम हैं। कारण कि, हम ही उसको नहीं चाहते। जगत् में अर्थोपार्जन अथवा किसी और वस्तु के संग्रह करने की मनुष्य जितनी चेष्टा करता है, भगवान् को प्राप्त करने के लिये उतनी चेष्टा की भी आवश्यकता नहीं है; वह इतना निकट और इतना प्रत्यक्ष है। सबसे सुलभ वस्तु यदि कुछ है, तो वह मा है। बिना प्रयत्न के प्राप्त होती है। जो लोग यह कहते हैं कि—कठोर योग ध्यान सन्यास इत्यादि के बिना उसके दर्शन—लाभ नहीं होते, वे लोग पुस्तकें पढ़कर

अथवा दूसरों के मुख से उपदेश सुनकर यह कहा करते हैं। जो सर्वव्यापी है, सर्वत्र सुप्रगट है—केवल वही है, और कुछ 'है' ही नहीं—उसका दर्शन करना क्यों दुर्लभ होगा? दुर्लभ है—यह विश्वास। वह सर्वत्र विराजमान है—यह विश्वास ही दुर्लभ है। जितना कुछ उद्योग है, जितनी कुछ कठिनाइयाँ हैं, उस विश्वास को प्राप्त करने के लिये हैं। "यही वह प्रत्यक्ष हो रही है" (अथवा यही भगवान् प्रत्यक्ष हो रहे हैं)। यह विश्वास होते ही वह साधक विगतश्वास हो जाते हैं। उसी क्षण (अति अल्प समय के लिये होने पर भी) श्वास रुक जाता है अर्थात् बिना चेष्टा के कुम्भक सिद्ध हो जाता है। विश्वास होते ही, वि-श्वास हो जाता है, इस बात को न समझ सकने से, अनेक साधक अनेक कौशल की सहयता से श्वास रोककर, चित्त स्थिर करने की चेष्टा करते हैं। प्राण पात तपस्या, कठोर वैराग्य आदि के अवलम्बन से भी, जो मा का सन्धान नहीं पाया जाता, उसका कारण—मा को न चाहना है। अनेक लोग तपस्वी होने के लिये तपस्या करते हैं—मा को नहीं चाहते। साधु होने के लिये त्याग मार्ग ग्रहण करते हैं—मा को नहीं चाहते। हमारी मा कल्पतरु है! जो चाहोगे, वही पाओगे। योगी तपस्वी विरागी होने के लिये साधना करने से, उसी में सिद्धि लाभ करोगे। परन्तु यह दूसरी बात है।

हमने जो सत्यप्रतिष्ठा वा बुद्धि योग की बात कही है, वही वैदिक युग के ब्रह्मर्षियों की सरल सत्य साधना थी। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि—"मनोब्रह्म इत्युपासीत" मन को ही ब्रह्मरूप से उपासना करोगे। मन को ब्रह्मरूप से उपासना करना और जगत् के प्रत्येक पदार्थ में सत्य-प्रतिष्ठा करना ठीक एक ही बात है। मन को ब्रह्मरूप से उपासना करने की बात सरल भाषा में साधारण लोगों को समझाते हुए, ठीक यह सत्य-प्रतिष्ठा की बात ही कही गई है। पूर्व कहा गया है कि जगत् मन का भाव वा

मन है ; इस कारण जगत् के प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्मदर्शन करने से, वास्तवमें मन को ही ब्रह्मरूप से उपासना की गई है। अस्तु, हम बहुत प्रमाण-प्रयोग और युक्तियां उपस्थित करके, अधिक विस्तार नहीं करना चाहते। प्यासे साधकों के लिये युक्ति प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती।

बुद्धि द्वारा भगवान् में युक्त होने का नाम ही बुद्धियोग है। हमारे अन्यान्य तत्वों की अपेक्षा बुद्धितत्व सबसे अधिक सूक्ष्म और स्वच्छ है। बुद्धि अथवा महत्तत्व में ही चैतन्य का सबसे प्रथम प्रकाश होता है ; इस कारण बुद्धि द्वारा जितनी सुगमता से भगवान् में युक्त हुआ जाता है, उतना सहज प्राण मन अथवा इन्द्रिय द्वारा युक्त नहीं हुआ जाता है ; कारण कि वह बुद्धि की अपेक्षा स्थूल और बहुत अधिक जड़ धर्म्म वाले हैं। समधर्म्मी दो पदार्थों का मिलन जितना सहज में सिद्ध हो सकता है, उतना सहज में असमान धर्म्म दो पदार्थ नहीं मिलाये जा सकते। जल और मिट्टी के मिलाने में जितने यत्न की आवश्यकता है, उसकी अपेक्षा जल के साथ जल का मिलना थोड़े ही यत्न से हो जाता है। जल के साथ वायु का योग जितने श्रम से होता है, किन्तु वायु के साथ वायु का मिलन उसकी अपेक्षा बड़ी सुगमता से हो सकता है। इसी प्रकार, आकाश के साथ आकाश के मिलने में किसी प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं होती। ठीक इसी प्रकार, बुद्धि द्वारा आत्मा में युक्त हो रहना अति अल्प यत्न से सिद्ध हो जाता है। आत्मा—हमारी मा है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है ; इस कारण उसके साथ युक्त होने में, हमारा जो अंश सबसे सूक्ष्म है उसी के द्वारा मिलना होगा। प्रथम यदि मन अथवा इन्द्रिय द्वारा हम मा के साथ युक्त हो जांय, तो मनोरथ सफल नहीं होगा ; कारण, कि, मा स्थिरा, निर्विकल्पा है और मन अत्यन्त चञ्चल और सङ्कल्प विकल्पमय है। परन्तु प्रथमतः स्थिर बुद्धि द्वारा ही मातृ युक्त होना बहुत सहज है। इसी प्रकार बुद्धियोग में अभ्यास होने

से फिर कुछ दिन बाद धीरे-धीरे प्राण मन इन्द्रिय द्वारा भी क्रम से युक्त हुआ जाता है। साधारणतः हमारी इन्द्रियों के ऊपर रूप रस आदि बाह्य विषयों का दवाव पड़ता है; फिर उस समय विशिष्ट इन्द्रियों का दवाव मन के ऊपर पड़ता है और विषयावच्छिन्न मन का दवाव बुद्धि के ऊपर पड़ता है। इसीसे, बुद्धि लगातार विषयाकार से ही प्रकाशित होती रहती है; परन्तु भीतर की ओर से यदि बुद्धि मातृ-युक्त कर रक्खी जाय तो उस भगवद्भावान्विता निश्चयात्मिका बुद्धि का दवाव मन के ऊपर पड़ता है, उसी के फल से मनोयोग आरम्भ होता है अर्थात् मन द्वारा भी भगवान् के साथ युक्त हुआ जाता है। मनोयोग आरम्भ होने पर, इन्द्रियों द्वारा युक्त होना अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। थोड़े दिन ही चेष्टा करने से यह सुसिद्ध हो सकता है। इस बुद्धियोग का फल अति चमत्कार है! यह ठीक होमियोपैथिक औषधि की भाँति सूक्ष्म मात्रा में प्रयोग करने पर, जीवन शक्ति के ऊपर क्रिया प्रकाश करता है; फिर क्रम से स्थूल में आकर शक्ति-प्रकाशपूर्वक भवव्याधि की जड़ सदा के लिये जड़ से उखाड़ कर फेंक देता है।

अस्तु, इस मन्त्र में और एक शब्द है—एकाकी। बुद्धियोग के अनुष्ठान में दूसरे किसी सहायक की आवश्यकता नहीं होती। बाहिर से किसी प्रकार उद्योग वा अनुष्ठान किये बिना, मनुष्यमात्र ही, उठते, बैठते, खाते, पीते, सोते, जागते, चलते फिरते, सर्वदा सर्व-अवस्था में अपने मन से अकेले यह सत्यप्रतिष्ठा कर सकते हैं। जो साधक हैं, वह मृगया के बहाने से, आत्मानुसन्धान के नाम से, अकेले ही इस विषयारण्य में विचरते हैं। एका हुए बिना, तो एकक-सखा को पाया नहीं जाता। मा हमारी एका है। इसी से, हमको भी एका होना होगा; नहीं तो मा को किस प्रकार पावेंगे? साधक! जिस मुहूर्त्त में तुम एका हो सकोगे, उसी मुहूर्त्त में ही मा को प्राप्त करोगे। एक—अद्वितीय वस्तु को पाने के लिये, एकाकी

होना ही होगा। हमारी यह मा बड़ी स्वार्थपरायण है। एका हुए बिना नहीं आती। मा की इच्छा, एका हमारा आदर करेगी, एका हमको स्नेहधारा से सींचेगी ; परन्तु हम तो क्षण भर के लिये भी एका नहीं हो सके हैं ; संसार त्याग ही करें, फिर जंगल, पर्वतों अथवा गिरि गुहाओं में निवास करें, परन्तु यथार्थ 'एका' किसी प्रकार नहीं हो सकते। अपने सब प्राण मा को देने के लिये क्षण भर भी एका होकर नहीं बैठ सकते।

परन्तु सुरथ एकाकी होकर भी नहीं हो सके ; क्योंकि वह हय (घोड़ा) इन्द्रिय-अश्व तो साथ ही साथ चला है। जब एका हो सकेगा, तब तो वह मनु होगा ! केवल यही तो सूचना है। एका होने ही के लिये तो साधना है। संसार परित्याग करके, निर्जन में बास करने से एका नहीं हुआ जाता, जब तक मन है, तब तक एका होने का उपाय नहीं है। अथवा क्यों एका नहीं हुआ जायगा ! जब मा को पाया जाय, जब मा में अपने को भूल जाय, जब-मैं और मा, दोनों का पृथक् बोध न हो, एक अखण्डघन सच्चिदानन्दस्वरूप में अवस्थान किया जाय, तब ही एका हुआ जाता है। नहीं, उस अवस्था में एकत्वबोध भी नहीं रहता है। एकत्व ज्ञान भी द्वित्वादि बोध की अपेक्षा करता है, द्वितीय बोध के अभाव से एकत्व बोध भी नहीं रहता। कुछ भी हो, और अधिक बातों से हमें कुछ प्रयोजन नहीं है। हम जान लें कि मा ! अकेले आए हैं, अकेले चले जायेंगे। जन्म लेते समय कोई साथ नहीं आया, मृत्यु के दिन भी कोई साथ नहीं जायगा ; तब फिर क्यों बीच ही बीच उपद्रव इकट्ठे कर, अपने को बहुत कर देवें। मा ! हर समय इस बहुत्व की ज्वाला से जले मरते हैं, तो भी परित्याग नहीं कर सकते। मा ! तुम एका अद्वितीया हो ! हमको भी एका बनाओ ! इस बहुत्व में—इस सर्वभाव के मध्य में भी तुम एक अखण्ड स्वरूप से विद्यमान हो ! हमें भी इस बहुत्व के बीच से एकत्व में—महासत्य में

प्रतिष्ठित करो। मैं भी बहुतों में एक को पाकर एका हो जाऊं।

जो सत्य की प्राप्ति के लिये लालायित हैं, वे कभी-कभी अपने को एकाकी—बिल्कुल असहाय समझेंगे। सैकड़ों मित्रों से घिरे रह कर भी, सैकड़ों अपने कुटम्बियों के बीच निवास करके भी अपने को प्रति मुहूर्त्त अकेले समझने की चेष्टा करें, जबतक भूले रहें, कोई हानि नहीं; परन्तु जब मा की बात मन में आवे, तब उसी समय मनसे सब बातें झाड़कर साफ कर देवें। (बिल्कुल भूल जावें) मेरा बोल कर कोई नहीं है, मैं एका हूं, "एक मात्र एकक-सखा चिरजीवन का अद्वितीय सहचर तुम हमारी मा हो।" जहाँ तक हो सके इस प्रकार विचार कर अपने में एक होने की चेष्टा करें। एका होने होता है—मन में। मन-ही-मन अपने को सर्वदा एका समझने का अभ्यास होने से ही विषयाशक्ति कम हो जायगी। बार-बार मृत्यु का विचार करना इसमें विशेष सहायक है। वृन्दावन में गोपियां अपनी शक्ति अनुसार एका हो सकी थीं, उसीसे उन्होंने एकक सखा श्री कृष्ण से अकेले सम्भोग करके अपना जन्म कृतार्थ किया था। अब भी देख लीजिये—सुरथ बहुत कुछ एकाकी हुआ था, उसीसे उसने मेधसाश्रम में उपस्थित होकर जीवन धन्य किया था। आओ साधक! हम भी एका होने की यथाशक्ति चेष्टा करें।

स तत्राश्रममद्राक्षीद् द्विजवर्य्यस्य मेधसः।
प्रशान्तश्वापदाकीर्णं मुनिशिष्योपशोभितम् ॥९॥

अनुवाद—सुरथ ने उस बन में जाकर द्विजवर मेधस् का आश्रम देखा। वह आश्रम अत्यन्त शान्त हिंसक जन्तुओं से भरपूर है और मुनि शिष्यों द्वारा शोभायमान है।

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकार मृगया के बहाने से घोर वन में विचरता-विचरता, अर्थात् नक़ल करके प्रत्येक विषय में बुद्धियोग की

सहायता से आत्मानुसन्धान रूप सत्यप्रतिष्ठा करते करते माता की कृपा से एक दिन साधक देखते हैं कि—उनके सम्मुख एक नवीन (जो कभी पहले देखा नहीं) स्निग्ध, चैतन्यमय आकाश प्रकाशित हुआ है। वह आकाश इतना प्रत्यक्ष और सजीव है कि फिर नकल वा कल्पना कहने का उपाय रहता ही नहीं। उसके दर्शन मात्र से प्राण मानो अमृत रस में निमग्न हो जाते हैं, अविश्वासी चञ्चल मन स्थिर हो जाता है, उस निर्म्मल सत्य ज्योति में मुग्ध हो जाता है। हृदय के चिर सञ्चित सन्ताप क्षण भर में न जाने कहाँ अन्तर्हित हो जाते हैं। प्रथम वह चिदाकाश मलिन भावापन्न, चञ्चल और अतिअल्प क्षणमात्र स्थायी होता है, फिर क्रम से सत्य-प्रतिष्ठा में अभ्यस्त होने पर वह श्वेत, निर्म्मल और बहुक्षण स्थायी होता है, इच्छा मात्र से ही दर्शन किया जाता है। उस समय साधक को बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। सुरा (शराब) के लोभी मद्यपान करने वाले की भांति वह आकुल आकांक्षा से अग्रसर होता रहता है। सारे संसार को भूलकर, केवल उसी वस्तु को लेकर सहज ही स्थिति की गई है, ऐसा जान पड़ता है। क्रम से मा की कृपा से, वह आकाश अनेक रङ्गो से रञ्जित होकर साधक के चित्त को आकर्षित करता रहता है। कभी पीली, कभी लाल वर्ण की अति उज्वल स्निग्ध ज्योति नेत्रों द्वारा प्रकाशित होती रहती है। क्रम से वह ज्योति अतिशय उज्वल, शान्त और निर्म्मल होकर अनन्त विस्तार को प्राप्त होती है और जगत् सत्ता को आच्छादित कर डालती है, इसीका नाम अरण्य के बीच सुरथ का मेधसाश्रम दर्शन है।

मेधस् शब्द का अर्थ—मेधा वा स्मृति शक्ति है। जिससे आत्म-स्मृति जागरित हो, वही मेधस् पद-वाच्य है। बुद्धितत्व में आरोहण कर सकने से अर्थात् बुद्धिज्योति उद्भासित होने से—आत्मस्मृति उपस्थित होती है; इसीसे इसको बुद्धि का स्थान कहा जाता है। द्विजवर्य्य शब्द का अर्थ ब्राह्मण श्रेष्ठ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य,

तीनों वर्ण ही द्विज शब्द के बोधक हैं। इन तीन वर्णों में जो श्रेष्ठ है, वही द्विजवर्य्य है। नीतिशास्त्र में भी कहा है—'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः'।

धी वा बुद्धितत्व ही ब्राह्मण है। धी एवं मेधा प्रायः एक ही बात है। यह धी जब प्रथम उन्मेषित होती है, तब वह स्मृति के आकार में ही प्रकाशित होती है। इसीसे, यहाँ पर बुद्धि वा धी न कहकर मेधस् कहा गया है। बुद्धितत्व में ही ब्रह्म का वा निर्गुण चैतन्य का सबसे प्रथम प्रकाश होता है। जीव इस बुद्धिमय क्षेत्र में आत्मबोध उपसंहृत कर सकने से ही, ब्रह्म स्वरूप को जान सकता है। इसी कारण धी को ही ब्राह्मण कहा गया है। जगत् का ब्राह्मण-वर्ण भी इस धी शक्ति को ही प्राप्त कर जगत् पूज्य है। प्रतिदिन ब्राह्मण लोग गायत्री मन्त्र से इस धी शक्ति की प्रार्थना करते हैं, और उसे जगत्मय प्रसार कर, धीरे धीरे सब जीवों के हृदय में ब्रह्मज्ञान का बीज बोकर जीव संघ को महासत्य की ओर आकर्षित करते हैं। इसीसे, ब्राह्मण इतने पूज्य हैं; इसीसे कौस्तुभ-चिह्नित विष्णु की छाती पर ब्राह्मण का पद चिह्न सुशोभित है। ब्राह्मण माता की गोद में स्थित नग्न शिशु हैं। जगन्मङ्गल ही ब्राह्मण का व्रत हैं। ब्राह्मणों का आसन कितना ऊँचा है, ब्राह्मण हमारा क्या उपकार करते हैं, इसकी हम धारणा नहीं कर सकते। ब्रह्म अज्ञेय अगम्य है; परन्तु ब्राह्मण नित्याश्रय हैं। ब्राह्मण रूप महाकेन्द्र स्थिर है, इसीसे जीव संघ सृष्टि चक्र स्थिर है; नहीं तो अपने भ्रमण मार्ग से गिरे हुए ग्रहों की भाँति न जाने कहाँ अदृश्य हो जाते। आचार्यों ने जो भक्तों का आसन भगवान् से भी उच्च दिया है, यह स्तुतिवाद नहीं है। भक्तों के हृदय में ही भववान् सदा विराजमान हैं। भक्त ही साकार भगवान् हैं। भक्त के दर्शन होने से ही भगवान्के दर्शन होते हैं। यह भक्त ही ब्राह्मण है अथवा ब्राह्मण ही भक्त है। ब्रह्मज्ञान और पराभक्ति वा प्रेम एक ही बात है। ब्राह्मण—अर्थात् ब्रह्मज्ञ पुरुष ही यथाथ भक्त वा प्रेमी हैं। परन्तु वह और बात है :—

हम मेधा के स्थान वा बुद्धिमय क्षेत्र को ही मेधस् का आश्रम समझेंगे। इसी स्थान ही ब्रह्मज्ञान का खुला द्वार है। साधक को सुषुम्ना-प्रवाह प्रकाशित होने ही से इस क्षेत्र में उपस्थित हो सकते हैं। सांख्यदर्शन की भाषा में इस स्थान को महत्तत्व कहा जाता है। इस महत्तत्व का साक्षात्कार-प्राप्त होने से ही जीव की अज्ञान-ग्रन्थि बिलकुल शिथिल हो जाती है। तान्त्रिक लोगों की कुल कुण्डलिनी-जागरण का भी यही लक्षण है।

इस मेधसाश्रम के दो विशेषण हैं; एक तो 'प्रशान्तश्वापदाकीर्ण' और दूसरा 'मुनिशिष्योपशोभित'। उस स्थान में शिकारी जानवर आपस में हिंसा द्वेष भूलकर प्रशान्त भाव से निवास करते रहे हैं। शार्दूल, मृग, मयूर, सर्प, अहि, नकुल आदि प्राणिगण स्वाभाविक वैरता को त्याग कर मित्रभाव से निवास करते हैं। चारों दिशाओं में मुनि मौनभावापन्न शिष्यगण ब्रह्मध्यान में लीन हो रहे हैं। जब कभी शिष्यों का मौनभाव दूर हो जाता है, तब उनके बड़े-बड़े स्तोत्र दिशाओं को गुञ्जारित कर रहे हैं। कभी उनकी आहुतियाँ अग्नि में अर्पित होकर, पवित्र हव्य की सुगन्ध से सर्वत्र सौरभ फैलाती हुई दूर बैठे हुए मनुष्यों के प्राणों में भी पवित्र सात्विकभाव ले रही हैं। हाय! ऐसा आश्रम क्या फिर हम देख पावेंगे! जहाँ जाने पर स्वर्ग भी तुच्छ जान पड़ेगा! जहाँ का प्रत्येक वृक्ष प्राणमय–सत्यभाव से जाग्रत है! जहाँ की मिट्टी भी सदा सत्य–सम्वेदन से सजीव है! जिस आश्रम का वायु केवल सत्यभाव वहन करता है! जहाँ का आकाशमण्डल सत्यनाद के सत्य कम्पन से सदा लहराया करता है! ऐसे ऋषियों का आश्रम क्या फिर देख पाओगे? भारत जिससे गौरवान्वित था, द्वापर के अन्त में उस गौरव के चिह्न तक मानो भारत की छाती पर से लोप हो गये। पवित्रनामा ऋषियों की पवित्र चरणरज के स्पर्श से पवित्र भारत वक्ष पर क्या भगवान् फिर ऋषिरूप में अवतीर्ण होंगे? जो गृही वा सन्यासी हैं, आश्रमी या दण्डी हैं, कुछ

कहने ही में नहीं आते; जिनके स्त्री पुत्र धान्य पशु सब ही थे; तो भी कुछ नहीं था; जो इन सब में रहते हुए भी विश्व के कल्याण-साधन में लीन रहते थे। अब चारों ओर अनेक अवतारों के नाम सुने जाते हैं, अनेक स्थानों में मठ देखे जाते हैं! परन्तु ऐसे ऋषियों का आश्रम तो कहीं एक भी नहीं दिखाई पड़ता! मा! कब तुम ब्रह्मर्षिरूप से फिर प्रगट होओगी? कब फिर सत्यधर्म्म, जगत् में प्रतिष्ठित होगा?

अस्तु, आध्यात्मिक भाव से इन दोनों विशेषणों का रहस्य जानने की चेष्टा किये जाओ। बुद्धिमय क्षेत्र में वा महत्तत्त्व में पहुँचने पर देखा जाता है कि परस्पर विरुद्ध भावों ने स्थिरभाव धारण कर लिया है। पहले जो भाव एकके बाद एक बिना बुलाये अपने आप उपस्थित होकर, साधकों को उथल पुथल कर डालते थे, वे ही अब बुद्धि ज्योति के विकाश से साधकों को साक्षी-मात्र स्वरूप उदासीन जान पड़ते हैं, वे मानो सम्पूर्ण स्थिरभाव से दर्पण-दृश्यमान नगरी की भांति निवास कर रहे हैं। वृत्तियों की वह पाशविक चञ्चलता मानो कहीं चली गई है। जो पूर्व सदा साधकों को चञ्चल किये रहती थी, वे ही अब बुद्धि ज्योति के नीचे पड़कर, स्थिर और प्रशान्तभाव से मानो छाया की भांति निवास कर रही हैं। ऐसा अनुभव हुआ करता है। यही प्रशांत श्वापदाकीर्ण अवस्था है। काम क्रोधादि वृत्तियां श्वापद स्थानीय हैं। बुद्धितत्व के साक्षात्कार से ये प्रशान्तभाव में अवस्थान करती हैं।

केवल यही नहीं, वह स्थान मौनभावापन्न शासन योग्य शिष्यों द्वारा सुशोभित है। पूर्व्व कहा गया है कि बुद्धि ज्योति के प्रकाश से भाव वा वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। उन भावों का मूल कहाँ है? शब्द में; बिना शब्द के भाव नहीं होता। तुम वृक्ष का विचार करते हो, कुछ स्थिर भाव से मन की ओर लक्ष्य करो—तो देखोगे कि, तुम्हारे मनमें "वृक्ष-वृक्ष-वृक्ष," इस प्रकार एक शब्द होता है। अथवा गाना सुनते हो। उस समय धीर भाव से अपने मन की ओर लक्ष्य करो, तो देखोगे तुम्हारे ही मन के भीतर गान हो रहा है। ऐसा ही

सर्वत्र है। वेदान्त की भाषा में भाव की संज्ञा नाम और रूप है। शब्द नहीं है तो भी नाम है, ऐसा होता नहीं। हमारे मन में चाहे कोई भाव क्यों न जगे, वह कुछ शब्दों की समष्टि (समूह) मात्र है। शब्द से ही भाव की उत्पत्ति है। वे शब्द यद्यपि ध्वनि के आकार में बाहर नहीं आते, तथापि वे नीरवता के शब्द हैं इसमें कोई सन्देह नहीं! इसे परीक्षा कर देख सकते हो।

अस्तु, भाव स्थिर होने ही से, उनको उत्पन्न करने वाली शब्द-राशि भी अपने आप स्थिर हो जाती है, इसी कारण मन्त्र में भी मुनि शब्द का प्रयोग हुआ है। हमारा मन दिन रात मानो पागल की भांति बकता रहता है; इसीसे हम चञ्चल हैं। बुद्धितत्व के साक्षात्कार से वह बकना बन्द हो जाता है। मनमें फिर किसी प्रकार का शब्द अथवा चञ्चलता नहीं जान पड़ती। शिष्य शब्द का अर्थ है शासन के योग्य। भाव समूह स्थिर होने पर उनके उत्पन्न करने वाले शब्द फिर नहीं सुनाई पड़ते एवं वे मानो हमारे सम्पूर्ण शासन-योग्य अर्थात् वशीभूत हो गये हैं ऐसा जान पड़ता है। जीव पहले इन वृत्तियों द्वारा इस भावराशि द्वारा बहुत पीड़ित हुआ है! परन्तु इस समय भाव-समर में पराजित होकर वह मृगया के बहाने से घोर जङ्गल में प्रवेश पूर्वक मेधसाश्रम में पहुँच कर देखता है कि भावों ने सब प्रकार की चञ्चलता त्याग दी है, और मानों वह हमारी ही इच्छानुसार चलने योग्य दशा को प्राप्त हो गये हैं। ऐसा मनोरम वही बुद्धिमय क्षेत्र वा मेधसाश्रम है। ओहो! ओहो! कैसा प्राण-जुड़ान, कैसा लुभाने वाला वह चिन्मय ज्योर्तिमण्डल है! जहाँ सब प्रकार की चञ्चलता, सब प्रकार के बाहिरी शब्द बिलकुल दूर हो गये हैं। जीव कब तुम उस महती धी रूपिणी ज्योर्म्मियी मा के स्नेहमय वक्ष पर स्थान प्राप्त करके सब प्रकार की चञ्चलता से मुक्त होओगे?

और भी खुलासा कहते हैं—नक़ल करके जगत्मय सत्य-प्रतिष्ठा

करते-करते—प्रत्येक पदार्थ में सत्यबोध घनीभूत हो जायगा। उसके बाद किसी दिन देखोगे कि—एक शुभ्र प्राणमय जीवित ज्योति चारों ओर पसर रही है। यह ऐसी स्थिर है कि वहाँ पर जितनी भाव—चञ्चलता थी वह बिल्कुल नहीं जान पड़ती है। यह फ़लाना है, यह फ़लाना है, ऐसे विशिष्ट शब्दों से फिर भाव उद्वेलित नहीं हो रहा है। एक जीवन्त स्थिर सत्ता में मानों जगत् छाया की भांति अवस्थान कर रहा है। यह इतना प्रत्यक्ष, इतना घन है कि और कल्पना नहीं कर सकेंगे। बल्कि जगत् के अस्तित्व में सन्देह हो सकता है; परन्तु इस सत्ता में कोई संशय न रहेगा। बार-बार इसमें अवस्थान करने का अभ्यास कर लेने पर, अन्त में इच्छामात्र से ही इस महत्तत्व पर्यन्त एक साथ पहुँचने सकता हैं। यही सुरथ की मेधसाश्रम में अवस्थिति (निवास) है।

इस दर्शन को मेधसाश्रम कहने का तात्पर्य्य क्या है? गीता भाष्य में भगवान् शंकराचार्य्य ने कहा है,—ब्रह्माहमस्मि इति स्मृति रेव मेधा" "मैं ब्रह्म हूं" ऐसी जो स्मृति है, उसीका नाम मेधा है। बुद्धिमय क्षेत्र में पहुँचने पर जीव—ब्रह्म की अभेद बोधक स्मृति जाग्रत होती है। जो लोग पुस्तक पढ़कर वा उपदेश सुनकर "अहं ब्रह्मास्मि" कहते हैं, वे केवल वाक्य से ही उच्चारण करते है—सिखाये हुए पक्षी की भांति महा वाक्य का शब्द आवृत्ति मात्र करते हैं। महत्तत्व में उपस्थित होने के पूर्व जीव-ब्रह्म के अभेद-विषयक परोक्ष ज्ञान भी नहीं होता है। यह परोक्ष ज्ञान ही साधन-सापेक्ष है। साधन के अन्तिम फलरूप में अपरोक्षानुभव तो फिर अपने आप प्राप्त हो जाता है। अथवा वह साधन का फल नहीं है,—हमारी मा दया करके, स्नेह से मुग्ध होकर, आप ही आती है।

जीवन का लक्ष्य स्थिर करके, सत्यप्रतिष्ठारूप सुगम मार्ग के आधार पर गुरु के बताये हुए उपाय द्वारा आगे बढ़ने से, अनायास इस आश्रम में पहुँच जा सकता हैं। इस स्थान पर पहुँच कर जीव

समझ सकते हैं कि हम जिसका साधन करते हैं, जिसके पाने को आकुल हो रहे हैं, वह 'मैं' हूँ, अरे! इतने दिन तक यह सहज बात समझ ही में नहीं आई थी! अरे! अपने ही अनुसन्धान में 'मैं' दौड़ रहा हूँ, यह जो समझना यह जो अनुभव है, इसीका नाम मेधा है और जहां उपस्थित होने पर ऐसी स्मृति जाग उठती है, उस स्थान का नाम मेधसाश्रम है। यही बुद्धि का क्षेत्र वा महत्तत्त्व है। बुद्धियोग अवलम्बन का यही अमृतमय फल है। इसी बुद्धि योग का महत्व कीर्तन करने में अठारह अध्यायी गीता समाप्त हुई है। इस स्थान में उसका फल आरम्भ हुआ है। इसी कारण, प्रथम कहा गया है कि—गीता भित्ति है, और चण्डी उसके ऊपर स्थित अनुपम महल है। गीता–साधना है, चण्डी–सिद्धि है।

तस्थौ कञ्चित् स कालञ्च मुनिना तेन सत्कृतः।
इतश्चेतश्च विचरंस्तस्मिन् मुनिवराश्रमे॥
सोऽचिन्तयत्तदा तत्र ममत्वाकृष्टचेतनः॥१०॥

अनुवाद—हे मुनिवर! राजा सुरथ ने उस आश्रम में मेधस् द्वारा सत्कृत होकर इधर उधर टहलते हुए, कुछ समय निवास किया था। उस समय वह वहां ममता से आकृष्टचित्त होकर (वक्ष्यमाण) अनेक प्रकार की चिन्ता करने लगा।

व्याख्या—जीव बुद्धियोग की सहायता से, सत्यप्रतिष्ठा के फल से एक बार बुद्धिमय क्षेत्र में वा मेधसाश्रम में पहुँचने पर वहां कुछ काल ठहरने को बाध्य होता है। कारण कि मेधस् उसका सत्कृत करते हैं। सत्स्वरूप को स्मृति जाग्रत कर देते हैं। मानो यह सत् बोध पूर्व रहते हुये भी नहीं था; परन्तु यहां बुद्धि ज्योति के प्रकाश से ध्रुवास्मृतिरूप मेधस् की कृपा से जीव समझ सकता है, "मैं तीनों काल में सत् वा सत्य हूं!" इसी से मन्त्र के "सत्कृतः" शब्द में अभूत तद्भाव-अर्थ में लुप्त च्वि प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

मा जब जीव के हृदय में 'ब्रह्माहमस्मि' मैं ही ब्रह्म हूं, ऐसी ध्रुवा स्मृति को जाग्रत कर देती है, तब जीव को इतना आनन्द प्राप्त होता है कि वह भाषा द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। वह स्मरण लुभाने वाला है—छोड़ने की इच्छा नहीं होती। अनेक जन्म व्यापी जीवत्वभार ढोते-ढोते और परिच्छिन्न विषयानन्द भोग करने के बाद जब जीव इस आश्रम में—इस ब्रह्मत्व बोधरूप स्मृति के समीप उपस्थित होता है, जहाँ बोध में जीवत्व नहीं है, ज्ञान में क्षुद्रत्व नहीं है, आनन्द में सीमा नहीं है, मृत्यु नाम से भय नहीं है, प्रिय वियोग के नाम से शोक नहीं हैं, अनिष्ट प्राप्ति के नाम से दुःख नहीं है, है तो केवल हो सत्ता, है तो केवल ज्ञान, है तो केवल आनन्द और है अखण्ड पूर्ण आत्मबोध। उस स्थान में यदि जीव किसी प्रकार से आकर उपस्थित हो सके, तो क्या फिर उस स्थान का शीघ्र त्यागने की इच्छा होती है? परन्तु सुरथ को अबतक ठीक-ठीक यह अवस्था प्राप्त नहीं हुई है। इस अवस्था की एक स्मृति-मात्र, चिरान्धकाराच्छन्न चित्ताकाश में क्षणभर के लिये नक्षत्र की ज्योति की भांति दर्शित हुई है। परन्तु कुछ भी हो, यह सुखमयी स्मृति जीव को कुछ देर के लिये आनन्द से मुग्ध कर रखती है। इसी से मन्त्र में "कञ्चित् कालं तस्थौ" कहा गया है।

जीव इस जगह आने पर क्यों इतना मुग्ध होता है? क्यों मेधसाश्रम का सहसा परित्याग नहीं कर सकता? जीव इस स्थान में सत्कृत होता है। और समझ सकता है कि मैं 'सत्' से उत्पन्न हुआ हू, 'सत्' में सदा स्थित रहता हूँ, और सत् ही मेरा अन्तिम स्थान है। मैं तीनों काल में ही नित्य वर्तमान सत्स्वरूप में अवस्थान करता हूँ। प्रथम जिस सत्यप्रतिष्ठा वा सत् उपलब्धि के लिये जीव चेष्टा करता है, (जो हमने मृगया के बहाने से घोड़े पर सवार होकर वन-गमन की बात में पाया है) वह साधन का प्रथम सूत्रपात नक़लकर सत् का अनुसन्धानमात्र है। उस नक़ली सत्यानुसन्धान

ही ने आज साधक को चिरस्थायी स्मृति के निकट उपस्थित किया है। यहां पर ही साधक को ऐसा अनुभव होता है कि "मैं" चाहे जितने जन्म मृत्यु और परिवर्तन के भीतर गमनागमन क्यों न करूँ, मेरे इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य पदार्थ मुझको चाहे जितनी विनाशशीलता का भय क्यों न दिखावें, परन्तु मैं एक अखण्ड नित्य स्थिर सत्ता में अधिष्ठित हूँ।" सत् वस्तु जो है वह सब प्रकार के परिवर्तन के भीतर नित्य अपरिवर्तनीय अवस्था में ओतप्रोत हो रही है, इसका अनुभव वा प्रत्यक्षता प्राप्त होता है–इस स्थान पर, इस मेधसाश्रम में। पर इस सत् के अभिज्ञान का नाम ही 'माता की गोद है'। पूर्व हमने अनेक स्थानों में 'माता की गोद में स्थित शिशु' वाक्य का प्रयोग किया है ; उसका तात्पर्य्य साधक यहाँ पर समझ सकेंगे। जबतक "सत्कृतः" नहीं हुआ जाता, तबतक माता की अभय गोद का पता नहीं पाया जाता है।

सुरथ का भाग्य बदल गया है—जीवत्व अवसान (अन्त) का समय आया है ; इसीसे मातृलाभ की अत्यन्त आकांक्षा प्राणों में जगी है। भावविरोधिता—प्रजा विद्रोह और मन्त्री विरोधिता ने उस आकांक्षा को और भी तीव्रतर कर दिया है। वह व्याकुल प्राण से माता की प्राप्ति की आशा में चला है! इसी से, आज मेधसाश्रम में उपस्थित होकर, नित्य सत्य का सन्धान प्राप्त रूप 'सत्कृत' होकर कृतार्थ हुआ है। हमारी मा ध्रुवा स्मृति रूपसे प्रकाशित होकर कहती है कि—तू सत् है और मैं सच्चिदानन्दमयी मा हूं और तु जीव रूपी मेरे ही स्नेह का दुलारा पुत्र है। जब ज्ञान से वा अज्ञान से एक बार मा कहकर पुकारा है, तब फिर क्या तुझे असत् रख सकती हूं! पुत्र ! तुम देखो कि—तुम मेरी गोद में नित्य सत्य में सदा अधिष्ठत हो। तुम्हारा जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, बाल्य नहीं, यौवन नहीं, बुढ़ापा नहीं, जाति नहीं, वर्ण नहीं, धर्म्म नहीं, अधर्म्म नहीं, कोई भी परिवर्तन कोई भी विवर्त, कोई भी विकार, कोई भी भ्रान्ति, तुम में

नहीं है। मैं तुम्हारी सच्चिदानन्दमयी मा हूँ ! तुम मेरे सच्चिदानन्दमय पुत्र, आज मेरे केवल सत्स्वरूप का अनुभव करो। क्रम से तुम्हारी प्यास की तीव्रता के अनुसार चित् और आनन्दस्वरूप भी तुम्हारी प्रतीति के योग्य करा दूंगी, और अपने में सदा के लिये मिला लूंगी, मेरे स्नेहमय वक्ष पर सदा के लिये आश्रय पाओगे, सदा के लिये तुम्हारा जीवत्व बोध दूर हो जायगा, मुक्तिरूप मेरे ही स्नेह रूप अञ्चल के भीतर सदा निर्भय होकर अवस्थान करोगे। फिर अपने को क्षुद्र समझ कर, असत् मानकर, परिणामी देखकर अवसाद को मत प्राप्त हो। देखो, मैं—मा तुम्हारी सब अवसाद को दूर करने के लिये, मैंने तुमको छाती पर धारण कर रक्खा है।

सत्यप्रतिष्ठा के प्रथम सूत्रपात में जो कल्पनामात्र प्रतीत होता था, वह यहाँ से यथार्थ सत्यरूप में अनुभव होता है। यह सत्-वस्तु प्रत्यक्ष है। यह किसी प्रकार अनुमान वा कल्पना की सहायता से नहीं समझा जाता है। यह इतना स्थूल इतना घन है कि जागतिक पदार्थों की स्थूलता मानो इस निश्चल सत्ता के निकट छाया मात्र जान पड़ता है। साधना जगत् में अनुमान वा अप्रत्यक्ष जब तक रहे, तबतक समझना चाहिये कि अभी यथार्थ साधन का सूत्रपात नहीं हुआ है। इसके प्रति पद क्षेप पर कुछ न कुछ प्रत्यक्ष, कुछ न कुछ लाभ होगा ही। जब इस प्रकार प्रत्यक्षता होती रहे, तब ही साधना सरस और मधुर होती है। तब से फिर इसको नीरस और कष्टसाध्य कर्म्मविशेषमात्र बोलकर नहीं मालूम होता है। तब साधक उत्साह से आगे बढ़ते हैं और बहुत शीघ्र आत्म-लाभ में कृतार्थ होते हैं।

जो साधन करते हैं, वे यदि यहाँ तक कुछ प्रत्यक्ष न कर सकें, तो समझ लें कि—मृत कर्म्म का अनुष्ठान होता है। कर्म्म को चैतन्य-मय करलो, फिर देखोगे सब ही मधुर और सरस है। मृत साधना बिल्कुल लाभदायक नहीं होता है, ऐसा हम कभी नहीं कहेंगे; कारण

कि जीवमात्र ही साधक हैं, कर्म्ममात्र ही साधन हैं और साधनानुसार सिद्धि प्राप्ति भी अवश्यम्भावी है। परन्तु साधक! यदि तुम थोड़े समय में अर्थात् इसी जीवन में अमृत का पता और आस्वाद लेना चाहो, तो साधना को सजीव कर लेना चाहिये—प्राणमय कर लेना चाहिये। सौर गाणपत्य वैष्णव शैव शाक्त जैन बौद्ध यवन म्लेच्छ आदि सब प्रकार के साधक-सम्प्रदाय ही यथार्थ अमृत का पता पा सकते हैं। अपने-अपने साधन की प्रणालियों को यदि सत्य की भित्ति के ऊपर प्रतिष्ठित किया जाय, तो थोड़े ही समयमें वह आशातीत फल प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी चाहे जिस सम्प्रदाय वाला हो, उसी सम्प्रदाय का साधन एक अद्वितीय वस्तु को प्राप्त करने के लिये पर्य्याप्त है, यदि उसमें साधक प्राण का सन्धान कर सकें। प्राण दिये बिना प्राणों का पता नहीं मिल सकता है। प्राण के मिले बिना मृत्यु-भय दूर नहीं होता है, जिसका साधन जितना प्राणमय है, उसका साधन उतना ही शीघ्र फलदायक है। प्राणहीन साधना मुर्दे की देह मात्र है। मृतके शरीर को भूषण वसन द्वारा चाहे जितना सुसज्जित क्यों न करो, वह जिस तरह किसी प्रकार सौन्दर्य्य का विकास नहीं कर सकता; बल्कि मलिन छाय को और भी घन कर डालता है, उसी प्रकार प्राणहीन कुछ बाह्य आचार अनुष्ठान रूप साधन कभी परमात्म प्रकाश में समर्थ नहीं होते; बल्कि अज्ञानता के धनान्धकार को और भी निविड़तर कर डालता है। वृक्ष की शाखा उपशाखा काण्ड मूल फूल फल पत्र आदि रूप अनेक प्रकार के भेद, अनेक प्रकार के नाम और रूप की बिभिन्नता रहने पर भी जिस रस-प्रवाह ने वृक्ष को सञ्जीवित कर रक्खा है, वह जिस प्रकार वृक्ष के सर्वाङ्ग में तुल्य रूप से प्रवाहित है, साधन क्षेत्र में भी ठीक उसी प्रकार समझिये। सम्प्रदाय गत, नाम गत, आकार गत, आचार गत, अनुष्ठान गत, असंख्य भेद और अनेक विचित्रतायें रह सकतीं हैं, और रहना भी उचित है; (क्यों, यह आगे कहेंगे) परन्तु

उस बहुत सी विचित्रता में एक अखण्ड रसप्रवाह-सत्, चित् और आनन्द स्वरूप प्राण सर्वत्र ओत प्रोत भाव से अनुस्यूत (प्रथित) हो रहा है। उस रस-प्रवाह की ओर लक्ष्य रखने से सब साधन एक ही फल के देने वाले प्रतीत होते हैं। केवल इस सत्य वस्तु को भूल जाने (छोड़ देने) से ही साधकों में अनेक प्रकार की साम्प्रदायिकता, अपने अपने मत का प्राधान्य स्थापना, दूसरे के मत का खण्डन करने में प्रयास आदि सङ्कीर्णता प्रगट होती हैं।

चार बालक अलग-अलग ग्रन्थकारों के बनाये हुए चार वर्ण परिचय पढ़ते थे, किसी पुस्तक के वर्ण परिचय में 'अ' अक्षर के पास एक अश्व का चित्र है; किसी पुस्तक में अजगर सर्प का चित्र है, किसी पुस्तक में अलाबू का और किसी पुस्तक में अजा का चित्र है। बालक लोग उन चित्रों को देख कर 'अ' वर्ण सीखें; अकार की बनावट मन में रक्खें—यही ग्रन्थकारों का उद्देश्य है; परन्तु बालकों ने उस 'अकार' वर्ण को छील डाला है, वा उसपर स्याही पोत कर उसे अदृश्य कर दिया है। अब चारों आपस में झगड़ा कर रहे हैं। एक कहता है—हमारी पुस्तक बहुत अच्छी है, इसमें घोड़े की छवि है, देखो तो कैसी अच्छी है! दूसरा कहता है—नहीं नहीं हमारी किताब बहुत अच्छी है; यह देखो कैसी अजगर की तस्वीर है। तीसरा कहता है—वाह, हमारी पोथी के बराबर किसी की नहीं है, इसमें अलाबू का चित्र है। अलाबू क्या है—लौकी! कैसे बढ़िया तरकारी है। फिर चौथा कहता है—जाओ, जाओ, तुम्हारी तीनों की पुस्तकों से मेरी पुस्तक बहुत अच्छी है—कैसी छवि है। यह देखो, इसमें अजा का फोटो (चित्र) है। अजा क्या है जानते हो—बकरी। इसी प्रकार हमारे धर्म्म विषय में साम्प्रदायिक झगड़े हैं—विरोध है। जो उद्देश्य जो लक्ष्य उसको हम भूल गये हैं। केवल बाहिर के आवरण को लेकर आपस में द्वेष भाव चला रहे हैं।

साधना का वा जीव का लक्ष्य-सच्चिदानन्द प्राप्ति है। सच्चिदा-

नन्द ही जीव का स्वरूप है ! चाहे किसी कारण से हो, हम असत्, अचित, और निरानन्द हो रहे हैं। सर्वदा मृत्युभय से शङ्कित हैं— जिससे हमारा अस्तित्व ही लोप होता है, यह आशङ्का जीव मात्र में ही है; इस कारण असत् है ! हमारा ज्ञान इतना सँकीर्ण है कि समस्त जानने योग्य वस्तुओं को प्रकाश नहीं कर सकता, इस कारण अचित है। हम जिस आनन्द का भोग करते हैं, वह दुःख मिला हुआ है; इस कारण निरानन्द है। जीव मात्र को ही इस तीन प्रकार की अवस्थाओं से मुक्त होकर, सच्चिदानन्द स्वरूप की उपलब्धि में जाना होगा, यही साधना का उद्देश्य है। वह स्वरूप किसी दूसरे स्थान से उधार कर वा मांग कर नहीं लाना होता है, बल्कि वह प्रत्येक के अन्तर में छिपा हुआ है। उस अप्रकट ब्रह्मभाव को प्रकाशित करने का नाम साधना है। जीव मात्र ही ज्ञान से वा अज्ञान से यह साधन ही करते हैं। क्योंकि सब ही चाहते हैं कि हमारा अस्तित्व लोप न हो, हम अनन्त काल तक रहें; इसीका नाम सत् की उपासना है, फिर ऐसा अस्तित्व हम नहीं चाहते कि जिसे जान न सकें। यदि कोई कहे कि तुम चिरकाल रहोगे; परन्तु यह समझ न सकोगे कि "तुम हो" तो हमें ऐसा रहना तो चाहिये नहीं। हम चाहते हैं कि "मैं चिरकाल रहूँ और समझ सकूं कि मैं हूं"। इसका नाम चित् की साधना है। फिर यह रहना यदि निरवच्छिन्न दुःखमय हो, तो ऐसा रहना भी नहीं चाहिये; इस कारण हम चाहते हैं कि "मैं रहूं" मैं समझूं कि "मैं हूं" और मेरा रहना 'आनन्दमय' हो। इस प्रकार प्रत्येक जीव ही सच्चिदानन्द की खोज में है। कोई मद्यपान करके, कोई चोरी करके कोई निष्ठुरता करके, उस सच्चिदानन्द का अन्वेषण वा सेवा करते हैं; और कोई दया क्षमा उदारता भगवत् प्रीति अथवा साधन भजन द्वारा सच्चिदानन्द की सेवा करते हैं; इस कारण जीव मात्र ही साधक हैं और कर्म्ममात्र ही साधन है। यह पूर्व भी कहा गया है। जबतक इसे बिना जाने कर्म्म करते हैं, तबतक मनुष्य साधारण जीव

मात्र है; और जब ये समझ कर कर्म्म करते हैं, तब वह साधक कहे जाते हैं। साधारण जीव और साधक में यही अन्तर है। जो व्यक्ति अपने को साधक मानते हैं, तो भी ज्ञानतः सच्चिदानन्द का अन्वेषण नहीं करते, उनके उस साधन को साधारण लौकिक कार्य्योंकी अपेक्षा उन्नत आसन क्यों कर दिया जा सकता है ? इसीसे कहा है कि—सब प्रकार के साधनों के भीतर छिपे हुए उस सच्चिदानन्दरूप रस-प्रवाह की ओर लक्ष्य रखकर आगे बढ़ना होगा। कोई-कोई कठोर तपस्यादि का अनुष्ठान करते हैं, तो भी इस सचिदानन्द का पता नहीं पाते—अपना अमरत्व, नित्यत्व, आनन्दमयत्व का अनुभव नहीं कर सकते जब ऐसा देखो, तव समझ लो कि वह लक्ष्यहीन होकर वा उद्देश्य भूल कर केवल तपस्या के लिये वा सिद्धि प्राप्त करने के लिये तपस्या करते हैं।

जीव जब जान बूझ कर साधना के प्राण इस सच्चिदानन्दस्वरूप के सन्धान में व्याकुल होकर लग जाता है, तब सब से प्रथम सत्स्वरूप ही प्रतीति योग्य होता है। इस प्रथम स्वरूप के अनुभव से जीव एक अखण्ड नित्य सत्ता का पता पाता है। यही इस मन्त्र में 'सत्कृत' शब्दद्वारा निरूपित हुआ है। चाहे किसी सम्प्रदाय के साधक अपनी साधन प्रणाली को सत्य में प्रतिष्ठित कर, प्राणमय वा रसमय कर लेने पर, इस अखण्ड सत्-वस्तु का सन्धान पा सकते हैं। आचार भेद और अनुष्ठान भेद से साधन का जो भिन्न-भिन्न प्रकार का फल उत्पन्न होता है; वह अज्ञानमूलक है। यहाँ पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के साधनों का क्रम उल्लेख करके, उसमें सत्यप्रतिष्ठा का उपाय दिखलाने से, पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जायगा; इस कारण उसका वर्णन नहीं किया गया है। अथवा पुस्तक पढ़कर कोई कभी साधन का रहस्य पूर्ण भाव से अनुभव न तो कर सका है, और न कर सकेगा। विनीत भाव से यथोचित श्रद्धा के साथ गुरुमुख से उसे श्रवण करना चाहिये; एवं गुरु यदि कृपावश हो अपनी आध्यात्मिक

शक्ति शिष्य के हृदय में सञ्चारित कर देवें, तब ही साधना आशानुरूप फलवती होती है। नहीं तो मौखिक ज्ञान की आलोचना से किसी को कभी यथार्थ तत्त्व प्राप्त नहीं हुआ। सब बातें पुस्तकों में लिखकर प्रकाश करने से कोई फल नहीं होता है; इसी कारण अनेक स्थानों में विषय को छोड़ देना पड़ता है। बल्कि—फल तो प्राप्त होता नहीं और अपात्र में प्रयुक्त होकर गुरु और वेदान्त-वाक्यों का अवमानना होता है। इसी कारण पूज्यपाद ऋषियों ने बारम्बार अधिकार भेद से साधन रहस्य आलोचना की व्यवस्था कर दी है। जो इस अधिकारगत विभिन्नता को लक्ष्य करते हैं अर्थात् प्रत्येक जीव की सूक्ष्मदेह पर्य्यन्त परिदर्शन करने में समर्थ हैं, वे ही यथार्थ उपदेष्टा हैं, और वही यथार्थ सद्गुरु हैं।

अस्तु, हम साधन की अवान्तर कथा लेकर बहुत दूर चले गये थे—अब पुनः प्रस्तावित विषय के समीप आते हैं। मेधस्-द्वारा सत्कृत होकर, सुरथ ने कुछ काल उस आश्रम में निवास किया था। इस स्थल में वह "कञ्चित् कालम्" की बात में कुछ विषय जानने योग्य हैं। बड़े सौभाग्य के फल से, बड़े प्राणपात तपस्या के बल से जीव महत्तत्व का पता पाता है, सत्कृत होता है; अखण्डैकरस-सत्ता का सन्धान पाता है। फिर ऐसे क्षेत्र में पहुँचकर भी—'कञ्चित कालं' क्यों? चिरकाल यहाँ क्यों नहीं रहता? नहीं—कोई भी नहीं ठहर सकता। जब तक देह है, तब तक उस क्षेत्र में कोई भी निरन्तर नहीं अवस्थान कर सकता। अनेक जन्म सञ्चित संस्कारों के कारण फिर देहात्मबुद्धि में लौट आने ही परता है; परन्तु अति अल्प क्षण के लिये भी बुद्धिमय क्षेत्र में आत्मबोध उपसंहृत होने से, जो अमरत्व की स्मृति, अपरिसीम आनन्द का आभास पाया जाता है, उसीसे जीव धन्य हो जाता है। वह तिलार्द्धकाळ-मात्र-भोग्य सच्चिदानन्द की सुखमयी स्मृति थोड़ी होने पर भी मनुष्य को आनन्द में विभोर कर देती है। उस समय से साधकों का जीवन उत्साहमय और कर्म्मसमूह

मधुमय हो जाते हैं। कुछ दिन अभ्यास के फल से, इस सूक्ष्मतत्व में ठहरने के समय की मात्रा बढ़ती जाती है। तब फिर इच्छामात्र से ही, सामान्य प्रयत्न से इस मेधसाश्रम में उपस्थित हो जाते हैं और 'ब्रह्माहमस्मि' यह स्मृति घनीभूत होने पर, साधक जीवन में देव भावीय लक्षणों का प्रकाश होता है।

इतश्चेतश्च विचरन्—मेधसाश्रम में उपस्थित होने पर भी सुरथ इधर उधर विचरण करते हैं। महत्तत्व में पहुँच कर, उस शुभ्र, शान्त, निर्मल, उदासीन बुद्धि-ज्योति में प्रवेश करने पर भी, जीव प्रारब्धवश उस स्थान से मनोमय क्षेत्र में, अथवा अन्नमय कोष में उतर आने को वाध्य होते हैं। अधिक समय अति सूक्ष्म क्षेत्र में न ठहर सकने का कारण—स्थूलाभिमानिता है। अनेक जन्म जन्मान्तर से, हम स्थूल विषयों के अवलम्बन से आत्मबोध प्रकाश कर रखने का अभ्यास हो गया है। यदि किसी दिन यह नाम रूप विशिष्ट स्थूल भावों को परित्याग कर, सूक्ष्मस्तर पर आरोहण करना होता है, तो पहिले पहले एक अस्तित्वभाव आकर उपस्थित होता है। जबतक फिर स्थूल का आश्रय न लिया जाय, तबतक ऐसा जान पड़ता है कि मानो दम घुटा जाता है। इसीसे, एक एक बार सूक्ष्मतत्व पर चढ़ने पर भी, बार-बार स्थूल कोषों में विचरना होता है। यही सुरथ का इधर उधर विचरना है।

बुद्धि योग की सहायता से प्रत्येक स्थूल पदार्थ में मातृ सत्ता-दर्शनके फल से अकस्मात् एक दिन बुद्धिमय ज्योति का प्रकाश हो जाता है। साधक उस ज्योति में पहले पहले अधिक समय तक न ठहर सकने के कारण फिर देह बुद्धि में उतर आते हैं; कारण कि—नीचे की ओर एक मन भार वंध रहा है। भगवान् का वज़न—एक मन है। सम्पूर्ण मन भगवान के चरणों में अर्पण कर सकने से जीवत्व का अन्त होता है। जबतक वह समाप्त न हो, तबतक एक-एक कर क्रम से विषयों से मन को हटाकर श्री चरणों में अर्पण

करते हैं। पूर्ण भाव से मन को ग्रास करने के लिये ही मा अपने स्नेह की सन्तान को लेकर इस प्रकार झुलाया करती है (अथवा झूले का खेल किया करती है) एक बार बुद्धिमय क्षेत्र में आरोहण, (चढ़ना) और फिर दूसरे ही क्षण देहात्मबुद्धि में अवरोहण (उतरना) होता है। जब जीव माता के इस चढ़ने उतरने रूप मा की आनन्द क्रीड़ा का अनुभव करने लगता है, तब ही उसका यथार्थ साधन आरम्भ होता है। साधक! मान लो कि—तुम एक एक बार आकुल प्राण से मा मा कह कर मा की गोद में उठते हो, जीव भाव सम्बन्धिनी संकीर्णता भूल कर, अपार आनन्द-समुद्र स्पर्श करने को उद्यत हुए हो; फिर दूसरे ही क्षण, जीवत्व बोध में उतर पड़े हो। एक बार तो मन में आता है कि तुम स्वर्ग से भी ऊँचे उठ गये हो, फिर कदाचित् दूसरे क्षण ही अपनी नीचता, हीनता देखकर, अपने को नरक के जीव मान लेते हो। इस प्रकार की समस्यापूर्ण अवस्था का नाम ही मेधस् के आश्रम में सुरथ का इधर उधर विचरना है। अगले मन्त्र में यह और भी विशदभाव से वर्णन किया जायगा। अस्तु, साधक जब ऐसी अवस्था में आकर उपस्थित होता है। तब उसके मर्मस्थान के मानो सैकड़ों टुकड़े हुए जाते हैं। जबतक अन्धकार में रहता है, तबतक प्रकाश का आनन्द नहीं समझ सकता है; परन्तु एक बार प्रकाश देखकर, फिर अन्धकार में जाना बड़ा ही कष्टकर होता है। प्रकाश जितना उज्ज्वल से उज्ज्वल होता रहता है, अन्धकार भी उतना ही गाढ़ा होता जाता है। मा को जितना पाते हो, उतना ही ना पाना तीव्र भाव से जानने में आता रहता है, उतना ही असह्य यातना होती रहती है। एक कवि का वचन है—

जाहि मिलें सुख होत है, तिहि बिछुरे दुःख होय।
सूर उदय फूले कमल, ता बिनु सकुचे सोय॥

इस अवस्था में आकर साधक कभी-कभी एक दम हताश हो जाते हैं; परन्तु इसमें हताश होने का कोई कारण नहीं है; यह माता

पुत्र की आनन्द-लीला है। एक बार मा तुम्हारा हाथ पकड़ कर खड़ा कर देती है, फिर हाथ छोड़ देती है, इस प्रकार खड़ा होना और चलना सिखाती है; इसीसे हठात् हाथ हटा लेती है। तुम गिर पड़ते हो चोट खाते हो, पीड़ा होती है। फिर मा आकर हँसती २ हाथ पकड़ कर खड़ा करती है, तुम आनन्द से विभोर हो जाते हो फिर मा ने हाथ हटा लेती है। इस प्रकार माता-पुत्र की आनन्द-लीला कितनी मधुर और साथ ही कितनी विषादमय है, उसे साधकमात्र ही जानते हैं। मा को जो सब भाव से, सब रूप से देखने के अभ्यस्त हुए हैं, उनके समीप मा इस प्रकार आनन्द-लीला करने के लिये प्रायः उपस्थित होती रहती है। किस उपाय से सहज में मेधसाश्रम में उपस्थित होकर, यह माता-पुत्र की आनन्द क्रीड़ा सम्भोग की जाती है, उसे माता ही गुरुरूप से आविर्भूत होकर, जीव को समझा देती है।

सोऽचिन्तयत्—बारम्बार अभ्यास के बल से जब जीव की ऐसी एक अवस्था आती है, कि कुछ काल उसे बुद्धिमय क्षेत्र में ठहर सकने की सामर्थ हो जाती है; तब भी फिर ममत्वज्ञान से आकृष्ट होकर—प्रारब्ध संस्कार के प्रबल आकर्षण से बाध्य होकर अनेक प्रकार स्थूल विषयक विचार उत्पन्न होते रहते हैं। वह षिषयों की स्मृति द्वारा पीड़ित होते हैं। प्रथम बुद्धितत्व में आरोहण करके, विषय भूल कर, उस मोहनी बुद्धि ज्योति से मुग्ध हो जाता है, क्रम से सूक्ष्मतत्व में ठहरने का समय जितना अधिक होता जाता है, उतना ही वहाँ रहकर भी स्थूल देहादि-विषयक विचार मानो अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। बहुत दिन से पिञ्जरे में बन्द पक्षी यदि सहसा निकलकर खुले आकाश मार्ग में विचरने का सुयोग पावै, तो भी जिस प्रकार वह अधिक दूर न जाकर, फिर वह अधिक समय के अभ्यास के कारण अपने निवास स्थान, पिञ्जरे में लौट आता है, उसी प्रकार बहुत दिन देहात्मबोध से बंधा हुआ जीव यदि माता

की कृपा से सूक्ष्म तत्वों का सन्धान पावै, तो भी वहाँ पर वह अधिक क्षण नहीं ठहर सकता। सदा चञ्चल, सदा मलिन जीव बुद्धिमय क्षेत्र की, उस विशालता, उस निर्म्मलता, उस उदासीन भाव, उस बज्रवत् कठोरता, उस पर्व्वतवत् स्थिरता को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता। फिर देहादि-विषयक स्मृति जाग्रत होती है। अथवा मा अपनी दया करके ही इस प्रकार एक बार नीचे की ओर एक बार ऊपर की ओर गमनागमन कराकर, प्राणों की संकीर्णता दूर करती रहती है और क्रम क्रम से साधकों की बलवृद्धि करके, विशालता की ओर आगे बढ़ने का सुयोग करा देती है।

मत्पूर्व्वैः पालितं पूर्व्वं मया हीनं पुरं हि तत्।
मद्भृत्यै स्तैरसद्वृत्तैर्धर्म्मतः पाल्यते न वा ॥११॥

अनुवाद—हमारे पूर्ववर्ती लोग जिस पुर को पूर्व्व यत्न पूर्व्वक प्रतिपालन करते थे, वह पुर इस समय हमने छोड़ दिया है। दुराचारी सेवक लोग हमारे उस पुर का धर्म्मानुसार प्रतिपालन करते हैं कि नहीं ?

व्याख्या—मेधसाश्रम में ठहरते समय सुरथ प्रारब्ध—संस्कारवश देहादि में, ममत्व—बुद्धि के प्रवल आकर्षण से बाध्य होकर, जिन विचारों से पीड़ित हुआ है, वही इन चार मन्त्रों से बर्णित हुआ है। मनुष्यमात्र को ही ऐसा बिचार करना अत्यन्त स्वाभाविक है। निर्म्मल बुद्धिज्योति में ठहरने का पहले की अपेक्षा कुछ बढ़ जाने से ही सब से प्रथम पुर-विषयक विचार होता है। पुर शब्द का अर्थ देह है। इस नव द्वार वाले पुर में जीवात्मा अवस्थान करता है, इससे उसको पुरुष कहते हैं। जीवात्मा इस देहपुर परित्यागपूर्वक बुद्धिमय क्षेत्र में उपस्थित हुआ है। प्रशान्त उदार बुद्धिज्योति-दर्शन से सर्व प्रकार संकोच कुछ काल के लिये दूरीभूत हुआ है; परन्तु अनेक

जन्म सञ्चित देहादि के प्रति ममत्वबोध दूर नहीं हुआ। जब तक चण्डीतत्व भली भांति हृदय में प्रकाशित नहीं हुआ—जब तक शुम्भवध समाप्त नहीं होता—जब तक तीनों प्रकार के कर्म्म फल समूल विध्वस्त नहीं होते, तब तक ममता का नाश पूर्ण भाव से नहीं होता। जब तक देह है, तब तक समझना होगा, कि ममता निश्चय ही है। जीव का जब तक इस ममता के ऊपर दोष दर्शन उपस्थित होता है, तब ही समझा जा सकता है कि शीघ्र ही ममता का मूल नष्ट हो जायगा। मनुष्य जब अपने दोष आप ठीक-ठीक पकड़ सकता है, तब ही समझा जाता है कि उसके दोष-संशोधन का उपयुक्त समय उपस्थित हुआ है।

जीव बुद्धियोग के अमोघ फल से देह से आत्मबोध संग्रह करके बुद्धि में विन्यस्त करके भी देहादिविषयक स्मृतिद्वारा विभ्रत होता है। इसी कारण सुरथ मेधसाश्रम में पहुँच कर भी चिन्ता करता है कि—"मत् पूर्वैः पालितं पूर्व्वं मया हीनं पुरं हि तत्"। पूर्व पूर्व असंख्य जन्मों के किये हुए दृढ़संकल्प द्वारा जिस देहपुर को परिपुष्ट किया हुआ है, इस समय हमारा बड़े परिश्रम से पोषण किया हुआ वह देहपुर हमको परित्याग करना पड़ा है! न जाने हमारे वह असद् स्वभाव वाले सेवक लोग—इन्द्रियसमूह, इस समय मुझसे त्यागे हुए पुर का धर्म्मानुसार प्रतिपालन करते होंगे कि नहीं?

हम मृत्यु के बाद ही जो फिर एक देह का गठन कर ले सकते हैं, उसका एक मात्र कारण—पूर्व पूर्व जन्मों का देह विषयक दृढ़-संकल्प है। मृत्यु काल में मानों अति अनिच्छा से अति प्रिय यह देह परित्याग करते हैं और दूसरी एक देह प्राप्ति के लिये तीव्र वासना लेकर चले जाते हैं। इसीसे अनायास पूर्व संकल्प के कारण नवीन शरीर रचित होता है। पूर्व पूर्व जन्मों के देहात्मबोध द्वारा ही देह गठित और परिपुष्टहोता है। इसीसे "मत्पूर्वैः पालितम्" कहा गया है।

यहां पर अप्रासङ्गिक होने पर भी एक बात कहने को बाध्य

हुए हैं कि:—हमारे शास्त्र में जा आत्महत्या महापाप कहा गया है, उसका कारण—देह विषयक तीव्र वासना का अभाव है। आत्मघाती को मृत्युकाल में देह के साथ एक तीव्र वैर उपस्थित होती है, इसी कारण मृत्यु के बाद दीर्घकाल तक फिर वह देहविषयक की वासना को प्रकाशित नहीं कर सकता। प्रेत-देह वा आतिबाहिक देह का आश्रय करके बहुत काल तक रहता है। जीवित काल की सञ्चित सब आशा प्रत्याशाओं द्वारा पीड़ित होता रहता है। तो भी स्थूल देह के अभाव से एक वासना को भी पूर्ण नहीं कर सकता है; तीव्र यन्त्रणा से उसको समय व्यतीत करना पड़ता है। श्राद्धादि ऊर्ध्वदैहिक कृत्य समूह परलोकगत जीवात्मा को शीघ्र भोगदेह—सम्पादन के पक्ष में (अर्थात् प्रेत लोक छुड़ाकर फिर भोग क्षेत्र-प्राप्ति) के विशेष सहायक होते हैं; परन्तु आत्मघाती के लिये भोगदेह पर तीव्र वैर होने के कारण उसके उद्देश्य से किये हुए क्रियमाण श्राद्धादिक कर्म्म तिलभर भी उपकारक नहीं होते। इसी कारण शास्त्र में आत्मघाती की श्राद्धादि क्रिया का निषेध है। फिर यदि कोई सत्यदर्शी साधक आत्मघाती के पापक्षय के उद्देश्य से अर्थात् फिर वह भोगदेह प्राप्त कर सके, उस प्रकार उद्देश्य को लेकर, दृढ़ संकल्प से प्रायश्चित और श्राद्धादि क्रिया का अनुष्ठान करे तो उसका प्रेत लोक से उद्धार हो सकता है। और जो स्वाभाविक-भाव से रोगादि द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उनकी मृत्युकाल में देहविषयक आसक्ति प्रबलभाव से चित्त-क्षेत्र में उदय होती है, किसी प्रकार वह अपने प्रियतम देह को छोड़ना नहीं चाहते; यह प्रबल आसक्ति ही मृत्यु के बाद जहां तक हो सकता है शीघ्र भोगायतनस्वरूप एक देह का गठन कर लेती है। ऊर्ध्वदैहिक क्रियादि उसकी उस भोगदेह—प्राप्ति में सहायता करते हैं।

अस्तु, बुद्धिमय क्षेत्र में आरोहण करने पर भी जीव अनादि जन्मसञ्चित ममता से बाध्य होकर, बड़े यत्न से पाली हुई देह की ओर आकृष्ट होता है, और उस अवस्था में कुछ काल के लिये देह से

आत्मबोध विलुप्त प्राय होता है, इससे विचार करता है कि—"मया हीनं हि तद्" मैंने उस देह पुर का परित्याग किया है। मेरी कुमार्ग में चलने वाली इन्द्रियां इस समय मुझसे त्यागे हुए देह पुर का ठीक ठीक पालन करती होंगी वा नहीं? इन्द्रियां रूपरसादि विषयों को लाकर सदा देह की पुष्टि किया करती हैं, यद्यपि साक्षात् सम्बन्ध से इन्द्रिय ग्राह्य विषयों द्वारा देह का पोषण भली भांति न होकर, मन की पुष्टि होती है; तथापि देहाभिमान वशतः मन की सब पुष्टि स्थूल देह के पालन में ही खर्च होजाती है। इसी कारण इन्द्रियां को देह का प्रतिपालक कहा जाता है। इन्द्रियां असद्वृत्त हैं। असत् शब्द का अर्थ—सत्-विरोधी है, कुछ भी वस्तु नहीं है; कारण कि एक सत् वस्तु के सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं। गीता में श्रीभगवान् ने कहा है, "नासतो विद्यते भावः"। असत् नाम से कोई वस्तु नहीं है। यहां नञ् अल्पार्थ में प्रयुक्त हुआ है। सर्वत्र समभाव से विद्यमान एक अखण्ड सत्वस्तु जब अल्प भाव से प्रकाशित होती है, तब ही उस को असत् कहा जाता है। नाम और रूपविशिष्ट होकर परिच्छिन्नभाव से, सत् का एक प्रकार से विकाश वा लीला है, वही असत् पदवाच्य है। इन्द्रियाँ नाम रूप विशिष्ट परिच्छिन्न विषयों से विमुग्ध हैं; इस कारण असद्वृत्त हैं। हमारी चक्षु कर्णादि इन्द्रियां, जो सदा एक विषय से दूसरे में विचरण करती हैं, उनसे हमारा असद् भाव ही पुष्ट होता है; कारण कि विषय असत् हैं। जबतक हमारी इन्द्रियां विषय को केवल विषय जानकर ग्रहण करती हैं, तबतक यह देह धर्म्मानुसार प्रतिपालित नहीं होती। असत् को 'सत्' मान कर ग्रहण किये बिना 'सत्' का पता नहीं पाया जाता है। 'सत्' का सन्धान पाये बिना, जीव को नाश होने का ज्ञान नहीं छूटता, मृत्यु का भय दूर नहीं होता है।

सुरथ (जीव) मेधस् द्वारा सत्कृत हुआ है, उसने यथार्थ सत् वस्तु का पता पाया है; इसी से अब विषयाभिमुखी इन्द्रियों

को वह असत्स्वभाव समझ सका है। जो प्रतिनियत असद्भाव से ही—परिच्छिन्न भाव से ही वर्त्तमान रहता है, वही असद्वृत्त है। अस्तु यहां आकर ही जीव समझ सकता है कि जो चक्षु विश्वरूप में भगवत्रूप नहीं देखते हैं, वह दोनों चक्षु मयूर की पूंछ के समान हैं। जो कान शब्द मात्र को माता का आह्वान समझ कर ग्रहण नहीं करते, वे दोनों कान छिद्र मात्र हैं; जो नासिका पुण्य गन्ध सूंघने में माता के अङ्ग का सौरभ ग्रहण नहीं करती, वह नासिका सदा लुहार की भाथी (धोंकनी) के समान बृथा श्वास प्रश्वास लेती है। जो जिह्वा सर्वदा माता का नाम लेने से विमुख है, वह मेड़क की जीभ की भांति व्यर्थ है। जो त्वचा समीरण रूप माता के स्पर्श से रोमाञ्चित न हो, वह त्वचा देह का बृथा आवरण मात्र है।

इस प्रकार विषय विमुग्ध इन्द्रियरूपी सेवक असत् स्वभाव वाले हैं, वह धर्म्मपूर्वक देह का पोषण नहीं करते है, सदा असद्भाव का पोषण करते हैं; इस कारण वह पोषण शोषण का ही रूपान्तरमात्र है—हर समय नाश की ओर ही ले जाने वाला है। बुद्धितत्व पर आरूढ़ जीव को इच्छा होती है कि मैं जिस प्रकार सत्वस्तु का पता पाकर आनन्दित हुआ हूं, मेरी इन्द्रियां भी उसी प्रकार हों। क्यों असत् स्वभाव रहें ? वे फिर क्यों विषयों को विषय कह कर ग्रहण करें, और मेरे अतिप्रिय भोगायतन क्षेत्र को, असद्भाव से पुष्ट और अपवित्र करें ? सत् का सन्धान पाने से ये सब विचार स्वभावतः जीव के मानस क्षेत्र में उदित होते हैं।

न जाने स प्रधानो मे शूरहस्ती सदामदः।
मम बैरिवशं यातः कान् भोगानुपलप्स्यते ॥ १२ ॥

अनुवाद—मेरा वह सुप्रसिद्ध सर्व प्रधान सर्व्वदा गर्व्वित अति विक्रमशाली (देहाभिमान रूप) हाथी, इस समय मेरे शत्रुओं

के हाथ में पड़ कर (वश में होकर) किस प्रकार भोग्य वस्तुएँ प्राप्त करेगा, मालूम नहीं।

व्याख्या—देहविषयक चिन्ता के साथ ही साथ "अहं"-वृत्ति-विषयक विचार उपस्थित होता है। अभिमान सब वृत्तियों का प्रधान कारण है; अभिमान न रहने से, देह ही नहीं रहता। हम सर्व्वदा ही—"मैं देही हूँ" इस प्रकार अभिमान करते रहते हैं, इसी से देह क्रियाशील रहती है। जिस घड़ी यह देहाभिमान रुक जाता है, (एक दम लोप नहीं होता) उसी घड़ी देह निश्चल हो जाता है। इस कारण चौदह करणों में अहंकार का ही प्राधान्य है; इसी कारण मन्त्र में "प्रधान" शब्द कहा गया है। फिर यह देहाभिमान कभी बिलकुल दूर नहीं होना चाहता है, अपने भाव में ही मत्त रहता है। इस प्रकार उस देहात्मबोध से सदा आनन्द और गर्व्व अनुभव करने के कारण मन्त्र में "सदा-मद" शब्द कहा गया है। इस देहाभिमान की बलिदेनां वा पराजित करना बड़ा दुरूह काम है; इसी से उसको "शूर" कहा गया है। यह "अहङ्कार" अज्ञान मात्र है; इसी से 'हस्ती' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। हस्ती जिस प्रकार अमित बलशाली होने पर भी दुर्व्बल मनुष्य का दासत्व स्वीकार करने को बाध्य होता है, समझ नहीं सकता कि मुझ में 'आत्मबल' कितना है, उसी प्रकार, यह 'मैं' ही एक दिन अमित बलसम्पन्न था, जिस दिन विराट् 'मैं' रूप से—परमेश्वर रूप से सृष्टि-स्थिति और प्रलय का कर्तृत्व लिया था,—जिस दिन स्वाधीन इच्छा से बहुत्व-लीला की अभिलाषा की थी। वह महान 'मैं' आज अति क्षुद्र अकिंचित्कर मांसपिण्डमय देह मात्र में आबद्ध होकर, समस्त बल, समस्त शक्ति भूल गया हूँ। देह का दासत्व—विषयों की सेवा करके सन्तुष्ट हूँ; इस कारण इसको हस्तीमूर्ख के सिवाय और क्या कहा जा सकता है।

जीव बुद्धिमय क्षेत्र में स्थिति करने पर भी, पहले पहले इस प्रकार देहाभिमान-विषयक विचार में पड़ जाता है। अनेक जन्मों

के संस्कार सहज में दूर नहीं होना चाहते। ऐसी दशा में जीव का प्रधान विचार उस हाथी के भोग के लिये होता है।—"कान् भोगा-नुपलप्स्यते;', कारण कि जीव जानता है कि इस अहं का भोग बहुत अधिक है; किसी से इसकी भूख दूर (शान्त) नहीं होती, वह जो देखता है उसी के वश करने के लिये सदा लुब्ध होता है। सामने देखे कि—एक बहुत बड़ा ऊँचा राजमहल है; तो अभी वह अहं शूर हस्ती कहने लगता है कि "यह तो हमको मिले।" शायद उस क्षुधा की निवृत्ति करने में जीव को दशवार जन्म-मरण की पीड़ा सहन करनी पड़े। फिर सामने देखता है कि स्वर्गसुख विराजमान है, तो अभी 'वह भी चाहिये'। अथवा सामने देखे कि अणिमादि अष्टसिद्धि सुशोभित है, तो अभी वह भी चाहियें। यह सब तो बड़े-बड़े खाद्य हैं। इनके संग्रह करने में जीव को न जाने कितने सैकड़ों बार जन्म-मृत्यु का पीसना सहना पड़ता है इसका कौन निर्णय कर सकता है? इस विपुल खाद्य के सिवाय काम, काञ्चन, यश, प्रतिष्ठा आदि, अनेक इसके खाद्य पदार्थ हैं, जिनकी गिनती कौन करे? इस सर्व ग्रासी 'मैं' को 'यह मुझे नहीं चाहिये' यह बात कहना सहज नहीं है, जबतक अपनी मा की अनिन्द्य, सुन्दर, चिद्घन मोहन मूर्ति के दर्शन न पावे, तबतक किसी प्रकार उसकी भूख दूर नहीं होती है। "यं लब्धा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः" जिसको पाकर, फिर कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती एक मात्र उसकी देख सकने से ही, इसके भोगों का अन्त हो जाता है, नहीं तो और किसी प्रकार नहीं होता। यह हस्ती का भोग सिद्ध करने के लिये ही जीव का जो कुछ संग्रह है—जो कुछ पीड़ा (हैरानी) हैं उसे बुद्धिमय क्षेत्र में आरोहण करने पर भी, हस्ती का भोग पूर्ण हुआ कि नहीं, इस चिन्ता-द्वारा जीव आकुल होता रहता है। जीव! तुम एक बार अपनी देहात्मबुद्धि विशिष्ट अहं की ओर चाह कर देखो, उसकी अतृप्त आकांक्षा ही तुमको उन्माद की तरह एक विषय से दूसरे विषय में

खींच ले जाती है; जन्म से जन्मान्तर में ले जाती है; मृत्यु से मृत्यु की ओर अज्ञात सार (बिना जाने) बड़ी तेजी से दौड़ाती है। उसीको तृप्त करने के लिये अनेक जीवन व्यतित किये हैं, तो भी क्या करने से उसके भोगों की आकांक्षाओं की समाप्ति होगी, उसे समझ कर भी नहीं समझ सकते हैं। 'सः' के पास अहं को उपस्थित करो, तो उसका वास्तविक रूप अनुभव कर सकोगे, माता का स्वरूप प्रत्यक्ष करो, नित्यानन्दमयी को देखो, तो नित नई आशाओं का अन्त होगा। जगद्ग्रासी भाव—सदा के लिये ज्वलन्त क्षुधा शान्त हो जायगी। तब यह 'मैं' ही 'ब्रह्माहमस्मि' कह कर सब प्रकार के शोक मोह के दूसरे पार चली जायगी—सब प्रकार के भोगों का अन्त हो जायगा।

ये ममानुगता नित्यं प्रसाद-धन-भोजनैः।
अनुवृत्तं ध्रुवं तेऽद्य कुर्व्वन्त्यन्यमहीभृताम्॥ १३॥

अनुवाद—जो (कर्म्मकाण्ड) पूर्व्व प्रसाद, धन और अनेक प्रकार की भोग्य वस्तुओं द्वारा प्रतिपालित होकर मेरे ही अनुकूल थे; इस समय निश्चय ही वह अन्य राजाओं के अनुगामी हुए होंगे।

व्याख्या—देहाभिमान विषयक चिन्ताओं के साथ ही साथ कर्म्मकाण्ड विषयक विचार उपस्थित होता है। ज्ञान का प्रकाश होने पर कर्म्मकाण्ड की ओरसे आसक्ति का मूल शिथिल होता रहता है; तो भी अनेक जन्म सञ्चित वह अनुराग एकदम दूर नहीं हो जाता है। इसीसे, उदासीन बुद्धि की ज्योति में स्थित होने पर भी वैध-कर्म्म विषयक चित्त की चञ्चलता उदय होती है।

प्रसाद, धन, और भोजन इन तीनों द्वारा पुष्ट होने से, शास्त्रीय आदेश हमारे विशेष अनुगत वा अनुकूल हैं। प्रसाद शब्द का अर्थ चित्त की प्रसन्नता है। व्रत नियम उपवास पूजा होम जप

आदि कर्म्मकाण्ड के अनुष्ठान से एक असाधारण चित्त-प्रसाद प्राप्त होता है। काम काञ्चन की सेवा करके, जीव जो तृप्ति भोग करता है, उसकी अपेक्षा कुछ विशिष्ट तृप्ति का पता पाने पर, मनुष्य शास्त्रीय आज्ञाओं को यथा-शक्ति पालन करने को उद्यत होता है। धन शब्द का अर्थ-सिद्धिशक्ति आदि माता की विभूतियां—ऐहिक उन्नति, जिसकी इच्छा न हो उसकी अप्राप्ति, परलोक के स्वर्गादि सुख, अथवा माता में प्रीति वा मोक्ष है। इनमें से कोई न कोई फल अर्थात् धनलाभ की आशा से मनुष्य वैधकर्म्मों का अनुष्ठान करते हैं। भोजन शब्द का अर्थ—माता के सङ्ग भोग और पञ्च कोषों का आहार है। पहले पहले विशिष्टि कर्म्मों की सहायता से ही मातृसम्भोग का अभ्यास करने होता हैं। जबतक "सर्व्वतः संप्लुतोदक" (गीता २।४६) न हो-जबतक सर्वभाव से सर्ववस्तुओं में सर्वेश्वरी मूर्ति का दर्शन न हो, जब तक माता के करुणारूप महासागर में पूर्ण रूप से प्रवेश न किया जा सके, तब तक विशेष-विशेष कर्म्मों के अनुष्ठानरूप कूप आदि जलाशय खोद कर, प्यास की निवृत्ति वा मातृसङ्ग भोग करते हैं। इसी कारण पूर्व आचार्यों ने प्रति महीने में अनेक प्रकार की पूजा पार्वण की व्यवस्था करके, हमारा अत्यन्त कल्याण किया है। इधर तो ये वधकर्म्मादि इस प्रकार सामयिक मातृसम्भोग के सहायक हैं, और दूसरी ओर वह उसी प्रकार हमारे सब अवयवों की पुष्टि का विधान करते हैं—आहार देते हैं। ज्ञान से वा अज्ञान से क्रियमाण वैधकर्म्मसमूह देह, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द का पोषण करते हैं। शास्त्रीय आदेश यथाशक्ति प्रतिपालन करने से, स्वास्थ्य अखण्डित रहता है और आयु बढ़ती है। यही अन्नमय और प्राणमय कोष का आहार है! वे सब कर्म्म मानसिक प्रसन्नता और स्थैर्य्य के विशेष अनुकूल हैं—आत्माभिमुखी विचारशक्ति की सहायता करते हैं; इस कारण ज्ञान प्राप्ति का मार्ग खुल जाता है। जिस परिमाण में ज्ञान प्राप्त होता जाता है, उतना ही परिमाण आनन्द

वा शान्ति का सन्धान पाया जाता है। इस भाव से वैधकर्म्म हमारे पञ्च कोषों के ही भोजन वा पुष्टिवर्द्धन हैं।

वर्तमान युग में अधिकांश लोग जो दिन-दिन वैधकर्म्मादि की ओरसे श्रद्धाहीन हो गये हैं, उसका प्रधान कारण–उनकी इन तीनों पर लक्ष्यहीनता है। विधिनिषेध में जो अपूर्व्व चित्त प्रसाद है, सिद्धिशक्तिरूप धन है, एवं मातृ–सम्भोग का आनन्द और पञ्च कोषों का पुष्टि विधान है, इसे यदि भलीभांति अनुभव कर सकें, तो कोई भी उससे विमुख न हो। आजकल के पुरोहितलोग कर्म्म-काण्ड का अनुष्ठान करते अवश्य हैं, परन्तु उसके भीतर इन तीनों में से एक का भी पता नहीं रखते। कुछ मृतकर्म्म, अभ्यासानुसार कुछ मन्त्र पाठ करते,–कराते हैं; इस कारण यजमान भी कर्म्मकाण्ड की जो विशेष सार्थकता है, उसे समझ नहीं सकते इसी कारण हिन्दू-समाज का क्रिया-कलाप दिन-दिन कम होता जाता है। इसीके फल से रोग शोक, अकाल मृत्यु, दुर्भिक्ष महामारी, जल की बाढ़ आदि उत्पातों से देश जीर्णशीर्ण होता चला जाता है।

इस समय भी घर-घर में देव पूजा होती है, इस समय भी अनेक स्त्री पुरुष व्रत नियमादि का अनुष्ठान करते हैं; परन्तु उस प्रसाद, धन और भोजन की ओर लक्ष्य न होने से अनेक स्थानों में आशानुरूप फ़ल मिलने से वञ्चित रहते हैं। कोई कहता है कि— कलि-काल में शास्त्रीय कर्म्मों का फल यथोक्त रीति से नहीं मिलता। कोई कहता है कि कर्म्मानुष्ठान अज्ञानियों के लिये है। कोई कहता है कि नामकीर्तन के सिवाय अन्य कर्म्म कलियुग में निष्फल हैं। इस प्रकार असंख्य मतवाद कहे सुने जाते हैं; परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि—इस समय इस कलियुग में भी वैधकर्म्म बिल्कुल सफल हैं। इस समय भी देवकार्य्य में देवता का अविर्भाव प्रत्यक्ष होता है और साधक भी अभीष्ट वर पाकर कृत्य-कृत्य होते हैं, परन्तु वह और बात है।

हमारी मा ने शङ्कररूप से आविर्भूत होकर कर्म्म को अज्ञान-मात्र प्रतिपादन किया है; फिर श्रीगौराङ्गरूप से प्रकटित होकर, कर्म्मकाण्ड की अनावश्यकता का कीर्तन किया है; एक ओर उज्ज्वल ज्ञान को, दूसरी ओर पराभक्ति के तीव्र कोड़े की चोट से कर्म्मकाण्ड संकुचित और मृतप्राय हो गया है। क्या इसीसे वर्तमान वैधकर्म कुछ प्राणहीन अनुष्ठान मात्र में समाप्त हो गये हैं? शङ्कर के समान ज्ञानी, चैतन्य के समान प्रेमी हो जाने पर कर्म्मकाण्ड का मूल अवश्य शिथिल हो जाता है, यह सत्य है; परन्तु उनके अनुगामी लोग—जिन्होंने उस ज्ञान और प्रेम का पता भी नहीं पाया है, वे यदि वेदोक्त कर्म्मकाण्ड को अनावश्यक समझ कर परित्याग कर दें, तो निश्चय ही समझना होगा—कि वे भ्रमपूर्ण मार्ग पर चल रहे हैं। कर्म्म का प्रवर्तक वेद है। वेद अपौरुषेय है। वह भ्रम प्रमाद रहित ऋषियों के आत्मसम्वेदन से उत्पन्न है; इस कारण कर्म्मकाण्ड निष्फल वा अल्प फलप्रद है, यह कहना अज्ञता का परिचय है। तब कोई दिन ऐसा आवेगा कि जब कर्म्मकाण्ड को कोई आवश्यकता भी मन में न आवेगी। तब फिर कोई २ लोक शिक्षा के लिये कर्म्म का अनुष्ठान करते हैं, और कोई कर्म्म का परित्याग करते हैं। उस दशा में कर्म्म आप ही खस पड़ता है। मेड़क के बच्चे की पूंछ अपने आप ही गिर जाती है; परन्तु उस पूंछ के गिरने के नियत समय से पहले यदि कोई उसकी पूंछ काट डाले तो उस मेड़क के बच्चे की मृत्यु अनिवार्य्य है।

हमारा वेदोक्त कर्म्मकाण्ड इतना मधुर है, इतना आनन्दप्रद है कि अत्यन्त पाषण्डी मनुष्य भी उस कर्म्म की अनुष्ठान प्रणाली को देखकर क्षण भर के लिये विमुग्ध हुए बिना रह नहीं सकता। प्रत्येक कर्म्म में पूर्व कहे हुए प्राणरस का सन्धान कर लेने पर, यह चित्त प्रसाद, मातृ विभूति और मातृ सम्भोग का सुयोग प्राप्त होता है। ऐसा कोई भी व्रत नियम अथवा पूजादि का अनुष्ठान नहीं हो

सकता, जिससे उन अनुभूतियों का न्यूनाधिक परिमाण में लाभ न हो। जो कर्म्मकाण्ड के अनुष्ठाता हैं, उनकी तो बात ही नहीं है, दर्शक लोग भी बड़े आनन्द और सात्विक भाव से आनन्दित सिञ्चित हो जाते हैं।

प्रत्येक कर्म्म में यह बात देखना हैं कि हमारा चित्त कितना प्रसन्न हुआ, हमने कितनी मातृमहिमा का दर्शन किया, हम कितने समय तक जगत् के खेल भूलकर मातृसङ्ग भोग में धन्य हुए। इस सार्थकता की ओर दृष्टि न रहने से, कर्म्म प्राणहीन हो जाता है। अधिकांश लोगों की धारणा है—कि हम जो नित्य क्रिया सन्ध्या बन्दनादि का अनुष्ठान करते हैं, अथवा मकान पर जो प्रतिमास पूजा और व्रतादि का अनुष्ठान होता है, उसके द्वारा भगवान् को प्राप्त नहीं किया जाता। भगवान् को प्राप्त करने के लिये, किसी योगी अथवा संन्यासी के निकट से कोई गुप्त उपदेश लेकर, उसके अनुसार साधन करना होता है, और बहुत काल साधन करने पर भी यदि किसी-किसी को भाग्यवश कदाचित् आत्म-साक्षत्कार प्राप्त होता है। यह धारणा इस देश में बहुत दिन से चली आती है। परन्तु वैदिक युग में यह धारणा नहीं थी अब भी हमारे दैनन्दिन क्रियमाण कर्म्म भगवत् लाभ के पक्ष में बहुत हैं। आचमन, सूर्य्यार्घ्य, आसनशुद्धि, इष्टमंत्रजप इत्यादि इनमें से किसी एक कार्य्य का अनुष्ठान यदि यथारीति सम्पन्न हो, तो उसीसे मनुष्य अमृत का सन्धान पा सकता है; इसमें कोई सन्देह नहीं। हमारे शास्त्रों में जो अनेक प्रकार के कर्म्मकाण्ड का विधान देखा जाता है, उसका कारण यह है कि अधिकारी भेद से कर्म्मभेद है। हिन्दू धर्म्म की यही विशेषता है कि अधिकार भेद से साधन प्रणाली का भेद विदित हुआ है। अन्य धर्म्मों की भाँति एक ही उपदेश सब के लिये नहीं दिया जाता है, अन्य किसी भी देश में यह विशेषत्व नहीं है। अन्य देशों में सब ही उपासना प्रणाली एक प्रकार है। केवल हिन्दू जाति

में ही सम्प्रदाय भेद से, व्यक्ति भेद से, अधिकार भेद से, भिन्न-भिन्न उपासनाओं की प्रणाली निर्दिष्ट होने पर भी बहुत्व में अपूर्व एकत्व, मधुर मिलन और अचिन्तनीय प्राधान्य स्थापित है। गुण और कर्म्म भेद से प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति पृथक् भावापन्न हो रही है; इस कारण सब मनुष्यों की साधन-प्रणाली भिन्न-भिन्न होना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसके सिवाय अनेक प्रकार के कर्म्मकाण्ड विधान का और एक उद्देश्य है—हमारा मन अत्यन्त चञ्चल है; किसी एक कार्य्य प्रणाली का अवलम्बन कर, अधिक देर तक मन को स्थिर कर रखना अति दुष्कर है। नित्य एक ही प्रकार रस के स्वाद लेने से प्राण भी भली-भांति तृप्त नहीं होना चाहते। एक ही वस्तु को नये-नये भाव से भोग करना होता है। जप, ध्यान, पूजा, होम, कीर्तन आदि भिन्न-भिन्न भावों के कर्म्मकाण्ड केवल हमारे मन के स्वाभाविक परिवर्त्तन-प्रियता के लिये ही विदित हुए हैं।

अस्तु, प्रसाद, धन, और भोजन यह तीन वैध कर्म्मों के परिपोषक हेतु हैं। यह तीन उद्देश्य विशेषभाव से संसाधित होने पर, कर्म्मकाण्ड हमारे अनुगत रहता है,—अनुकूल होता है; परन्तु जीव जब थोरा-थोरा करके प्रज्ञा का सन्धान पाता है, (बुद्धिमय क्षेत्र में ही प्रज्ञा का आभास पाया जाता है) तब देखता है कि वह सदा अनुकूल कम्मकाण्ड समूह जो अबतक प्रसाद, धन और भोजन के द्वारा पुष्ट हुए हैं, वे अन्य राजाओं के अनुगामी हो जाते हैं। यहाँ पर राजा (महीभृत्) शब्द से तात्पर्य्य पृथ्वीतत्व की पोषण कर्ता स्थूलाभिमानी इन्द्रिय-वृत्तियाँ हैं। कर्म्म समूह मात्र, स्थूल पार्थिव भावों की सेवा—अनुगता करते हैं, प्रथम जीव कर्म्मकाण्ड के यह दोष अनुभव नहीं कर सकता। मन में समझता है कि ठीक ही होता है। सन्ध्या वन्दनादि जो करने होता हैं, ठीक ही करते हैं; परन्तु हाय, तब भी न देख पाते हैं—न समझ सकते हैं कि वह पार्थिव भावों की ही पुष्टि करते हैं। मन और इन्द्रियों की सेवा ही के लिये अनुष्ठित होते

हैं। एक बार चैतन्य का सन्धान पाने से, कुछ प्रज्ञा की प्रकाश रेखा दृष्टिगोचर होने पर, कर्म्मों का यह दोष-अंश समझ में आता है। तब जीव इस कर्म्मकाण्ड के स्थूलाभिमुखी दोष को देखकर अत्यन्त चञ्चल हो जाता है और इस बात की चेष्टा करता है कि किस उपाय से सब कर्म्म ज्ञानमय, मधुमय और आत्मानुसन्धानयुक्त हो सकते हैं। तब फिर यत्नवान् होता है।

यहाँ पर कर्म्म रहस्य की कुछ आलोचना करना आवश्यक है। वैध-कर्म्म जबतक ज्ञानमय न हो और ज्ञान जब तक भक्तिमय न हो, तबतक वह साधक को कृतार्थ नहीं कर सकता, क्या वैधकर्म्म, क्या व्यवहारिक कर्म्म, जिस केन्द्र से उनका विकाश होता है, फिर जिस स्थान में मिलाये जाते हैं, उस केन्द्र को लक्ष्य करके, यदि अनुष्ठित न हो, तो वह यथार्थ में अज्ञानमात्र है। कर्म्म का प्रत्येक अङ्ग मातामय कर लेने पर ही कर्म्म सार्थक होते हैं। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं" रूप से कर्म्म का अनुष्ठान करने होता हैं। कर्त्ता, कर्म्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकारण ये छः कारक ही ब्रह्म 'मा' है। मा हमारी कर्त्ता है, मा हमारा कर्म्म है, मा हमारा करण है, मा हमारा फल है। कर्म्म का सब अङ्ग ही में मातृसत्ता का अनुभव करने होता हैं, तब कर्म्म ज्ञानमय होता है। साधक! ध्यान करते समय देखो कि—मा-ही मा का ध्यान करती है! पूजा करते समय देखो कि मा ही मा की पूजा करती है! पूजा के उपचार रूप में भी मा ही विराजमान रहती है। होम करने बैठें तब देखो कि अग्निरूप में मा है, होता रूप में मा है, हवि रूप से मा है, अर्पण रूप से मा है, अधीर स्वर से मा कहकर पुकारना आरम्भ कर देखो—शब्दरूप में मा अधीरता रूप में मा है! मा—ही मा को पुकारती है। इस प्रकार कर्म्म के सब अवयवों में मा को देखने का अभ्यास करो, तो कर्म्म ज्ञानमय होगा। ज्ञान और कर्म्म एक ही वस्तु है। कर्म्म अज्ञान नहीं है, ज्ञान का घनीभूत विकाशमात्र है। जिस ज्ञान का तुम सन्धान करते हो, जो

ज्ञान अमृत का निदान है, वही ज्ञान कर्म्म के आकार में तुम्हारे निकट प्रकाशित होता है। इसे अनुभव कर सकने से ही, तुम्हारा "ब्रह्मार्पणं" मन्त्र सिद्ध होगा—चैतन्यमय होगा। तब क्या लाभ होगा?—"ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्"। तुम ब्रह्मत्व में उपनीत हो सकोगे—जीवत्व की अव्यय ग्रन्थि खुल जायगी (कट जायगी)। जबतक कर्म्म में इस शाश्वत ज्ञान को नहीं देखा जाता है, तबतक कर्म्म केवल पार्थिव भाव का ही आनुगत्य करता है। सुरथ का शुभ दिन आ गया है; इसीसे कर्म्मों के दोष अंश में दृष्टि पड़ गई है। क्योंकि कर्म्म अन्य महीभृत् गणों की सेवा कर रहे हैं; हमारी-आत्मा की-ज्ञान की-सच्चिदानन्द की सेवा तो नहीं करता, कर्म्म का जो लक्ष्य है, कर्म्म का जो मधु है, वह सब अन्य उद्देश्य से खर्च होता है। अभी तक कर्म्म तो ज्ञानमय हुए नहीं! जो आत्म ज्ञान प्राप्ति जीव का चरम एवं परम उद्देश्य है, वैधकर्म्मसमूह अबतक भी तो उस उद्देश्य से, ऐसे भाव से अनुष्ठित नहीं हुए हैं! जिसकी ताक में, जिसके प्रेम में आसक्त होकर कर्म्म करने होता हैं, अब तक उसका पता ही नहीं पाया गया अब मेधसाश्रम में उपस्थित होकर, इसे समझ लेने ही से सुरथ की इन भावनाओं का समय आ गया है।

असम्यग् व्ययशीलैस्तैः कुर्व्वद्भिः सततं व्ययम्।
सञ्चितः सोऽतिदुःखेन क्षयं कोषो गमिष्यति ॥१४॥

अनुवाद—अपरिमित खर्च करने वाले उन मही भृतों (राजाओं) के सदा खच करने के फल से, हमारा अति दुःख से सञ्चित (प्राण-मम) कोष क्षय को प्राप्त होगा (नष्ट हो जायगा)।

व्याख्या—जीव के ज्ञान चक्षु धीरे-धीरे जितने खुलते जाते हैं, उतना ही वह अपने दोषों को उज्ज्वल भाव से अनुभव कर सकता है। केवल वैधकर्म्म इस स्थूलभावापन्न इन्द्रिय वृत्तियों की सेवा

करते हैं, सो नहीं; बल्कि वे महीभृत् (राजा) लोग, अपरिमित खर्च करके बहुत कष्ट से सञ्चित प्राणमय कोष को भी व्यर्थ क्षय कर रहा है; ऐसा भी देखता है। प्राणमय कोष विनष्ट होने से देह वा अन्नमय कोष का भी ध्वंस अवश्यम्भावी है। असमय में—मा को प्राप्त करने के पूर्व देह का पतन कोई नहीं चाहता। ईषोपनिषत् कहता है—"कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत् शतं समाः" जगत् में सर्वत्र परमेश्वर की सत्ता दर्शनरूप कर्म्मकाण्ड का अनुष्ठान करके, सौ वर्ष अर्थात् पूर्ण आयुष्काल जीवित रहने की अभिलाषा करो; आत्महन् मत हो। पुरुषायु परिमाण के पूर्व्व ही यदि अपरिमित प्राणव्यय के फल से असमय में देह का पतन होता है, तो पुनराय गर्भयन्त्रणा आदि अनेक प्रकार के दुःखसम्भोग अनिवार्य्य हैं। इसी से सदा प्राणशक्ति की हानि अपचय देख कर जीव अत्यन्त उत्कण्ठित होता रहता है।

अतिदुःखेन सञ्चितः—हमने कितना कष्ट करके, कितना शोक दुःख, मर्म्म पीड़ा, अनेक जन्म मृत्यु की यातना सहन करके, धीरे-धीरे अनेक सुदीर्घ काल के कठोर प्रयत्न से यह मनुष्योचित प्राण और देह प्राप्त किया है; जिनका स्मरण करने से भी भय होता है। जीव जब इन्द्रियहीन, केवल कम्पन धर्म्म लेकर, क्षुद्र-तम जीवाणु-आकार में प्रथम् प्रगट होता है (इसके पूर्व वह बहुत समय तक जड़पदार्थ रूप से प्रगट हुआ था जिसका परिमाण नहीं) चैतन्य के उस प्रथम प्रकाश से जब अपेक्षाकृत प्रबल जीवों द्वारा घिर जाता है, तब उस प्रबल के आक्रमण से अपने बचने का कोई उपाय न रहने से जीव के हृदय में बिन्दुमात्र दुःख का अनुभव होता है। हमारी प्राणरूपिणी मा उसे याद किये बैठी रहती है। इसीसे अगले जन्म में अपेक्षा से अधिक बलवान् शरीर प्राप्त करते हैं। मान लो कि एक पुरीष-कीट (चनूना) इन्द्रियहीन है—उसने केवल स्पन्दन धर्म्म (फड़कना) प्रकाशित होना पाया है (उस स्पन्दन ही से हम

समझ सकते हैं कि उसमें जीव है)। कुछ चीटियों ने उसे चारों ओरसे काटना आरम्भ कर दिया, वह दंशन की पीड़ा से अस्थिर होने पर भी यह नहीं देख पाता कि कौन उसे पीड़ा दे रहा है। उसकी वह व्याकुल-निर्व्वाक्-दर्शन वासना मा की छाती में जाकर लगी, उसने अगले जीवन में उसको आंख वाला जीव बना दिया। उस जीवन में आंख वाला होकर भी सामने स्थित पीड़ा देने वाले के हाथ से, भागने की सामर्थ्य न देखकर फिर व्याकुल हो प्रार्थना की—वह फिर अन्तर्यामिणी मा के प्राण में लगी। अगले जन्म में उसे गमन-शील, दौड़ने में समर्थ कीट रूप में आविर्भूत किया। इस प्रकार समस्त इन्द्रियों, समस्त मनोवृत्तियों को उत्कर्षपूर्ण परिणत अवस्था में बदलते-बदलते, मनुष्य कुल में आकर उपस्थित होने में अस्सी लक्ष योनियों में भ्रमण करते हैं, ऐसी कहावत प्रसिद्ध है। स्थूल बात यह है कि अनेक लक्ष जन्म-मृत्युप्रवाह उल्लंघन करके, अगणित घात प्रतिघात (ठोकरें) सहते, यह प्राणमय कोष अर्थात् मानव देह गठन हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, इसीसे सुरथ कहता है कि:—"सञ्चितः सोऽति दुःखेन।"

क्षयं कोषो गमिष्यति—प्राणमय कोष का अनुचित रूप से कम करना है। माता के गर्भ से पृथ्वी पर उत्पन्न होने के दिन से इस कोष का क्षय आरम्भ होता है और सम्पूर्ण क्षय होने से मृत्यु उपस्थित होती है। जगत् में हम जो कुछ कार्य्य करते हैं उसमें भी कुछ न कुछ प्राणशक्ति अवश्य खर्च होती है यह जो महान् विराट् प्रकृति अपार विचित्रतापूर्ण विषय सामग्री से परिपूर्ण उपहार का डाला सजाकर प्रतिनियत (सदा) तुम्हारे सन्मुख अनुगामी परिचारिका की भांति खड़ी है। और तुम्हारी वासनानुरूप विषय देने में परितृप्तिसाधन करती है; उसके लिये जीव! यह न समझ लें कि वह बिना मूल्य प्राप्त कर रहे हैं। यह न समझ लेना कि कुछ बदले की अपेक्षा किये बिना, प्रकृति सुन्दरी तुमको इस जगद् भोग का सुयोग देती है। तुमने

फूल देखकर, फल देखकर, कार्यतः अज्ञातसार में बूंद-बूंद करके तुम्हारी प्राणशक्ति को कम किया है। तुम स्त्री पुत्र धन यश आदि से प्रेम करते हो; कभी विचार किया है कि—कौनसी वस्तु तुम्हें इसके बदले में देनी पड़ती है! वही प्राणशक्ति! जिसके सञ्चय करने में—इन मनुष्योचित देहेन्द्रिय आदि और शक्ति प्राप्त करने में तुमको अगणित जन्म-मृत्यु, दुःखों का असहनीय पीसना सहन करना पड़ा है, वह देखिये! वह प्राणशक्ति पल-पल में निःश्वासरूप से निकलती जाती है। हाय! जीव! कब तुम सुरथ की भांति अति कठोर यत्न से सञ्चित, इस प्राणमय कोष का अनुचित क्षय देखकर, क्षोभ को प्रात होगे! दिन दिन जो अज्ञातसार में मृत्यु की ओर अग्रसर होते हो; पृथ्वी पर ऐसा कोई आत्मीय नहीं है, ऐसा कोई बन्धु नहीं है कि तुम्हारी इस मृत्युगति को रोक कर खड़ा हो! केवल आहार निद्रा और कामना की सेवा करके, अति दुर्लभ मनुष्य-जीवन व्यतीत कर देने की अपेक्षा दुःख का विषय और क्या होगा! केवल इन्द्रियों की सेवा करके ही वारम्बार मृत्यु की गोद में आश्रय लेना होता है, केवल मृत्यु ही नहीं जीवनकाल में भी अपरिमित प्राणशक्ति की कमी के कारण, अनेक प्रकार के रोग यन्त्रणा भोग कर, मृत्यु का अधिक कष्ट भोग करना होता है। तुम सब प्रकार पार्थिव सुख-सम्भोग में हर समय यह प्राणव्यय रूप मृत्यु की कराल छाया देखकर उत्कण्ठित (उद्विग्न) होओ, शीघ्र ही अमरत्व का सन्धान पाकर, सुरथ की भांति धन्य होओगे।

इस प्राणशक्ति का अनुचित क्षय रोकने के लिये धर्म्म जगत् में प्राणायाम, हठयोग, नाभिक्रिया आदि अनेक प्रकार के कौशल साधन करने का विधान है। भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुष्ठान से हमारे निःश्वास की गति में अन्तर दिखाई पड़ता है। साधारणतः हम प्रतिश्वास में जितनी बाहर की वायु ग्रहण करते हैं, प्रति निःश्वास में उसकी अपेक्षा कुछ अधिक परिणाम में वायु निकलती है। यह अधिकता ही हमारी

सञ्चित प्राणशक्ति का अंश है। वायु ठीक प्राणशक्ति नहीं है, प्राण का स्थूल विकाश मात्र है। सुस्थ शरीर में स्वाभाविक श्वास की गति द्वादशाङ्गुल है। अधिक भोजन, निद्रा, रतिक्रिया, दौड़ना आदि कार्यों से उसकी गति बहुत अधिक मात्रा में बढ़ जाती है। उस वृद्धि अर्थात् अतिरिक्त क्षय रहित करने के लिये आहार, निद्रा मैथुनादि का संयम अवलम्बन करना पड़ता है। फिर स्वाभाविक गति का ह्रास करके, क्रम से नासाभ्यन्तरचारी (नासिका के भीतर चलने वाले) श्वास प्रश्वास का अभ्यास करते हैं। अन्त में कुम्भक की सहायता से एकदम वायु-निरोध पूर्वक, बहुत देर तक बैठे रहने का अभ्यास करते हैं, कठिन अभ्यास की सहायता से वह सुप्रसिद्ध हो जाता है। दीर्घकाल उपयुक्त क्रियावान् गुरु के पास रहकर उसका अभ्यास किया जाता है। उसके फल से सुस्थ शरीर, दीर्घजीवन और दो एक सिद्धि भी प्राप्त हो सकती हैं; परन्तु मनुष्य क्या केवल उसीसे सन्तुष्ट हो सकते हैं? चाहे जितनी चेष्टा क्यों न की जाय, चाहे जितना योग-कौशल क्यों न अवलम्बन की जाय, मृत्यु के हाथ से परित्राण पाने का और कोई भी उपाय नहीं है। इस कारण जहाँ जाने से जिस उपाय के अवलम्बन करने से फिर न मरना पड़े, जिसके पाने से मृत्यु का कुछ बोध भी न हो, उस अभय अमृत मातृस्नेह भोग के लिये पूर्ण अभ्यास प्रयोग करना ही अत्यन्त उचित है।

एक मात्र प्राणेश्वरी महाप्राणमयी महामाया मा की महती पूजा वा इस विराट् ब्रह्मयज्ञ के देखने वाले साधक ही यह अमरत्व प्राप्त करने में समर्थ हैं। जो साधक देखते हैं कि उनका प्रत्येक संकेत, प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक विचार, प्रति अङ्ग-सञ्चालन, प्रतिश्वास प्रश्वास-रूप से महामाया की ही पूजा सिद्ध होती है, जिन्होंने रोम-रोम में समझ रक्खा है कि:—"प्रातः प्रभृति सायान्तं सायाह्नात् प्रातरन्ततः। यत्करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्"॥ केवल वे लोग ही इस कोष-क्षय से अपनी रक्षा करने में समर्थ हैं। जिनके सब कर्म्म मातृमय

हुए हैं, जो साधक "ब्रह्मार्पणं" मन्त्र से पूर्ण अभिषिक्त हुए हैं, उनका जन्म मृत्यु का भ्रम सदा के लिये दूर हुआ है; इस कारण कोषक्षय-निरोध नाम से उन्हें कोई पृथक् कौशल अवलम्बन नहीं करना पड़ता है। जबतक धर्म्म कर्म्म समूह, केवल धर्म्म कर्म्म ही नहीं—बल्कि सब कर्म्म ज्ञानमय न हों, अर्थात् एक मात्र ज्ञान ही इस कर्म्म के आकार में प्रकाशित होता है, यह ज्ञान जबतक विकाश को प्राप्त नहीं हुआ है, तबतक सब कर्म्म अहंबुद्धि से ही अनुष्ठित होते हैं। अहं-बुद्धि से कर्म्म अनुष्ठित होने में, वह प्राणक्षय करेगा ही, कारण कि यह जीव क्षर पुरुष है। क्षरण वा अपचय जीव का स्वाभाविक धर्म्म है। निष्काम अवलम्बन करो, चाहे प्राणायाम करो, जब तक अक्षर पुरुष का सन्धान न पाओगे, तबतक इस क्षय को रोकने का कोई भी उपाय नहीं होगा।

अस्तु, प्राणमयकोष यथोपयुक्तभाव से गठित और उत्कर्ष करने में जो अनेक जन्मों का व्याकुलतापूर्ण रोना, अनेक जन्मों की आकुल आकांक्षा, लक्ष लक्ष जीवन-आहुति, लक्ष लक्ष मृत्यु का पेषण (पीसना) सहते आये हैं, विचार पूर्वक देखने से, इसका वृथा खर्च करने में जीव संकुचित ही होगा, केवल इन्द्रियवृत्तियों की सेवा में—मनका आदेश प्रतिपालन में इसका व्यय होने से, उसकी अपेक्षा शोचनीय दृश्य और क्या हो सकता है? जीव जब सौभाग्यवान् होता है, सुस्थ होता है तब ही अपनी देह प्राण मन इन्द्रिय आदि में दिन रात किस प्रकार व्यापार संघटित होता है, उसे लक्ष्य करता रहता है। तब ही वह आत्म-प्राप्ति के प्रतिकूल घटनाओं के रोकने का प्रयास करता है; परन्तु देखता है कि—वे घटनायें सब नाशवान हैं; सब ही जाने को तैयार हैं! बड़े यत्न से पालित वृत्तियां असद्वृत्त हो गई हैं! मन सदा परिछिन्न विषय सुख से मोहित है! देह पुर लुट रहा है! प्राणशक्ति इन्द्रियों की चरितार्थता से क्षय को प्राप्त है! शत्रु मित्र दोनों ही प्रतिकूल हैं! तब

फिर हमारा क्या है ! किसकी आश्रय करके मैं मातृलाभ के मार्ग पर आगे बढ़ सकूंगा !

मा ! जो तुम्हारी प्रिय साधक सन्तान है, उसने ब्रह्मचर्य्य-द्वारा मन शुद्ध कर रक्खा है, प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियसंयम किया है, प्राणायाम द्वारा प्राण का व्यर्थ व्यय होना रोक दिया है। उनके मा कहकर पुकारने से, उनके मन प्राण और इन्द्रियां एक सुर से बज उठती हैं, उस मातृध्वनि से दिग् दिगन्त पवित्र हो जाती हैं, और तुम भी मा, उस आह्वान के प्रबल आकर्षण से स्वयं आकर उसके कण्ठ में पवित्र विजय माला पहना दोगी, वह धन्य होंगे। परन्तु मा ! हमारा उपाय क्या है ? हम तो जिधर देखते हैं, उधर ही अन्धकार है ! यदि एकबार क्षीणकण्ठ से मा कहकर पुकारने की चेष्टा करें, तो उसी समय मन अपने पुञ्जीभूत संस्कार लेकर सामने आ खड़ा होता है ! सदा चञ्चल इन्द्रियां एक विषय से दूसरे विषय की ओर दौड़ती हैं ! और प्राण ! उसका तो पता ही नहीं ! वह इन्द्रियों की सेवा में लीन है। तब यह मनहीन, इन्द्रियहीन, प्राण हीन; इस कारण श्रद्धाभक्ति और विश्वासहीन इस दुर्बल क्षीण कण्ठ का मातृ-आह्वान, क्या मा ! तुम्हारे कैलाश के हेम-सिंहासन तक पहुँच सकेगा ? क्या मा ! तुम कनिष्ठ अर्व्वाचीन संसारताप से जर्जरित दुर्बल सन्तान की ओर देखोगी ? इस अष्टबन्धनयुक्त, शिशु पुत्र को एक बार गोद में लेने के लिये क्या तुम उन्मादिनी की भांति दौड़कर आओगी ? मा ! देखो, हम कैसी दुरवस्था में पड़े हुए हैं। इन अधम पुत्रों के शरीर पर धूल, मैल, दुर्गन्ध देखकर बीच गैल (रास्ते) में छोड़ देने से, तुम्हारा निष्कलंक मातृस्नेह कलङ्कित होगा ! मा ! जो तुझको चाहते हैं, वह तो निश्चय ही पावेंगे। हम तो चाहते नहीं ! मन चाहता है भोग, इन्द्रियां चाहती हैं विषय, प्राण चाहते हैं देह; इस कारण तुमको फिर चाहें किस तरह जितने दिन जाते हैं, उतना ही रोम रोम में इसका अनुभव होता है।

हे कृपामयी! हमारे न चाहने पर भी तुम आओगी! इतनी कृपा, इतना स्नेह मा! तुम्हारे हृदय में है! तुम्हारे स्नेह की एक बून्द पाकर, जगत् की मातायें पुत्र स्नेह से अपने को भूल जाती हैं। फिर तुम तो स्नेह सिन्धु हो तुम्हारा स्नेह कितना अधिक है! तू हमारी मा है! हे मा! जहाँ अपराध कहकर कुछ नहीं है ऐसी तू हमारी मा है, सन्तान के दोष देखने में हमारी अन्धी मा हो। तुम आओगी! हमें आत्म विस्मृत करोगी। हमारी ठोड़ी पकड़ कर, "बेटा आओ" ऐसा कहकर आदर करोगी! तब मैं अभिमान से मुख फेर कर कहूंगा—"अब मैं तुझ से अम्मा नहीं कहूँगा, अम्मा कहकर नहीं बुलाऊँगा।"

इन चार मन्त्रों में सुरथ की जिन चिन्ताओं का विषय कहा गया है, यहां पर फिर एकबार उसकी संक्षिप्त आलोचना कर लीजिये। प्रथम, देहपुर–विषयक चिन्ता—असदाचारिणी इन्द्रियों का अनुचित परिपोषण, द्वितीय, देहाभिमान की विपुल भोग-वासना विषयक चिन्ता, तृतीय, कर्म्मकाण्ड की वहिर्मुखता, एवं चतुर्थ, बहुत कष्ट से सञ्चित प्राणमय कोष का वृथा क्षय होने की चिन्ता। जिसने बुद्धि क्षेत्र में पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त किया है, ऐसे साधकों को ये सब चिन्तायें होना अत्यन्त स्वाभाविक बात है।

एतच्चान्यच्च सततं चिन्तयामास पार्थिवः।
तत्र विप्राश्रमाभ्यासे वैश्यमेकं ददर्श सः ॥१५॥

अनुवाद—हे विप्र! राजा सुरथ सर्वदा इस प्रकार और अन्यान्य अनेक प्रकार की चिन्तायें करता था। इसके अनन्तर उसने एक दिन उस आश्रम के समीप एक वैश्य को देखा।

व्याख्या—इस प्रकार अनेक चिन्ताओं द्वारा जीव जब अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, कि किस उपाय से इस देहेन्द्रिय की प्रतिकूलता

से परित्राण पाकर, माता की अभय गोदी में सदा के लिये स्थान पाऊँगा, इस प्रकार चिन्ता से जब अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाता है, तब ही हमारी मा एक वैश्य के साथ उसका साक्षात्कार करा देती है। प्रवेशार्थक विश धातु से वैश्य शब्द सिद्ध हुआ है। प्रवेश—धर्म्मशील व्यक्ति ही वैश्य है। बुद्धि का राज्य अतिक्रम करके, जो व्यक्ति आत्मराज्य में—माता की गोदी में प्रवेश करने को उद्यत हैं, उसको वैश्य कहते हैं। इसका विशेष परिचय आगे मिलेगा। यहाँ पर जाति रहस्य सम्बन्ध में कुछ आलोचना करना अत्यन्त अप्रासङ्गिक न होगा। आत्मा की जाति नहीं है, देह की भी जाति नहीं; परन्तु देहात्मबोध विशिष्ट जीव की जाति सब लोगों में प्रसिद्ध है। गुण और कर्म्मभेद से जाति का भेद है। गुण कर्म्म अनादि हैं; इस कारण जाति भी अनादि है। यह मनुष्यकृत एक सामाजिक शृङ्खला-विधान नहीं है। सूक्ष्म देह की वर्ण वैचित्र्यता ही विभिन्न जाति वा वर्ण का दर्शानेवाला है। साधन—जगत् में अधिकार के स्तर भेद से चारोंवर्ण निरूपित हुए हैं। जबतक जीव भगवान् को आत्मभेद से विशिष्ट मूर्ति वा भाव अवलम्बन कर सेवा परिचर्य्या आदि करके तृप्त रहते हैं, तबतक वह शूद्र स्तरीय साधक हैं; जब जीव अपने को भगवान् का ही अंश कहकर समझ सकता है और अनेक प्रकार के अभीष्ट फल प्राप्ति की आशा से सर्वशक्ति-समन्वित किसी भी विशिष्ट मूर्ति वा भाव के समीपस्थ होकर, उसमें प्रवेश करने को उद्यत होता है, तब उसको वैश्यस्तरीय साधक कहा जाता है। जब भगवान् को अपना अत्यन्त आत्मीय जान कर, जीवत्वरूप क्षत (दुःख) से बचाने के लिये पूर्ण भाव से आत्म-समर्पण करने में समर्थ होता है, तब वह क्षत्रियस्तर का साधक है। और जो ब्रह्म को आत्मारूप से जानते हैं, अर्थात् चिन्मयी महाशक्ति के चरणों में जीवभाव के कर्तृत्व पूर्णरूप से उत्सर्ग कर, नित्यानन्द भोग करते-करते जगत् का मंगल करने में लीन रहते हैं, वही ब्राह्मण हैं।

शारीरक भाष्य में शूद्र शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—"शुचा द्रवति इति शूद्रः"। जो व्यक्ति शोक दुःख से व्याकुल हो परता है, वही शूद्र है। जो इस शूद्रत्व से मुक्त होकर आत्मराज्य में प्रवेश करना आरम्भ करते हैं, वही वैश्य हैं। वेद शास्त्र में वा मातृसम्वेदन में प्रथम प्रविष्ट साधकगण ही वैश्य जाति हैं। जो आत्मलाभ में अर्थात् आत्मसमर्पण में उद्यत हैं, वह क्षत्रिय हैं। और जो आत्म-प्राप्ति में कृत-कृत्त हो गये हैं वह ब्राह्मण हैं। आध्यात्मिक जगत् के इस तारतम्य और विभाग के अनुसार ही व्यवहारिक जगत् में ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग हुआ है! एक ही महान् उद्देश्य से—एक मात्र आनन्दमय परमात्म वस्तु-प्राप्त करने के उद्देश्य से-दौड़ने वालों में, जो सबसे आगे हैं वह ब्राह्मण हैं; जो उनसे पीछे हैं वह क्षत्रिय हैं। इसी प्रकार उनसे पीछे वाले वैश्य और उनसे पीछे वाले शूद्र हैं। इसमें विद्वेष नहीं हिंसा नहीं, परस्पर सहानुभूति है। जो शूद्र अथवा वैश्य जाति होकर भी ब्राह्मणोचित गुण संग्रह करने समर्थ हुए हैं, वह कुछ दिन बाद अवश्य होने वाले ब्राह्मण जन्म को जान कर भी, बालकोचित अधीरता का आश्रय लेकर, इस जन्म में ब्राह्मण होने की अभिलाषा से, किसी प्रकार समाज स्थिति की विश्रृ-ङ्खलता उत्पन्न करने से विरत रहें; यही भगवान् श्रीकृष्ण का निश्चय अभिप्राय था। इसीसे उन्होंने गीता में वर्णशङ्कर की अनिष्टकारिता विशेष भाव से उल्लेख की है। यद्यपि वर्त्तमान युग में वर्णसंकरता का लक्षण प्रकाशित है, तथापि अब भी मनुष्यमात्र को अपने-अपने वर्णोचित–आश्रमधर्म्म–प्रतिपालन में पूर्ण रूप से यत्नवान् होना आव-श्यक है। जो व्यक्ति जिस भाव से जिस कार्य्य में नियुक्त है, उसका वह कार्य्य निन्दित हो अथवा प्रशंसित हो, जो जिस अवस्था में है, ठीक वैसा ही रहकर भगवान् की शरणागत हो। सर्वतो भाव से उसके चरणों में आश्रय लेकर कर्म्मक्षेत्र में आगे बढ़ो, तो कर्म्म की शक्ति दूनी बढ़ेगी, तो भी चित्त में एक अनुपम निर्म्मल शान्ति सदा

विराजमान रहेगी। प्रत्येक वर्त्तमान अवस्था के भीतर जीवन की सार्थकता की ओर ध्यान रक्खो तो भविष्यत् वा भूत अवस्थाओं की सार्थकता अपने आप आ जायगी। "अन्तिम जीवन में कर्म्म से अवकाश लेकर भगवान् का आश्रय ग्रहण करोगे" "यह आलसी जीवों का मनोविनोद मात्र है"। 'प्रभु तुम हमारे एकान्त आश्रय है,' 'तुम हमारे अत्यन्त सुहृद हो' यह कह कर प्रत्येक वर्त्तमान मुहूर्त्त में (जिस समय उसकी बात समझ में आ जाय) उसके निकट सब दुःख कष्ट पाप आत्मग्लानि, सरल प्राण से निवेदन करो। तो शीघ्र ही आश्रमधर्म्म, वर्णधर्म्म पुनः प्रतिष्ठित होंगे। तुमको कोई विशेष चेष्टा नहीं करनी होगी, देखोगे कि कोई अज्ञेय शक्ति तुम्हारे भीतर रहकर सब आश्रमधर्म्म प्रतिपालन करा लेती है। गीता की वह सुमधुर आश्वासवाणी स्मरण करो—"अपिचेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव समन्तव्यः सम्यक व्यवसितो हिसः। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्ति निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।"

स पृष्टस्तेन कस्त्वं भो हेतुश्चागमनेऽत्र कः।
सशोक इव कस्मात्वं दुर्म्मना इव लक्ष्यसे ॥ १६ ॥

अनुवाद—सुरथ ने उससे पूछा कि—आप कौन हैं ? यहां किस कारण आप आये हैं ? क्यों आप ऐसे शोकाकुल और उदास मालूम होते हैं ?

व्याख्या—कुछ दिन बुद्धिमय क्षेत्र में बारम्बार आने जाने के कारण धीरे-धीरे एक तन्मयता आ जाती है। प्राण-प्रिय मनोविमोहन, बुद्धिज्योति के ऊपर कुछ-कुछ आत्मप्रतिबिम्ब का आभास पाकर, स्वभावतः उसमें क्षणभर के लिये मुग्ध हो जाना पड़ता है। यह मुग्धभाव होने ही से कुछ-कुछ तन्मयता आती है। तब उस

तन्मयता का स्वरूप क्या है, इसे जानने के लिये जीव आग्रह करता है। तन्मयता की प्राप्ति के लिये साधक अनेक प्रकार के योग सम्बन्धी कौशल साधन और कठोर अभ्यास करने पर भी मनोरथ सफल नहीं होता। तब जो स्वयं अनाहूत (बिना बुलाया) भाव से उपस्थित होता है, उसमें जीव प्रथम धारण ही नहीं कर सकता; इसीसे उसका परिचय जानने के लिये व्यग्र होता है। वह अवस्था अपूर्व आनन्दप्रद होने पर भी, तबतक विषयमलिनता और जीवभावीय परिच्छिन्नता रहती है; इसीलिये मन्त्र में वैश्य को सशोक और दुर्म्मना कहा गया है। सुरथ के निकट वैश्य उसी प्रकार जान पड़ा था। सुरथ की पहली बातें आगन्तुक के प्रति प्रणयभाव की सूचना करती हैं। यह वैश्य जो जीव का अतिप्रिय और अत्यन्त आकांक्षा वाला है, वह आगे प्रगट होगा।

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य भूपतेः प्रणयोदितम्।
प्रत्युवाच स तं वैश्यः प्रश्रयावनतो नृपम्॥ १७॥

अनुवाद—भूपति के इस प्रकार प्रणय मिले वचन सुन कर, वह वैश्य विनय पूर्वक राजा से कहने लगा।

व्याख्या—आगन्तुक का परिचय जानने का प्रयास करने से ही जीव समझ सकता है—कि वह अवस्था क्या है? मा ही दया करके जीव के सब संशय दूर कर देती है। प्रथम जब तन्मयता उपस्थित होती है, तब जीव उसका वास्तविक स्वरूप कुछ नहीं जानता; तो भी उस अवस्था को सुखदायक कह कर बारम्बार उसका सत्सङ्ग प्राप्त करने की वासना होती है। प्रथम बार के दर्शन से ही एक परमात्मीय भाव हृदय में फूटने लगता है और साधक इस प्रणयोदित भाव की उमंग के कारण ही आगन्तुक प्रसन्नता पूर्वक अपना परिचय प्रदान करता है।

वैश्य उवाच ।

समाधिर्नाम वैश्योऽहमुत्पन्नो धनिनां कुले ।
पुत्रदारैर्निरस्तश्च धनलोभादसाधुभिः ॥१८॥

अनुवाद—वैश्य ने कहा—मैं समाधि नामक वैश्य हूँ, धनवान् कुल में मेरा जन्म है, परन्तु धनलोलुप असाधु स्त्री पुत्रों द्वारा मैं निकाल दिया गया हूँ।

व्याख्या—अनेक जन्मों के सञ्चितसुकर्मों के फल से जीव समाधि का सन्धान पाता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें साधारण जीवों की सदा भोगने योग्य हैं। इन तीन के सिवाय और एक अवस्था है, उसका नाम तुरीय वा समाधि है। कदाचित् कोई-कोई जीव इसका साक्षात्कार पाकर धन्य होते हैं। जिस अवस्था में मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, चक्षु, कर्ण, आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां एवं वाक् पाणि आदि पांच कर्म्मेन्द्रियां, यह चौदह अपना-अपना काम करते रहते हैं, उस अवस्था का नाम जाग्रत अवस्था है। जब केवल चार अन्तःकरण क्रियाशील रहते हैं, शेष दश इन्द्रियां निष्क्रिय अवस्था में होती हैं तब स्वप्न अवस्था होती है, जब चौदहों निष्क्रिय होते हैं, तब इसको सुप्त अवस्था कहते हैं। इस सुप्तावस्था में हम अपने तक को भूल जाते हैं। तब जगत्ज्ञान और "मैं हूं" यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं होता। यह प्रायः मृतवत् अवस्था कही जाती है। परन्तु समाधि-अवस्था में ऐसा नहीं होता—जगत्ज्ञान नहीं रहता, तो भी आत्मसत्ता जाग्रत रहती है। जिसको कहते हैं 'जगते हुये सोना' जगत्भाव से बिलकुल निद्रित हैं; किन्तु आत्मभाव में जाग्रत है, इसी का नाम समाधि है। बुद्धियोग के फल से चैतन्यमय महा आकाशमण्डल में स्थित होने का अभ्यास होने के बाद यह अवस्था अपने आप उपस्थित होती है। यह आत्मराज्य वा माता की गोद में पहुँचने का प्रवेश द्वार है। इसीसे, यह वैश्य अथवा

आत्मराज्य में प्रथम प्रवेशक कहा गया है। धनवानों के कुल में इस का आविर्भाव है। जो मातृस्नेहरस से अभिषिक्त हैं, भक्तिधन से धनवान् हैं, जो सद्गुरु के अकारण कृपा धन से ज्ञानवान् हैं, जो सत्यप्रतिष्ठा की असीम शक्ति से वीर्य्यवान् हैं, जो बुद्धियुक्त कर्म्म-फल से चिन्मयज्योतिर्धन से धनवान् हैं, उन धनवानों के कुल में ही समाधि का आविर्भाव होता है।

समाधि—अष्टाङ्गयोग का अन्तिम अङ्ग है। यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि; योग शास्त्र में ये आठ योगाङ्ग कहे गये हैं। ये केवल भगवत् प्राप्तिके पक्ष में ही उपयोगी हों सो नहीं है, बल्कि योग के बिना जगत् का कोई भी कार्य्य सिद्ध नहीं हो सकता है। योग शब्द का अर्थ है मिलना, क्या इन्द्रियों के साथ विषयों का मिलन, क्या मन के साथ बुद्धि का मिलन, क्या बुद्धि के साथ आत्मा का मिलन, क्या प्रत्यगात्मा के साथ परमात्मा का मिलन, अथवा भक्तोंके साथ भगवान का अथवा माता के साथ पुत्र का मिलन, ये सब ही योगपदवाच्य हैं। यह मिलन वा योग पूर्वोक्त यम नियमादि आठ अङ्गों की समष्टिमात्र है। विषयेन्द्रिय संयोग का नाम कर्म्म है; इस कारण, कर्म्म मात्र ही योग है और जीवमात्र ही योगी हैं। महायोगिनी योगमाया हमारी मा के कल्पित प्रत्येक परमाणु ही इस महायोग में सदायुक्त हैं। महायोगी महेश्वर की हृदयविहारिणी योगेश्वरी के साथ योग-च्युति वा सम्बन्धविलोप होने से आकाश से परमाणु पर्य्यन्त रह नहीं सकते। सम्यक् मातृ मिलन में महामुक्ति में इस योग की समाप्ति है। किस अतीत युग में, किस प्रथम चैतन्य के प्रकाश के दिनों में, इस योग का आरम्भ हुआ है और कबतक इसकी समाप्ति होगी, उसे हमारी योगराणी मा के सिवाय और कौन समझेगा?

अब हमको देखना चाहिये कि किस प्रकार कर्म्म मात्र में ही योग होता है। मान लो कि तुम भोजन करते हो; उस समय

अपने चित्त को अन्यान्य कार्यों से आवश्यकतानुसार कुछ संयत करना पड़ता है, इसीका नाम यम है। आहार करते समय हाथ पाँव धोना, अन्नादि का यथा स्थान स्थापन इत्यादि कुछ आवश्यक नियम अवलम्बन करते रहते हैं, यही नियम हैं। जिस प्रकार से बैठ कर अच्छी तरह भोजन कर सकते हैं, उस प्रकार बैठने का नाम आसन है। दौड़ने अथवा सोने के समय जिस प्रकार अङ्ग की आकृति करते हैं, ऐसा करने से भोजन ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता। बल्कि जिस प्रकार कि अङ्ग की आकृति जिस काम के लिये उपयोगी और सुखकर हैं, वही उस कार्य्य के उपयुक्त आसन हैं। उसके बाद प्राणायाम है। प्राण का आयाम अर्थात् विस्तार। प्राणायाम तत्व आगे व्याख्यात होगा। साधारणतः प्राणायाम कहने से श्वास प्रश्वास का संयम समझना चाहिये। भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुष्ठान से हमारे श्वास की गति के परिमाण और मात्रा में जो तारतम्य होता है, प्राण का आयाम वा संकोच ही उसका हेतु है। जिस कार्य्य से प्राण का प्रसार होता है, उसी कार्य्य के अनुष्ठानकाल में श्वास की गति मृदुभाव से सम्पन्न होती है। और जिस कार्य्य से प्राण संकुचित हो जाता है, उस कार्य्य के अनुष्ठानकाल में श्वास की गति तीव्र होती है। श्वास प्रतिश्वास की गति का घटना बढ़ना मनुष्यमात्र का ही लक्ष्य है; परन्तु प्राणायाम साधकों के विचारने योग्य है—कि किस कार्य्य में प्राण कितनी दूर तक सङ्कोच वा प्रसारण करता है, उसे लक्ष्य करके ही पूर्व आचार्यों ने पुण्य पाप और विधिनिषेध की व्यवस्था की थी। जिस प्रकार कार्य्य के अनुष्ठान से प्राण स्वभावतः प्रसारित होता है, उसी को शास्त्र में पुण्यरूप से वर्णन किया है; यह ही विधि निरूपित कर्म्म है। और जिस कार्य्य के अनुष्ठान से प्राण संकुचित हो पड़ता है, उसी को शास्त्रकारों ने पाप कर्म्म कहा है उसी को निषेध विधान के अन्तर्गत वा निषिद्ध कहा है। पाप पुण्य और विधि निषेध यह प्राणायाम–

तत्व के ऊपर निर्भर है। अस्तु, यह दूसरी बात है। हमारे पूर्व-प्रस्तावित आहार रूप कार्यों में भी, इस प्रकार स्वाभाविक प्राणायाम वा श्वास प्रश्वास की गति का तारतम्य नित्य सिद्ध है। अनन्तर प्रत्याहार—इन्द्रिय-वृत्तियों को अन्यान्य विषयों से रोक कर अभीष्ट कार्य्य में लगाने का नाम प्रत्याहार है। आहार कार्य्य पूर्ण करने में भी कुछ प्रत्याहार अत्यन्त आवश्यक है। उसके बाद धारणा है—चित्त को आहार और उससे तृप्ति और क्षुधा-निवृत्ति की ओर धारणा कर रखते हैं। इसीसे क्षुधा-निवृत्ति वा तृप्ति होने पर भोजन कार्य्य समाप्त होता है। इस प्रकार आहार-विषयक कुछ ध्यान वा चिन्ता और उसके लिये अल्पक्षणस्थायी समाधि होती है—क्षणकाल के लिए मन आज्ञाचक्र को स्पर्श कर आता है, उसी के फल से, भोजन कार्य्य सिद्ध होता रहता है। इसी प्रकार सर्वत्र है। हमारे समस्त कर्मों के भीतर बिना जाने यह अष्टाङ्ग योग साधन होता रहता है। सांसारिक कार्यों का हमें ऐसा अभ्यास हो गया है कि प्रत्येक कार्य्य के अनुष्ठान में, जो इतने काण्ड करते है, उन पर लक्ष्य भी नहीं कर सकते, तो भी यह आठों कर्म्म एक के बाद एक सिद्ध होते रहते हैं। कमल शत पत्र भेद न्याय से (१) ये हमको एक ही प्रयत्न से एक साथ सिद्ध हुए जान पड़ते हैं।

समाधि के बिना कोई कार्य्य सिद्ध नहीं हो सकता है; मन जब बुद्धि में वा निश्चयात्मिका वृत्ति में समाहित वा सम्यक्भाव से संस्थापित होता है, तब ही समाधि होती है। तुम्हारे पैर में एक कांटा विध गया, इन्द्रियों ने वह कण्टकवेध रूप कार्य मन समीप उपस्थित किया, परन्तु मन बोल नहीं सकता कि यह क्या है ; इसी से वह फिर उसे बुद्धि के निकट उपस्थित करता है, यह जो उपस्थित करना है-इसी

(१) सौ कमल के पत्ते तले ऊपर रख कर छुई छेदने पर मान लिया जाता है कि हमने सब पत्ते एक साथ वेध दिये, परन्तु वास्तव में वह क्रम से एक के बाद दूसरा इसी प्रकार बेधे जाते हैं।

का नाम समाधि है। इस समय मन आज्ञाचक्र में बुद्धि के साथ मिलता है। तब बुद्धि कह देती है—उसका नाम "कण्टकवेध है, उससे कुछ पीड़ा होती है"। तब ही मन "उहुः बड़ा दर्द है" यह कह कर कण्टकवेध की यातना का अनुभव करता है। इसी प्रकार सर्वत्र। यह मन बुद्धि के मिलन रूप समाधि सांसारिक सब कार्य्यों का मूल है। ऐसी समाधि जीव दिन रात लगाया करता है; इस कारण उसके अङ्गीभूत, यम नियमादि अष्टाङ्ग योग भी स्वभावतः सिद्ध होते हैं; परन्तु ऐसी समाधि समाधि नहीं है; कारण कि यह मन के संस्कार के उपर निर्भर है। वास्तविक समाधि-प्रज्ञा के साथ मन का मिलन है। "प्रज्ञानं ब्रह्म" यह ऋग्वेदीय महावाक्य—प्रज्ञान ही ब्रह्म है। मन जब प्रज्ञानाकार से आकारित होता है अथवा प्रज्ञा में विलीन हो जाता है, तब ही यथार्थ समाधि होती है। यह प्रथमतः ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी-युक्त होकर सविकल्प भाव से आविर्भुत होती है। फिर माता की कृपा से, अभ्यास के बलसे निर्विकल्प अर्थात् उक्त त्रिपुटी रहित केवल विशुद्ध—बोधरूप से प्रकाशित होती है। इसी का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है।

समाधि ही मातृ मिलन का द्वार है। अखण्ड चित्समुद्र के साथ कल्पित जीव—भावापन्न परिच्छिन्न चैतन्य का मिलन संघठित होने की प्रणाली ही समाधि है। सदा जीवचैतन्य में इसका अविर्भाव और तिरोभाव संघटित होने पर भी, जब तक उसे प्रत्यक्ष न कर सके, अनुभव न कर सके, तब तक जीव जन्म मृत्यु दुःख कष्ट शोक ताप इनके हाथ से बच नहीं सकता। मा-ही हमारी समाधि रूप में प्रगट होकर, स्नेह की सन्तान जीव को आत्मसमुद्र में मिला देती वा आत्महारा कर देती है। मनुष्य जीवन का यही चरम और परम चरितार्थता (कृतार्थता) है।

पहले पहले यह समाधि मलिन भावापन्न रहती है, इसी से मन्त्र में सशोक और दुर्म्मना इन विशेषण-पदों का प्रयोग किया गया है।

अस्तु, सुरथ ने इतने दिनों तक समाधि का पता ही नहीं पाया, अब की बड़े सौभाग्य के फल से माता की कृपा से उसका दर्शन प्राप्त हुआ है। फिर मलिन भावापन्न है, तो हो। मलिनता कट जायगी शोक दूर होगा दुर्मना सुमना हो जायगा। ये सब बातें आगे समझ सकोगे। अब देखिये कि—समाधि प्रथम साक्षात्कार में 'सशोक' और 'दुर्मना' क्यों हैं ? मन्त्र में कहा गया है–"पुत्रदारै र्निरस्तश्च धनलोभाद् साधुभिः" धन लोलुप असाधुवृत्ति पुत्र भार्य्याद्वारा फट-कारा हुआ है ; इसी से यह मलिनभाव सशोक और दुर्मना है। समाधि का पुत्र ध्यान और स्त्री धारणा है। इस बात का कुछ विषद्भाव से आलोचना करना आवश्यक है।

स्थूल दृष्टि से जाना जाता है कि—यमनियमादि अङ्गों के बाद पूर्व पूर्व अवस्थाओं की परिपक्वता क्रम से आविर्भूत होती है। अर्थात् 'यम'–अनुष्ठान सिद्ध होने पर नियम उपस्थित होता है। नियम के सिद्ध होने पर, आसन अनुष्ठान का समय होता है। इसी प्रकार क्रमशः धारणा में अभ्यस्त होने पर ध्यान होता है, और ध्यान गंभीर होने से समाधि उपस्थित होती है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है; हम देखते हैं कि समाधि आ जाने का समय हो जाने पर योग के अन्यान्य अङ्ग अपने आप ही सिद्ध हो जाते हैं। समाधि नित्य सिद्ध वस्तु है, वह कोई अन्य पदार्थ नहीं है। ध्यान से समाधि नहीं आती है, समाधि आने पर ध्यान सिद्ध होता है। अन्धकार दूर होने पर सूर्य्य उदय नहीं होते, बल्कि सूर्य्य उदय होते हैं तब अन्धेरा भाग जाता है।

जिस अनुलोम क्रम से सृष्टि होती है, प्रलय भी ठीक उसी भाव से सिद्ध होती है। प्रकृति से महत्, महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र और पञ्चतन्मात्र से पञ्च-महाभूत; इस प्रकार अनुलोम क्रम से सृष्टि होती है। मुक्ति वा प्रलय के समय में भी सूक्ष्म दृष्टि से ठीक यही अनुलोमक्रम देखा जाता है, प्रकृति जब यह विचार करती

है कि मैं फिर परिणाम न देखूंगी, तब ऊपर की ओरसे खींचना आरम्भ होता है; अर्थात् प्रकृति महत्तत्व में विलीन करने का प्रयास करती है, महत् अहङ्कार को खींचता है, अहङ्कार पञ्चतन्मात्राओं को, पञ्चतन्मात्रा पञ्चमहाभूतों को, इस प्रकार आकर्षण ठीक अनुलोम गति से ही होता है; परन्तु बाहिर में विलोभगति प्रकट होती है। ऐसा जान पड़ता कि नीचे की ओरसे प्रलय आरम्भ हुई है अर्थात् पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्रा में प्रवेश करते हैं, पञ्चतन्मात्रा अहङ्कार में प्रवेश करती हैं, अहङ्कार महत् में और महत् प्रकृति में समाप्त होता है; इसी प्रकार प्रकृति पुरुष में विलीन होती है अथवा पुरुष के सामने से हट जाती है। यह जो विलोमगति प्रत्यक्ष होती है, यह अन्तर्निहित अनुलोमगति का ही बहिर्विकास वा फलमात्र है। जैसा कि ज्वार के समय में देखा जाता है कि समुद्र की जल राशि, नदी, शाखा नदी, खाल आदि में प्रविष्ट होकर उनका कलेवर पुष्ट करती हैं, फिर भाटा के समुद्र के आकर्षण से नदी नालों का जल समुद्र की ओर चलने लगता है। पहले समुद्र में भाटा का खिचाव पड़ता है; इसीसे नदी नालों का जल समुद्र की ओर बहने लगता है। समाधि आदि योगाङ्ग भी ठीक इसी प्रकार है। अनुलोमगति ही जगत् में सर्वत्र है। समाधि से ही ध्यान, ध्यान से ही धारणा, और धारणा से ही प्रत्याहार है। इसी प्रकार अन्यान्य योगाङ्गों को भी समझ लीजिये। यद्यपि योगशास्त्र में ठीक इस प्रकार क्रम का उल्लेख नहीं है, यद्यपि साधकगण नीचे की ओरसे ही ऊपर की ओर जाने का चेष्टा करते हैं, तथापि चक्षुवाले व्यक्तियों ने कुछ धीर भाव से पर्य्यालोचना कर समझ सकते हैं कि—समाधि एक नित्य सिद्ध वस्तु वा अवस्था है; वह सर्वकाल में समभाव से स्थित है। वह ध्यान धारणा से जन्म-ग्रहण नहीं करती, बल्कि ध्यान धारणा आदि ही सर्वतोभाव से समाधि के अनुगामी हैं। समाधि जब आविर्भूत होती है, तब वही यम नियम आसन आदि के आकार में प्रकाशित होती रहती है।

साधारण जीव इस रहस्य का अनुभव न कर सकने के कारण, नीचे की ओरसे साधना की गति ऊपर की ओर चलाना आरम्भ करते हैं, परन्तु अत्यन्त श्रम करने पर भी यथार्थ आत्मस्वरूप न जान सकने के कारण हताश हो जाते हैं।

साधक! मान लो कि तुमको प्रथम यम का साधन करना होगा। ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह, इनका नाम यम है, इनमें से एक एक को साधन करने ही में अनेक वर्ष लग जाते हैं! इसी प्रकार प्रत्येक योगाङ्ग और उसके प्रत्यङ्गों में सिद्धि प्राप्त कर समाधि में पहुँच कर, परमात्मसाक्षात्कार करने में जितनी दृढ़ता और सहिष्णुता की आवश्यकता है, वर्तमान युग में वह अत्यन्त दुर्लभ है। पूर्व पूर्व युग में जीवों में चलने की शक्ति थी, तब वह मार्ग दिखला देने से, आगे चले जा सकते थे। परन्तु इस युग में हम पूर्ण रूप से गति (चलने की) शक्ति से रहित लंगड़े हो गये हैं। तब क्या फिर मार्ग दिखाकर निश्चिन्त बैठ रहने से कार्य्य चल सकता है? इस समय हम माता के अस्तित्व में विश्वासहीन हैं; इस कारण पूर्णरूप से चलने की शक्ति रहित हैं (अशक्त हैं) अब क्या उन योगाङ्गों के अनुष्ठान का समय और सहिष्णुता है? इस युग में मा आप ही आकर, सन्तान को गोद में लेकर चलेगी। काल चाहे कितना ही कठोर क्यों न हो, अन्धकार चाहे कितना ही घनीभूत क्यों न हो, पुत्र वत्सला, हमारी मा उतना ही करुणा का समुद्र उमड़ा रही है; दया से जगत् को प्लावित कर रही है। यही हमारी मा का मातृत्व है। केवल माता के अस्तित्व में विश्वासवान् होओ। "हे मा तुम ही हमारी हो"—यह ठीक-ठीक मन से प्राण से धारणा करो। हर एक बात में मा को मानो, कि मा सत्य ही रहती है और तुम्हारे मङ्गल साधन में सदा उत्कण्ठित हो रही है, यह बात दृढ़ रूप से हृदय पर लिख लो। देखोगे कि—तुम्हारी समाधि अपने आप पास चला आवेगी। तुम्हारा अष्टाङ्गयोग (तुमको मालूम भी नहीं

पड़ेगा) स्वयं सिद्धि हो जायगा। केवल कातर प्राण से कहो—"मा ! तुम तो सर्वत्र सर्वभाव से विराजमान हो, तब क्यों मैं विश्वास नहीं कर सकता ? हमारी इस असामर्थ के मूल में भी तो तुम हो, तब क्यों हमें अविश्वास के अन्धकार में डुबाये रक्खोगी ? अये मा ! एक बार ज्ञानचक्षु खोल दीजिये, केवल एक बार अपने तीनों लोक में व्याप्त स्नेहरस के आस्वादन का सुयोग कर दीजिये, जिससे मैं मा कहकर धन्य होऊं ! ये तीन तापों से सूखने वाले प्राण सरस हो !" ऐसा करके रोते रहो, विश्वास न होने पर दुःखित हो, पश्चा-ताप करो, मा को जनाओ, तो विश्वास स्थिर होगा। तब देखोगे—कि समाधि का सन्धान न करने पर भी वह स्वयं आकर उपस्थित होती है। सुरथ ने तो समाधि का सन्धान किया नहीं था ! तथापि एकमात्र घोड़े पर चढ़कर बनगमन वा बुद्धियोग के फल से समाधि का साक्षात्कार प्राप्त कर धन्य हुआ था।

अस्तु, ध्यान धारणा रूप समाधि के पुत्र और भार्य्या—धन लोलुप हैं; इस कारण असाधुवृत्ति हैं। धन शब्द का अर्थ रूप—रसादि विषयगत ऐवर्य्य वा विषयत्व है। ईषोपनिषद् में कहा गया है—"मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" विषयगत धन ग्रहण न करना, अर्थात् विषयत्व में मुग्ध न होओ। धारणा ध्यान आदि योगाङ्ग सदा विषय की ओर जाने वाले हैं। समाधि सर्वदा ही अखण्ड ज्ञान (प्रज्ञा) में प्रतिष्ठित होना चाहती है ; परन्तु धारणा ध्यानादि विषयाभिमुखी आकर्षण अर्थात् धन का लोभ नहीं छोड़ सकते। पूर्व कहा है कि हमारे प्रत्येक कार्य्य में ही समाधि वा अष्टाङ्ग योग सिद्ध होता है। सुरथ ने जिस समाधि का साक्षात् पाया है, वह यह नित्यसिद्ध दिन रात स्थिर रहने वाली समाधि है ; इस कारण धन लोलुप असाधु वृत्ति पुत्र भार्य्या द्वारा फटकार (दुत्कार) दी गई है। मनुष्य दिन रात विषयों का ध्यान करता है, विषयों की धारणा ही में अभ्यस्त है, विषय भोगने ही के लिये इन्द्रियों का

निरोध करता है; जो कुछ साधन हैं वह सब रूप रसादि विषय को प्राप्त धन के लोभ से ही किये जाते हैं; इस कारण वह असाधु हैं; परन्तु समाधि स्वभावतः अति निर्म्मल है। वह सर्वदा प्रज्ञा के साथ मिली रहने ही में सुखी है। जब तक समाधि का यह स्वाभाविक स्वभाव नहीं आता तब तक वह स्त्री पुत्रादि को तृप्त करने ही के लिये लालायित रहता है। योग के अङ्ग जिन रूप रसादि को लाकर उपस्थित करते हैं, समाधि उन्हें ही प्रकाशित कर देती है। समाधि न रहने से विषय प्रकाशित नहीं ही होते। अस्तु, बहुत दिन इस प्रकार परिवार का पोषण करने पर भी जब समाधि की इच्छा पूर्ण नहीं होती, तब वह विषयों से विमुख होकर, अकेला प्रज्ञा के साथ मिलना चाहता है; परन्तु ध्यान धारणादि का पूर्ववत् धन लोलुपता दूर न होने से, वह समाधि को पराजित करते रहते हैं! वह चाहते हैं कि हमारे प्रभु समाधि हमारे अनुगत होकर रहे; परन्तु समाधि चाहती है कि ध्यान धारणा हमारे अनुकूल होकर भूमा सुख के अनुगामी हों। इस आपस के विरुद्ध भाव के कारण, ध्यान धारणादि द्वारा समाधि को पराजित होना पड़ता है। यद्यपि वह समाधि के ही अङ्ग मात्र हैं। तथापि इस समय सब ही मानो स्वाधीन और बलवान् हो उठे हैं। बहुत दिन से अहं बुद्धिवाले जीव भाव में रहने से, प्रत्येक को ही एक एक अहं होने लगा है अब हर एक ही स्वाधीन होना चाहता है, इसी से समाधि को तारणा करते हैं। इसी कारण समाधि के सशोक और दुर्मना भाव दिखाई पड़ते हैं। असल बात यह है कि बुद्धिमय क्षेत्र में स्थित होकर जब कुछ कुछ तन्मयता आ जाती है, तब तक भी विषय-संस्कार दूर नहीं होते। इसी से समाधि निर्म्मल और दीर्घकाल स्थायी नहीं होती।

*

प्रत्येक जीव के हृदय में इस प्रकार की घटनायें संघटित होती हैं। व्यष्टि में जो होता है, समष्टि में भी वही होता है।

हमारी मा प्रत्येक जीव के हृदय में जिस भाव से आविर्भूत होकर जीव को मुक्ति मन्दिर में आकर्षण करती है, जो साधकों के हृदय में गुप्त रूप से संघटित होती है, उसे प्रकाश्य भाव से सजा कर दिखाने ही के लिये, हमारी मा धराधाम पर विशिष्ट रूप से अवतीर्ण होती है। इस प्रकार सुरथ समाधि रूप से प्रकटित होकर, अथवा असंख्य असुरों को निर्म्मूल करके जीव जगत् को शिक्षा दिया करती है। प्रारम्भ में ही कहा है कि चण्डी का उपाख्यानभाग रूपकमात्र नहीं है। सुरथ और समाधि की कोई ऐतिहासिकता न हो सो भी नहीं है। आर्षग्रन्थों में झूठी कल्पना को स्थान नहीं है। प्राचीन काल से अनेक राजाओं द्वारा इस धरती का प्रतिपालन होता आया है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन का कुछ-न-कुछ इतिहास अवश्य है। ऋषियों ने सब के इतिहास एकत्र नहीं किये हैं। जिस चरित्र के चित्रित करने से, उसमें आध्यात्मिक रहस्य सन्निवेशित किया जाता हो, केवल उसी प्रकार के चरित्र वर्णन किये हैं। जिनके नाम और कर्म्म वर्णन करने में, एक तरफ तो जिस प्रकार इतिहास और लोक शिक्षा हो सकती है, वैसे ही दूसरी तरफ आध्यात्मिक तत्वराशि की भी रचना की जा सकती है। इस प्रकार के लोगों के चरित्र लिखना ही ऋषियों का उद्देश्य था। इसी से आर्ष ग्रन्थ मात्र में देखा जाता है कि ऐतिहासिक सत्य की बगल ही में आध्यात्मिक रहस्य भी भली प्रकार सुसज्जित है।

विहीनश्च धनैर्दारैः पुत्रैरादाय मे धनम्।
वनमभ्यागतो दुःखी निरस्तश्चाप्त-बन्धुभि : ॥१६॥

अनुवाद—स्त्री पुत्रों ने मेरा धन छीन कर मुझको धनहीन कर दिया है। विश्वस्त बन्धुओं द्वारा विताड़ित होकर, मैं बड़े दुःख से जंगल में आया हूँ।

व्याख्या—आनन्द ही समाधि का धन है। पुत्र, स्त्री और अन्यान्य मित्रवर्ग अर्थात् ध्यान, धारणा और अन्यान्य योगाङ्गों ने वह धन ग्रहण किया है। सदा सर्वदा प्रत्येक कर्म्म में जीव इस अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान करते हैं, वह विषय-इन्द्रिय-संयोग के कारण परिच्छिन्न आनन्द के उद्देश्य से अनुष्ठित होता है। वह परिच्छिन्न आनन्द समाधि द्वारा प्राप्त, आनन्द सिन्धु की बूंद मात्र है। ब्रह्मा से लेकर चींटी तक प्रत्येक आनन्द को तलाश कर रहा है। यह जो संसार में दौड़-धूप देखते हो, यह केवल कामना और काञ्चन के पूरण की आशा से, जीव समूह उन्मत्त की भाँति अन्धे की भाँति दिग्दिशा ज्ञान शून्य होकर दौड़ रहे हैं, उसका एकमात्र उद्देश्य थोड़ा सा आनन्द है। धार्म्मिक लोग धर्म्म का अनुष्ठान करके आनन्द पाते हैं, पापी निन्दित कर्म्म करके आनन्द पाते हैं। आनन्द अंश में दोनों ही समान हैं; कारण कि "आनन्द ब्रह्म" आनन्द ही ब्रह्म है—आनन्द ही "मा है। सच्चिदानन्दमयी मा का सत्-स्वरूप विशिष्ट भाव से जड़ पदार्थों में उदित हो रहा है। मा जो सत्-स्वरूप है, अर्थात् मा जो है वह हमको भले प्रकार समझा देने के लिये, इन दिखाई देनेवाले जड़ पदार्थों में वह सदा प्रकटिता है। हमारी मा चिन्मयी है, उसे विशेष भाव से समझा देने के लिये वह प्राणि रूप से सर्वत्र विद्यमान है। प्राणियों में हम चैतन्य सत्ता का विशेष विकाश देखते हैं। फिर आनन्द-धर्म्म विशेष भाव से केवल उसी में विद्यमान है। आनन्द और कहीं भी नहीं है। एकमात्र मा आनन्द-घन-मूर्ति से सदा सर्वत्र प्रकाशित है। प्रत्येक जीव में जो विषय-भोगजनित आनन्द देखा जाता है, वह उस आनन्द-समुद्र की ही एक-एक विशिष्ट बुद्-बुद् मात्र है। इस आनन्द को जीव किस प्रकार भोग करता है।

हम जब किसी अभीष्ट वस्तु को संग्रह करने के लिये चेष्टा करते हैं, तब हमारी इन्द्रियां और मन उसके उद्देश्य से प्रेरित होते हैं, उस समय बुद्धि भी आनन्द समुद्र में मानों विच्युत होकर विषयाभिमुखी

हो जाती है। फिर जब चेष्टा सफल होती है अर्थात् अभीष्ट वस्तु-प्राप्त होती है, तब इन्द्रिय, मन और बुद्धि क्षणभर के लिये स्थिर हो जाते हैं। तब ही आनन्द का प्रतिबिम्ब बुद्धि में प्रकाशित होता है; इसीसे, आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु हम ऐसा मान लेते हैं कि अभीष्ट वस्तु ही हमको आनन्द प्रदान करती है। यही अज्ञान है। विषय में आनन्द नहीं है—आनन्द की छाया सदा बुद्धि में पड़ती है। जब बुद्धि उस प्रतिबिम्ब की ओर लक्ष्य न करके विषय की ओर दौड़ती है, तब ही हम आनन्द च्युत हो जाते हैं। फिर बुद्धि की स्थिरता में वह आनन्द अनुभव के योग्य है। यहां एक आशङ्का हो सकती है कि आनन्द यदि एक अखण्ड स्वरूप ही है, तब हम भिन्न-भिन्न विषय प्राप्ति से भिन्न-भिन्न प्रकार का आनन्द किस प्रकार भोग करें? काञ्चन प्राप्ति से जिस प्रकार आनन्द का अनुभव होता है इन्द्रिय-परितृप्ति साधन में उससे भिन्न प्रकार के आनन्द की अनुभूति क्यों होती है? एक फूल देखकर जिस प्रकार आनन्द होता है, एक सङ्गीत सुनकर उस प्रकार आनन्द क्यों नहीं होता? उसका उत्तर यह है कि, आनन्द की वस्तु एक और अखण्ड होने पर भी, विषयेन्द्रिय के संयोग-वैचित्र्य वशतः वह हमारे निकट भिन्न-भिन्न भाव से अनुभव होता है। हमारी इन्द्रियां जब विशेष भाव से संतुष्ट हो जाती हैं, उन इन्द्रियों की तृप्ति होने की विभिन्नता ही आनन्दगत विभिन्नता की प्रतीति का कारण है।

आनन्द का अभाव कहीं भी नहीं है। यह जगत् आनन्द से भरा हुआ है। "आनन्द से ही जीव प्रादुर्भूत हैं, आनन्द ही से सञ्जीवित और आनन्द में ही जीव का अवसान (अन्त) है"। यह मोहन वाणी ऋषियों ने बारम्बार प्रकाशित की है। वर्तमान युग में भी जिन्होंने इसका पता पाया है, वह भी इस एक ही बात की प्रतिध्वनि कर रहे हैं। शोकार्त का करुणपूर्ण रोदन, रोगार्त का हताश प्रगट करने वाली दीर्घ निःश्वास, क्षुधार्त का भूख से चिल्लाना, ये सब ही

आनन्द की प्रकाशक हैं। मनुष्य ने इस प्रकार रोकर, इस प्रकार हाहाकार करके, आनन्द का पता पाया है; इसीसे ऐसा करते हैं। कड़वी औषध सेवन करते समय मौखिक इच्छा न होना, अथवा मुख बिगड़ना आदि विरक्ति भाव प्रकाश होने पर भी; रोगी उसके अन्तर्निहित रोग-निवारण शक्तिरूप आनन्दरस का पता पाने से, उस कटु औषध का सेवन करने को बाध्य होता है। नासूर हो जाने वाले अङ्ग में चीर-फाड़ से होने वाली पीड़ा के भीतर एक अनुपम आनन्द का सन्धान पाता है। रामबनवास, सीताहरण, अभिमन्यु-बध आदि करुणरस उद्दीपन करने वाले श्रेष्ठ अभिनय को देखकर सहृदय दर्शक अश्रुपात करने लगते हैं। उस रोदन में आनन्द का आस्वाद है। करुण भी एक रस है। "रसो वै सः" रस स्वरूप एकमात्र मा है। वह रस वा आनन्द-प्रवाह जब करुण के आकार में बाहिर प्रगट होता है, तब ही हम उसे दुःख कहते हैं। इस प्रकार एकमात्र रसस्वरूपा मा सदासर्वदा शृङ्गार, रहस्य, बीर, रौद्र, बीभत्स आदि अनेक भावों से प्रगट होकर; बहुत्व-प्रिय जीव रूपी सन्तानों को आनन्द-रस-पान कराती रहती है। पतिव्रता सती जब मृत पति के साथ जलती हुई चिता पर शरीर त्यागने को जाती है, तब उस प्राणान्तकर असह्य अग्निदाह के भीतर भी, एक अव्यक्त आनन्द का अनुभव करती है। इसी प्रकार जगत् में सर्वत्र है। जिस व्यक्ति ने अन्तःसलिला फल्गुनदी की भाँति अन्तर्निहित आनन्द रस प्रवाह का सन्धान पाया है। वह जगत् के सब दुःख शोक सन्ताप पीड़ा आदि के बीच अवस्थान करने पर भी, नित्य नित्यानन्द-सम्भोग से कृतार्थ होते हैं। हाय जीव! कब तुम उस आनन्द की धारा पान कर, अमर शान्ति प्राप्त करोगे? अस्तु, समाधि इस अखण्ड आनन्द-समुद्र की तलाश करने वाली है; परन्तु ध्यान धारणादि विषयानन्द में मग्न हैं। आनन्दमयी मा अपना आत्म स्वरूप गुप्त रखकर, लीला के बहाने से जिस विषय का कपटवेश धारण कर बिन्दु-बिन्दु आनन्द

दान करती है, योग के सब अङ्ग उसीके उद्योग वाले हैं। इसीसे समाधि के साथ आपस विरोधिता है। वह जो विषयसंस्पर्श जनित आनन्द-कणा हैं, वह भी समाधि से प्राप्त होते हैं। अन्यान्य योगाङ्ग तो उस आनन्द के निकट भी नहीं पहुँच सकते हैं। इसीसे मन अज्ञाचक्र में संस्थित होकर, उस आनन्द का आस्वाद पाने पर, तुरन्त उसके कुटुम्बीजन उसको खण्ड-खण्ड कर ग्रहण कर लेते हैं। इसीसे मन्त्र में कहा गया है—"आदाय मे धनम्"। मान लो—ध्यान किसी विशिष्ट पदार्थ में ही समाप्त है। जो केवल विषय का ध्यान करते हैं, वह तो आनन्द को खण्ड-खण्ड करते ही हैं, परन्तु उसके सिवाय जो किसी विशिष्ट-मूर्ति अथवा ज्योति अथवा किसी विशिष्ट भाव का ध्यान करते हैं, वह भी समाधि से प्राप्त अखण्ड आनन्द को खण्डित कर डालते हैं। इसी प्रकार धारणा, प्रत्याहार, प्राणायाम आदि प्रत्येक योगाङ्ग ही सीमाबद्ध आनन्द पर मुग्ध हैं। योगाङ्ग समूह की यह सीमाबद्ध-मुग्धता सदा अनुष्ठान होने वाले प्रत्येक कर्म्म में, अथवा योगशास्त्रोक्त उपाय द्वारा भगवत्-साधन में दोनों ही प्रायः तुल्य हैं। यद्यपि आत्मज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से क्रियमाण शास्त्रीय योगाङ्ग जीव को आत्मज्ञान प्राप्ति के उपयोगी कर डालते हैं, तथापि जबतक यम नियमादि की सहायता से आत्मा को जाना जाता है—केवल योगाङ्ग की सहायता से अखण्ड-आनन्द का स्वरूप अनुभव करने की चेष्टा करता है, तब समझना—कि वह यथार्थ आनन्द का सन्धान पाया नहीं है। अरे, वह सर्वत्र सुप्रगट है। इच्छामात्र से ही उसे देखा जाता है—वह आनन्द अनुभव किया जाता है। जिस मुहूर्त्त में उसका दर्शन होता है—उसी मुहूर्त्त में तो समाधि सिद्ध होती है। समाधि-सिद्धि होने पर, अन्यान्य योगाङ्ग तो अपने आप ही सिद्ध हो जाते हैं! जबतक देखेंगे कि तुम मा को देखने के लिये यम नियम का अनुष्ठान करते हो, जबतक देखेंगे कि तुम मा को देखने के लिये पद्मासन कर विशिष्ट भाव से बैठने का

उपक्रम करते हो, जबतक देखेंगे कि तुम इन्द्रियों को रोककर मातृ-मुखी करने का प्रयास पाते हो, तबतक समझेंगे कि तुम केवल कमर में फेंट बांध कर तैय्यार ही रहे हो। अरे, ध्यान करने से मा को नहीं पाया जाता, मा के आने से ध्यान अपने आप होता है। सांसारिक प्रत्येक कार्य्य में जिस प्रकार हम विशिष्ट भाव से ध्यान धारणा नहीं करते, यम नियम, आदि का हम अनुष्ठान नहीं करते, तथापि वे योगाङ्ग अपने आप सिद्ध हो जाते हैं, (भोजन का दृष्टान्त स्मरण कीजिये)। उसी प्रकार मातृ-लाभ के समय भी केवल "यह मैं मा को देखता हूं" ऐसा कहकर दृष्टि मा की ओर फिराओ, फिर देखोगे कि तुम्हारे सब प्रकार के योगाङ्ग अपने आप सिद्ध हो जाते हैं।

सुनो,—आहार विहारादि दैनिक कर्म्म जिस प्रकार हमारे स्वाभाविक होते हैं, ऐसा जान पड़ता है कि कोई चेष्टा के बिना अपने आप ही सिद्ध होते हैं, माता की प्राप्ति भी ठीक उसी प्रकार स्वाभाविक है। हमारी मा सहज वस्तु है। हम देखते नहीं हैं, इसीसे, हम यह मान लेते हैं कि मा किसी ऐसे दूरधिगम्य देश में रहती है कि जहाँ हम पहुँच नहीं सकते। अरे, यह तो ऐसी पातान मा नहीं है कि चेष्टा करके उसका स्नेह आकर्षण करना होगा, यह तो सत्य हमारी मा है.! वह तो अपने स्नेह के प्रबल आकर्षण से ही हमारे पीछे-पीछे दौड़ो आती है। हम मा कहकर नहीं पुकारते, हम उसके अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, हम मा के वक्ष पर बैठे हुए हैं—और कहते हैं कि हमारी मा कहां है? इसीसे हमारी मा दुःख के मारे मरी जाती है। बड़े आदर के, बड़े स्नेह के पुत्र यदि मा की सदा अवज्ञा करें तो मा क्या कङ्कालिनी बने बिना रह सकती है? इसीसे हमारे निकट सदा अवज्ञा पाकर राज-राजेश्वरी—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर की भी जननी मा हमारे जीवत्व के मलिन छिन्न वस्त्र पहनकर, कल्पित अभाव के दारुण हाहाकार से दिशाओं को शोकायमान

करती हुई, हमें गोद में लिये बैठी हुई है। वह कङ्कालिनी भले ही है, तुम एक बार उसीकी ओर सत्य दृष्टि से देखो, 'हमारी मा तुम ये हो' ऐसा कहकर सचमुच मा को देखने का अभ्यास करो। समाधि के लिये विचार नहीं करना होगा, वह तो फिर अपने आप आ जायगी। तुम सदा आनन्द से पल्लवित रहोगे।

समाधि—उसी प्रकार स्वाभाविक आनन्द, स्वाभाविक मातृ-मिलन चाहती है। जिससे सर्वदा सर्वभाव से मातृयुक्त होकर रह सके, सर्वदा अखण्ड आनन्द के आस्वादन से मुग्ध रह सके, यही समाधि की आकांक्षा है; परन्तु परिजनवर्ग उसकी उस आकांक्षा-सिद्धि के विरोधी हैं, वे समाधि को परिच्छिन्न में मुग्ध रखना चाहते हैं; इसीसे, वह पुत्र भार्य्यादि द्वारा विताड़ित है।

सोऽहं न वेद्मि पुत्राणां कुशलाकुशलात्मिकाम्।
प्रवृत्तिं स्वजनानाञ्च दाराणाञ्चात्र संस्थितः॥ २०॥

अनुवाद—वह परमात्मा ही मैं हूं; परन्तु इस बात को इस मेधसाश्रम में रहकर, स्त्री पुत्र आदि स्वजन वर्ग की मङ्गला मङ्गल प्रवृत्ति कुछ भी नहीं जान सकता हूं।

व्याख्या—साधक मात्र की ही इस प्रकार की एक अवस्था आती है। जीव जब प्रथम समाधि का साक्षात् पाता है, तब समाधि अपना परिचय देते समय अपने को "सोऽहं" कहकर प्रसिद्ध करती है। "सोऽहं" ज्ञान का नाम ही समाधि है। "वह परमात्मा ही मैं हूं", इस प्रकार प्रज्ञा का नाम समाधि है। पुस्तक पढ़कर वा उपदेश सुनकर "सोऽहं" बोध का विकाश नहीं होता। यह मा हमारे स्नेह से आत्म-विस्मृत होकर, "मैं हो गई है, अनन्त महिममयी कोटि ब्रह्माण्ड की अधीश्वरी मा—ही, यह हमारे-रूप से विराजमान है, जिस मुहूर्त्त में इसका अनुभव होता है, उसी मुहूर्त्त में समाधि है। उस समय क्या अवस्था होती है, वह भाषा द्वारा किस प्रकार

प्रकाश (व्यक्त) करें। वह जो गूंगे का गुड़, स्वसंवेद्य मात्र है ; (गूंगा खाकर तो स्वाद जानता है पर वर्णन नहीं कर सकता है)। तथापि अभिलाषा की निवृत्ति के लिये माता के चरणों का स्मरण कर जो कुछ कह सकते हैं वह कहते हैं। तब क्या दशा होती है कि चक्षु फिर जगत् का रूप नहीं देखते, मा के रूपहीन रूपसागर में निमज्जित होते हैं। कान जगत् के शब्द नहीं सुन पाते, शब्द-रहित मा का आह्वान सुनकर मुग्ध होते हैं। रसना उस अखण्ड रस के चखने से जड़ हो जाती है। नासिका श्वास प्रश्वास लेने का अवसर नहीं पाती है, माता के अङ्ग के स्वर्गीय सौरभ से स्तब्ध हो जाती है। त्वचा माता के आलिङ्गन के मधुर स्नेहमय स्पर्श से न जाने क्या हो जाती है, उसे कह नहीं सकते। शरीर का प्रत्येक परमाणु जिस आनन्द रस से भीग जाता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कल्पना से महाकवि भवभूति की भाषा में कह सकते हैं कि— "निष्पीड़ितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः" चाँद को निचोड़ कर यदि कोई उस सुधाकर के अमृतमय स्नेह की वर्षा कर भीतर बाहिर दोनों ओर लेप कर दे, तो भी समझो कि उस सुखमय स्पर्श की तुलना नहीं हो सकती। और भी होता है कि हृदय-पिण्ड की क्रिया बन्द हो जाती है, दोनों नेत्र मुर्दे के नेत्रों की भांति ज्योतिहीन हो जाते हैं, अङ्ग प्रत्यङ्ग शिथिल वा काष्ठवत् हो जाता है। जगत् का भिन्न-भिन्न नाम रूप फिर कुछ नहीं रहता। अधिक क्या कहें, देहबोध अथवा जगद्बोध एकदम विलुप्त हो जाते हैं। केवल अनन्त आनन्दमय चित्समुद्र रह जाता है। पहले पहल "वह जो हमारा परमात्मा है, वही तो मैं हूं" इस प्रकार बोधप्रवाह चलता है। वही "सोऽहं" भाव की समाधि है। इस प्रकार की समाधि में कुछ दिन अभ्यास होने पर, फिर "वह, तू, मैं" कुछ भी नहीं रहता। तब क्या रहता है, वह कहा नहीं जा सकता, विचारा नहीं जा सकता, उस समय जो रहता है वही महती सत्ता, महान् चैतन्य और असीम आनन्द है, इसमें कोई

सन्देह नहीं है। नहीं—उसको महान् भी नहीं कहा जा सकता और अणु भी नहीं कहा जा सकता; कारण कि तब परिमाण का कोई बोध तो खिलता ही नहीं! फिर किस प्रकार कहा जाय कि अणु है वा महान्! परन्तु एक विशेषता है कि जो कहोगे, वही वहां देख सकोगे। यदि कहो (मान लो) कि अणु, तो तत्क्षणात् अणु है। यदि विचार करो कि महान् है, तो तुरन्त महान् स्वरूप प्रतीत होता है। ऐसा कोई सङ्कल्प नहीं है कि वहां अपूर्ण रह सके, तो भी समस्या की बात यह है कि वहां जाकर सङ्कल्पों का उदय होना बड़ा कठिन है; कारण कि सङ्कल्प करने वाला जो मन है उसका तो फिर पता भी नहीं लगता! यदि मा दया करके उस क्षेत्र में कुछ अधिक समय तक रहने देवे, तो दो एक महान् सङ्कल्प वहां भी उदय हो सकें। नहीं, वहां सङ्कल्प नहीं जागते; जहां सङ्कल्प उदय होते हैं, वहां ठीक वह स्थान नहीं है; वह स्थान उससे बहुत नीचे है। कैसा सुखमय, कैसा आनन्दमय धाम हमारी मा की गोद! हमारा यथार्थ स्वरूप है!

मा जब दया करके, जीव को "सोऽहं" ज्ञान पर पहुँचा देती है, जीव-ब्रह्म का एकत्व जब जीव समझ सकते हैं, तब ही धीरे-धीरे उसका जीवत्व बन्धन, कर्म्मसंस्कार, देहात्मबोध आदि छूटने आरम्भ हो जाते हैं। जबतक परिपक्व अवस्था उपस्थित नहीं होती है अर्थात् जबतक ज्ञान संशय रहित और विपर्य्यय-प्रतीति रहित नहीं होता है, तबतक संसार के संस्कारों का आधिपत्य दूर नहीं होता है, साधक जब "सोऽहं"-भाव में अवस्थान करता है, तब सब को भूल कर रह सकता है; किन्तु वह थोड़ी देर! फिर संस्कार उठने लगते हैं। फिर "प्रवृत्ति स्वजनानाञ्च" स्त्री पुत्रों की खबर पाने के लिये व्याकुल होता है। अथवा वह भी और एक अवस्था है, उसका अनुभव केवल साधक ही कर सकते हैं। जब साधक "सोऽहं" भाव से जाग्रत होकर तन्मय होना आरम्भ करते है, तब उस निरालम्ब महान् चित्

समुद्र में क्षुद्र जीवभाववाला अहं में निमग्न होते समय मानो कैसा भय पाता है। एक भयमिश्रित विस्मय और आनन्द में विभोर हो जाता है; कारण कि जीव बहुत काल से क्षुद्र वस्तुओं वा भावों की सहायता से मैत्व बोध को जगा रखने में अभ्यस्त है, उसके लिये सीमारहित तरङ्गरहित, चित्‌समुद्र में प्रवेश करते समय पहले पहल कैसा एक भय उत्पन्न करता है। मन में विचार करता है—कि यह क्या ? कहाँ आ पड़ा ! इन्द्रिय राज्य में, मन के क्षेत्र में परिच्छिन्न भाव से विचरण करके, अकस्मात् भावातीत स्वरूप के समीपस्थ होने पर, प्रथम तो ऐसा भाव आवेगा ही। फिर क्रम से माता की कृपा में पहुँचने का अभ्यास होने से, फिर भय नहीं रहता। तब उसे ही अपना गृह मानने लगता है। और इस संसार, देह, मन, बुद्धि इन्द्रिय आदि को विदेश समझने लगता है। अस्तु, उस विस्मय से विह्वल अवस्था में जीव फिर एक छोटे से बोध वा भाव का सन्धान करता रहता है; क्योंकि उसी में वह अभ्यस्त है। इसी से, स्त्री पुत्र देहादि गंभीर भाव से अङ्कित संस्कारों को आश्रय करके, फिर कुछ सन्तुष्ट होता है। तुम शिशु को कभी खूब जोर की पंखे की हवा देकर देखो—वह कैसा हुकुर पुकुर करता है। प्रबलवेग से प्रवाहित वायु में श्वास लेने की सामर्थ्य न रहने से उसको ऐसा कष्ट होतो है। इसकी भी बहुत कुछ उसीसे मिलती जुलती दशा समझो। इसीसे, समाधि वैश्य ध्यान धारणादि अपने स्वजनों का कुशलाकुशल समाचार जानने के लिये व्यग्र है। जिन योग के अङ्गों वा जगत् के छोटे-छोटे भावों के अवलम्बन से आत्मबोध को जाग्रत कर रक्खा है, साधक निरालम्ब सत्ता की ओर आगे बढ़कर, उन चिर-परिचित छोटे-छोटे आधारों को फिर ग्रहण करने का प्रयास पाता है। यही समाधि की उत्कण्ठा है।

आओ, अब हम सोऽहं-तत्व के समझने की कुछ चेष्टा करें। सदा स्मरण रक्खो—हमने जो कुछ समझा हैं, वह अपनी-अपनी

बुद्धि की सीमा में अवस्थित हैं। भगवत्तत्व किन्तु बुद्धि के बहुत बाहिर में अवस्थित (अतीत) है इस कारण उसको भले प्रकार कोई अबतक जान सका है—या जान सकेगा कि नहीं इसमें भी सन्देह है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के भी ध्यान में अगम्य मा, हमारी मनुष्य बुद्धिगम्या किस प्रकार होगी ? हमारे लिये तो मा का बिन्दुमात्र ज्ञान ही पर्याप्त होगा। चींटी को चीनी के पहाड़ का परिमाण जानने की आवश्यकता ही क्या है।

"सोऽहं" शब्द का अर्थ 'वह मैं'। यह मैं नहीं—वह मैं। मैं के तीन स्वरूप वा अवस्था हैं। एक जीव 'मैं', एक ईश्वर 'मैं' और तीसरा वह वा परम 'मैं'। "वही" मैं का परमभाव वा श्रेष्ठतम अवस्था है। वह वाक्य मन और बुद्धि के अतीत स्वरूप होने से जीव भाव के लिये बिल्कुल अप्रत्यक्ष है। इसी से, नामपुरुष वा सः शब्द का प्रयोग हुआ है। व्याकरण के अनुशासन के अनुसार भी अप्रत्यक्ष विषय में ही तत् शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस कारण 'सः' शब्द से परमात्मा को ही समझा जाता है। मैं और आत्मा एक ही बात है। जीवात्मा और परमात्मा वास्तव में दो अलग-अलग पदार्थ नहीं हैं। आत्मा के जिस कल्पित अंश से जीवभाव विकसित होता है, उसीका नाम जीवात्मा है और जिस अंश में किसी भाव का विकाश नहीं है, वही परमात्मा है। आत्मा का यह परम-भाव क्या है, उसे थोड़ा सा समझने की चेष्टा करो। जिस भाव से आत्मा मात्र सत्चित् और आनन्दरूप से प्रकाशित होता है, अथवा जहां असत् अचित् और निरानन्द कभी किसी को अनुभव ही नहीं होता, वही परमभाव है। उसको भाषा में लाकर डाल दिया है, भाव, अवस्था, स्वरूप आदि शब्द उसमें प्रयोग करते हैं। विचार करने से तो ये शब्द भी उसमें प्रयोग करने के योग्य नहीं हैं; कारण कि भाव अवस्था स्वरूप आदि परिच्छिन्न पदार्थों ही में रहते हैं। स्थूल रीति से समझ लीजिये कि हमारी ऐसी एक अवस्था

है कि जहां असत् बोलकर कुछ खोजने पर भी नहीं पाया जाता, अचित् वा जड़ वहां कुछ कहने को है ही नहीं, निरानन्द का लेश मात्र भी वहां अनुभव नहीं किया जाता। किसी प्रकार परिच्छिन्नता नहीं है, रूप रसादि विषय नहीं है; इस कारण भाव और अभाव दोनों ही वहां प्रतीति के योग्य नहीं हैं—वह ऐसी ही एक अवस्था है। तुम सदा जो चैतन्य-सत्ता के द्वारा चलते हो, यदि एक बार देह मन इन्द्रियादि भूलकर वह चैतन्य-सत्तामात्र अपने बोध के समीप स्थिर कर रख सको, तो इस परमात्मा भाव का आभास पाओगे। परन्तु वहां मैं, तुम, वह आदि बोध नहीं है। उसको विज्ञाता अथवा द्रष्टा भी नहीं कहा जाता; कारण कि उस अवस्था में ज्ञेय और दृश्य का पूर्ण अभाव रहता है। इस अवस्था का नाम परमात्मा वा हमारा परम-भाव है।

अब हम "अहं" वस्तु को समझने की चेष्टा करें। चण्डी के प्रारम्भ में, देवी सूक्त की व्याख्या में इस अहं का स्वरूप वर्णित हुआ है। इस स्थान में हम उसी बात को फिर दूसरी तरह से समझाने की चेष्टा करेंगे। जिस प्रकार एक बार भोजन कर लेने से जीवनभर की क्षुधा-निवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार, अतिगहन आत्मतत्व केवल एक बार आलोचना करने से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता; बारम्बार इसकी आलोचना और अनुशीलन किया जाता है। इसी कारण हम एक ही बात की बारम्बार आलोचना करने को बाध्य हुए हैं। अस्तु, हमारा जो परम-भाव है उसके एक अंश में स्वभावतः लीला-कैवल्यवश एक 'अहं बोध' खिलने लगता है। (कैसे और किस प्रकार खिलता है यह प्रश्न न कीजिये, समझने की चेष्टा कीजिये)। अहं बोध फूट निकलने के पूर्व पर्य्यन्त जो स्वरूप वह अवाङ्मनसोगोचर होता है, अहंबोध जागृत होने पर, तुरन्त अघटन-घटन-पटीयसी महामाया प्रगट होती है। उस प्रथम अहं बोध के प्रकाश से आरम्भ करके इस पञ्चभूत और भौतिक पदार्थ

पर्यन्त विराट् ब्रह्माण्डरूप से ही महामाया का प्रकाश होता है। यह महामाया ही जब तक स्थिर अर्थात् क्रियाशक्तिरहित थी, तबतक परमात्मा ब्रह्म निरञ्जन आदि शब्दों से प्रसिद्ध होता था। जब शक्ति का विकाश आरम्भ हुआ, तब उसका नाम महामाया हुआ। पहले जो अहं बोध खिलने लगा था वह मैं महान् और एक है। दूसरा कुछ मैं उस समय नहीं था। उस एक मैं की इच्छा होता है कि वह बहुभाव से प्रकट होगा, बहुत्व का खेल खेलेगा। आनन्द ही उसका स्वरूप है, इसीसे, इस बहुत्व-लीला के भीतर भी अखण्ड आनन्द अखण्डितभाव से स्थित है। जहाँ इस बहुत्व की इच्छा खिलती है, वह मन है। मन के बिना संकल्प हो नहीं सकता। यह मनोमयी मा पूर्व-पूर्व कल्प की सृष्टि के बीज अब तक गुप्त रीति से अपने गर्भ रूप से धारण किये हुए थी, अब फिर उनको प्रसव किया है। इस बहुत्वसृष्टि के निमित्त और उपादान दोनों ही कारण वह–मा, है वही–मैं है। उसने इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डाकार से आत्मप्रकाश किया है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, स्थल, सूर्य्य, चन्द्र, अणु, जीवाणु, परमाणु, कीट, पतङ्ग, पक्षी, पशु, मानव, देवता, और भी कितने क्या हुए हैं। दिक्, काल, कर्म्म, धर्म्म, अधर्म्म, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि रिपु, अर्थात् सब ही हुए हैं। सब होने से फिर शव पर्य्यन्त होना पड़ा। चैतन्य ही उसका स्वरूप है; तथापि आनन्द की प्रेरणा से, स्नेह के उछ्वास से उसको जड़ पर्य्यन्त होना पड़ा। वह आप ही मैं है; इसी से, उसके कल्पित अणु परमाणु पर्य्यन्त मैं-ज्ञान में जागृत होओ। वह समुद्रवत् अवस्थित मैं है, और जीव जगत् उसका तरङ्गवत् मैं है।

मान लो कि एक लालटेन है, वह सात रंग के सात कांचों द्वारा बनी हुई है। बीच में एक दीपक वा बत्ती जलती है। सात कांचों के भीतर से वह एक ही प्रकाश सात प्रकार से प्रकाशित होता है। प्रत्येक जीव में जो एक 'मैं' बोध है, वह भी ठीक उसी

प्रकार है। वास्तव में वह एक मैं होने पर भी, इन अनेक जीवों के भीतर से अनेक मैं-रूप से प्रकाश पाता है। अधिक धीरभाव से चलो, समझने की चेष्टा करो। अच्छा यह जो बहुत "मैं" है (परन्तु मूल में बहुत मैं नहीं है, अनेक भाव से प्रकाशित एक मैं है) उसका नाम व्यष्टि मैं वा जीव रख लीजिये, और वह जो एक मैं है, उसका नाम ईश्वर है। ईश्वर क्यों कहा? बहुत्व की सृष्टि और उसका धारण, उस 'मैं' में ही होता है; फिर जब वह इच्छा करे कि अब मैं बहुभाव से प्रकाशित न होऊँ, तब ही सृष्टि टूट जायगी—प्रलय हो जायगा। इस कारण वह सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्ता ईश्वर है। इस अंश को अर्थात् ईश्वर को पूर्व कहे हुए परमात्म-स्वरूप की ही शक्तिरूप का विकास कहा जाता है। उसी परम अंश का नाम शक्तिमान् और अहं बोध से आरम्भ करके अनेक भाव में प्रकाश है, उसके धारण और प्रलयादि कार्य्य अंश का नाम शक्ति है यह शक्ति और शक्तिमान् वास्तव में अभिन्न पदार्थ हैं। सूर्य्य की प्रकाश शक्ति, अग्नि की दाहिकाशक्ति जिस प्रकार मुख से केवल कही जाती है, उक्त रूप से भेद कभी अनुभव योग्य नहीं है, उसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान् का भेद केवल मौखिक विचार से प्रयोग करने योग्य है। जिस प्रकार राहु का शिर कहने से, राहु और शिर अभिन्न भाव से प्रतीत होते है, उसी प्रकार परमात्मा और शक्ति अभिन्नभाव से प्रतीत योग्य हैं।

अस्तु, अब समझ में आया कि "मैं" के तीन स्वरूप हैं। एक जीव "मैं" एक ईश्वर "मैं" और तीसरा परम "मैं" इस परम "मैं" का नाम "सः" है क्योंकि वह अप्रत्यक्ष है। और जीव 'मैं' का नाम हुआ "अहं"। सः और अहं, जब ये दोनों मिल जाते हैं, तब ही जीव ब्रह्मरूप में प्रकाशित होता है। इस मिलन का द्वार समाधि है, समाधि ही "अहं" को "सः" कर देती है, इसीसे समाधि ने अपने को "सोऽहं" कह कर परिचित किया है।

इसी तरह हम किसी प्रकार "सोऽहं" की बात समझ लेवें; परन्तु उसमें भी बहुत कुछ जानने योग्य और है। देखो "मैं जीव हूँ" यह बात जो समझी गई, उसमें तो वास्तविक कुछ भी नहीं है; कारण कि लालटेन का दृष्टान्त समझ सके हो—"मैं" एक जन मात्र हूँ। "मैं" यदि कहता हूँ, तो ईश्वर को ही कहा जा सकता है। देहात्मबोध—विशिष्ट जीव का पृथक् मैंत्व-अज्ञान मात्र है। कार्यतः वही है। सः के साथ जो अहं का मिलन है, वही परम के साथ ईश्वर का मिलन कहने से ठीक कहा जाता है। मिलन कहने से यह न समझना कि दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ एकत्र हुई हैं। जीव-भाव से प्रकाशित अज्ञान से उत्पन्न मैं, ईश्वरभाव से प्रकाशित यथार्थ मैं का पता पाने से ही, जीव और ईश्वर का मिलाप संघटित होता है। फिर ईश्वर भाव में प्रकाशित 'मैं', परम भाव में उपनीत होने पर ही परम पुरुषार्थ वा कैवल्य प्राप्त होता है। जीव को परम-भाव में प्रकाशित होने पर, मध्यवर्त्तिस्वरूप जो ईश्वर "मैं" है, उसको अतिक्रम करके, हो नहीं सकता। जीव को प्रथम ईश्वर होना होगा, ईश्वर परमभाव में उपनीत होगा, यही मुक्ति; यही मूलतत्व है।

इस कारण अब यह समझा गया कि जीव का साध्य ईश्वर है, परमभाव साध्य नहीं है। वह साध्य साधनादि सब प्रकार की अवस्थाओं से अतीत है; इस कारण उपासना, साधना इत्यादि जो कुछ है वह मध्यवर्ती अवस्था में सिद्ध होता है। जीव यदि किसी प्रकार ईश्वरस्वरूप विशिष्ट हो सके, तो वास्तव में "मैं" स्वरूप वस्तु का सन्धान पा लेता है। जीव भाव से जो मैं प्रकाशित होता है, वह परछाईं मात्र है। इसीसे, यह चण्डी में आगे कहा जायगा—"या देवी सर्वभूतेषु छाया रूपेण संस्थिता"। यथार्थ—'मैं'—सृष्टि; स्थिति, प्रलय कर्ता सर्वज्ञ सर्व्वेश्वर अनन्त करुणासिन्धु स्नेहमय निग्रहानुग्रह समर्थ और एकान्त आश्रय है—यही अक्षर पुरुष है।।

और जीव क्षर पुरुष है ; कारण कि कांच के भीतर से छिपा हुआ प्रकाशरूप अहं यदि हट जाय तो वह परछाईं रूप जीव रह नहीं सकता। इसी से, पूर्व कहा है—मैं ही एकमात्र मा हूँ। हमारी मा मैं—स्वरूपा मैं मयी है। इसी से उसके सर्वाङ्ग में मैं खिल रहा हैं; प्रत्येक परमाणु में 'मैं' 'मैं' शब्द कर विकसित होता है। जिस विराट् महान् मैं—समुद्र से ये असंख्य छोटे-छाटे बुलबुले फूट निकलते हैं, उस मैं का सन्धान करने का नाम ही साधना है। उस मैं की रुचि का नाम भक्ति वा प्रेम है। उस मैं को जानने का नाम ज्ञान है। जब तक साधना इस तत्वमय न हो आत्मानुसन्धान युक्त न हो तब तक ही साधना नीरस भाव में मृदुपद से अग्रसर होती रहती है। कुछ आत्म संवेदन में है। "पूजाध्यानजपादीनि नामसंकीर्तनानिच। अहं–देव वियुक्तानि विकलान्याह ब्रह्मवित्" ॥ पूजा ध्यान जप नाम कीर्तन आदि तबतक अपूर्ण फलदायक रहते हैं, जबतक अहं देवयुक्त न हो। अहं ही साध्य है, अहं ही पूज्य है, अहं ही उपास्य है। जब तक इस मैं को छोड़ कर साधक लोग अग्रसर होते हैं, तबतक भी मेरी ही पूजा करते हैं ; परन्तु अविधिपूर्वक ; इसी से गीता में भगवान् ने कहा है—"येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपिमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरे व च" ॥ इत्यादि।

सुनिये,—यह मैं ही ईश्वर हूँ, सर्व यज्ञों का एक मात्र भोक्ता एवं प्रभु हूँ। जो कोई कुछ कर्म्म करता है—मैं ही उसका भोग करता हूँ। जीव! जब तक तुम मुझको न जानोगे, मेरा आदर न करोगे, तबतक जन्ममृत्यु दुःख यातना की चक्की में पिसते रहोगे। ("चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय। दो पट भीतर आयके साबित बचा न कोय" ॥) मैं सब जीवों के हृदय में प्राणरूप से अवस्थित हूँ। मुझको न पहचानता हो, मनुष्यों में ऐसा दुराचारी कोई नहीं है। इसी से दुराचारी व्यक्ति भी मेरा भजन कर सकते

हैं। यह मैं ही वैष्णवों का राधाकृष्ण, शैवों का शिव, शाक्तों की शक्ति; गाणपत्यों का गणेश और सौर लोगों का सूर्य्य हूँ। यह मैं ही साकार से विश्वरूप और विशेष विशेष भक्तों के लिये विशिष्ट रूप से आविर्भूत होता हूँ। यह मैं ही रूपातीत निरञ्जन है। जब तक जीव "जीवोऽहं" बोध में अवस्थान करके "ईश्वरोऽहं" को पृथक् भाव से उपासना करते हैं, तब तक वह मुझ को नहीं पावेंगे—पाने का उपाय नहीं है। सदा स्मरण रक्खो "मैं" जीव नहीं है। यह जो "जीवोऽहं" कह कर अभिमान से फूल रहे हो, उसमें "अहं" होता है "मैं—मा, वह कभी जीव को परित्याग करके अवस्थान नहीं करता। अरे, जन्म-जन्मान्तर से मैं—मा ज्ञानासार से हृदय में रहकर और अज्ञानसार से सर्वरूप में रहकर, तुम्हारा पोषण करता हूं, आदर करता हूं, स्नेहाञ्चल के आश्रय से परिवर्द्धन करता (बढ़ाता) हूं। अबतक नहीं समझ सके तो कोई क्षति नहीं है; अब मनुष्य हुए हो, अब भी मुझ को "मा" को न पहचानोगे? बड़े दुःख पूर्वक मैंने कहा है—"अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितं"। (गीता ९।११) मनुष्यो! तुम मेरी बड़ी अवज्ञा करते हो। जितनी अवज्ञा करते हो, उतना ही म अपने को गुप्त करती हूँ, लज्जा से मुख ढककर चुपचाप आंसू बहाकर, पुत्र कहकर तुम्हारे पीछे-पीछे फिरती हूँ, केवल इसी अपेक्षा (राह) में हूँ कि कब तुम मेरा आदर करोगे—कब तुम मुझे मा कहकर पुकारोगे! तुम दिन रात "मेरा मेरा" कहते रहते हो—अभिमान रूपिणी मेरे ही मान में अभिमान करते फिरते हो। 'ह-मा'रा+ह-मारा (आ-मा'र) कहकर तो कभी एक वार मेरी ओर देखते भी नहीं। पुत्र! कब तक शिशु रहोगे? मुझ से मा कहो, मुझ को पाओगे।

"अहं" तत्व समझाने के लिये हमने अनेक गुप्त कथाओं की आलोचना कर डाली है; इस से क्षोभ नहीं है, यदि दो चार साधक भी मेरी साधना कर सकें, तो इस गोपनीय विषय प्रकाश का क्षोभ

दूर हो जायगा। यह भी समझ लीजिये कि मेरी धारणा न कर सकने से "सोऽहं" होने का उपाय नहीं है; "सोऽहं" न हो सकने से जन्म मृत्यु के हाथ से छूटने का कोई उपाय नहीं है। हम जीव भाव से जो "मैं-मैं" करते हैं, वह किन्तु वास्तविक "मैं" नहीं है। "मैं"—एक है; दूसरा नहीं है। सब जीवों के भीतर एक ही मैं की प्रतिध्वनि होती है। भिन्न-भिन्न आधार पर भिन्न-भिन्न भाव से प्रतिध्वनि होकर, एक ही मैं देव मनुष्य तिर्यक् इत्यादि आकार में प्रकाश पाता है। उसका वह "एकोऽहं" है उसी की शरण हो—"सर्व धर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"। सर्व्व रूपों में जो मैं का प्रतिबिम्ब देखते हो, उसको परित्याग कर, सब के भीतर जो अनुस्यूत है, उस मैं का आश्रय ग्रहण करो। "अहं त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्ष-यिष्यामि मा शुचः"। (गीता १८।६६) "मैं तुमको सर्वरूप पाप अर्थात् सङ्कीर्णता से मुक्त कर दूंगा—शान्तिमय उदार मुक्तिक्षेत्र में—सोऽहं राज्य में उपनीत करूँगा; (पहुँचा दूंगा) हे वत्स! तुम दुःखित मत हो! गीता की यह चरम और परम वाणी जिनके प्राण में भली भांति अनुभव को प्राप्त हुई है—वे सचमुच इस भाव से मुझको (मा को) गुरु रूप से पाकर, मेरे चरणों में आत्मसमर्पण के लिये यथा शक्ति पुरुषार्थ प्रयोग करते हैं, केवल उन्हीं के लिये यह चण्डी है। केवल पाठ करने के लिये, केवल दो-चार अच्छी बातें सीखने के लिये गीता वा चण्डीतत्व आलोचना करना केवल बच्चों का सा खेल है।

किन्तु तेषां गृहे क्षेममक्षेमं किन्तु साम्प्रतम्।
कथं ते किन्तुसद्वृत्ताः दुर्व्वृत्ताः किन्तु मे सुताः ॥२१॥

अनुवाद—अब उनके घर पर न जाने मङ्गल है वा अमङ्गल? मेरे वह पुत्रादि स्वजनवर्ग न जाने सदाचारी होंगे वा असदाचारी? (उसे जानने को उत्कण्ठित हूँ)।

व्याख्या—ध्यान धारणादि का घर मन है। न जाने क्षेमङ्करी के श्री पादपद्म-संस्पर्श से क्षेम विराजमान है, अथवा अब भी विषय वासना जनित अक्षेम—अमङ्गल पूर्णभाव से आधिपत्य करते हैं? क्षेम वा मंगल एक मात्र मा है। जो सब भूतों में मैं रूप से विराजिता है, उस मा को पाकर, मन कैसा धन्य हुआ है? मन किस प्रकार मा को पावेगा? आत्मा की वा हमारी जो चञ्चलतामय संस्कारात्मक अवस्था है, वही मन है। जब प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक भाव में, मातृ-दर्शन के फल से सत्य-प्रतिष्ठा प्रकृतिगत हो जाय, सर्वभाव से मातृसत्ता ही प्रकटित हो, तब ही समझ लीजिये कि मनोमय क्षेत्र में क्षेमङ्करी का चरण स्पर्श हुआ है। फिर जब तक वह नहीं होती है तबतक परिच्छिन्न विषय वासना मन की स्वाभाविक चञ्चलता को और भी अधिक चञ्चल कर डालती है। जब तक कामना की अग्नि से जल-जल कर मन अत्यन्त सन्तप्त होता रहता है, तब तक मन में अक्षेम ही विराजमान रहता है। उन दोनों में से कौन मन के ऊपर आधिपत्य करता है, उसे जानने के लिये समाधि की यह उत्कण्ठा है। वह जो इस समय मनोराज्य से हटाया हुआ है, बुद्धिमय क्षेत्र में उपस्थित है; इसी से मन के साथ पतन के कारण मन की वर्तमान अवस्था जानी नहीं जा सकती है, तो भी मन के प्रति वह जो पूर्व्व सञ्चित आसक्ति है; उसे भी परित्याग नहीं कर सकते हैं

यहाँ पर यह भी जानना आवश्यक है कि यम नियमादि योग के अङ्ग जबतक पूर्णभाव से मातृ-प्राप्ति के उद्देश्य से भली भांति अनुष्ठित न होकर केवल शारीरिक स्वास्थ्य, चित्त स्थिर अथवा विशिष्ट किसी शक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य से अनुष्ठित होते हैं, उतने दिन भी मनोमय क्षेत्र में अक्षेम ही विराजमान रहता है। उसके सिवाय पुत्रगण अर्थात् ध्यानादि योगाङ्ग, इस समय सदाचरणशील हैं वा असदाचरणशील हैं? यह भी समाधि की उत्कण्ठा का कारण है।

सत् एक मात्र आत्मा—मा है। उसमें वर्त्तमान रहने का नाम सदाचार और मातृभावरहित केवल विषय भाव में विचरण करनेका नाम असदाचार है! योग के अङ्ग आत्मप्राप्ति के उद्देश्य से अनुष्ठित हैं अथवा केवल चित्त स्थिर के उद्देश्य से वा विषयमात्र से विमुग्ध हैं, यही संशय है। समाधि का ऐसा संशय प्रथम अवस्था में अत्यन्त स्वाभाविक है।

राजोवाच।

यैर्निरस्तो भवाल्लुँब्धैः पुत्रदारादिभिर्धनैः।
तेषु किं भवतः स्नेहमनुबध्नाति मानसम्॥ २२॥

अनुवाद—(समाधि की इस प्रकार व्याकुल दशा देख कर) राजा सुरथ ने पूछा कि जिन विषयलोलुप पुत्रदारादि द्वारा तुम्हारा निरादर किया जा चुका है, उन्हीं के लिये तुम्हारा चित्त इतना स्नेहानुरक्त है! (कैसे आश्चर्य की बात है!)

व्याख्या—यद्यपि सदा परिच्छिन्नत्व से मुग्ध ध्यान धारणादि के व्यवहार से पीड़ित होकर, समाधि असत्संग-त्यागने की इच्छा से, उनको त्याग कर मेधसाश्रम में उपस्थित हुआ है, तथापि उनके प्रति चित्त का अनुरागभाव परित्याग नहीं कर सका है। बहुत दिन साथ रहने का ही यह फल है। समाधि का धर्म्म-आत्मानुसन्धान है, मन का धर्म्म—चञ्चलता—विषयों का तलाश करना है। इस प्रकार आपस के विरोध के कारण, बलवान् मन द्वारा प्रथम ही प्रथम समाधि को पराजित होना पड़ता है, तथापि उस मन पर पूर्व अनुराग परित्याग नहीं किया जा सकता; कारण कि वह चञ्चलता, और परिच्छन्नता की ही सहायता से ही तो आत्मबोध जागृत हुआ है। जो हमारे मैंत्व को जागृत रखने के प्रधान सहायक हैं, उनको साधन में विघ्न जान कर भी, अत्यन्त निर्दय की भाँति उन पर स्नेह रहित

होना प्रथम अवस्था में समाधि के लिये बड़ा कठिन काम है। पूर्णरूप से मातृभाव में विभोर हुए बिना, देहात्मबोध पूर्ण शिथिल हुए बिना, वह सम्भव नहीं है। इन्द्रियादि का धर्म्म परित्याग करने पर भी जब जीव मैंत्व को (अपनपे को) जागृत रखने में समर्थ होता है, तब ही वह माया परित्याग करने में समर्थ होता है। नहीं तो क्या साधना के अङ्ग, क्या योग के अङ्ग, क्या इन्द्रिय धर्म्म, कुछ भी परित्याग नहीं किया जाता। यह आगे और भी स्पष्ट होगा।

वैश्य उवाच।

एवमेतद् यथा प्राह भवानस्मद्गतं वचः।
किं करोमि न बध्नाति मम निष्ठुरतां मनः॥ २३॥

अनुवाद—वैश्य ने कहा आप मेरे विषय में जो कहते हैं, वह अवश्य ऐसा ही है (अर्थात् जिनके द्वारा मैं निकाला हुआ हूँ, उन ही के मङ्गलामङ्गल के लिये, मेरा चित्त व्याकुल है, यह ठीक ही कहते हैं) परन्तु क्या करूं! मेरा मन किसी पर निष्ठुर हो नहीं सकता।

व्याख्या—योगाङ्गो ने विषयासक्त होकर समाधि को ताड़ना करके, निष्ठुरता का परिचय दिया था, परन्तु समाधि तो वैसी निठुर कभी नहीं हो सकती। कारण कि समाधि सत्वगुण से उत्पन्न है; इस कारण दया ही उसका स्वभाव है। दूसरों के द्वारा हज़ार पीड़ायें होने पर भी उनके ऊपर द्वेष बढ़ाना और मन में काह रखना समाधि के लिये असम्भव है। समाधि का ही दूसरा नाम प्रेम है। विश्वव्यापी प्रेममय आत्मदर्शन जिसका उद्देश्य है, उसके लिये प्रेम-हीनता बिल्कुल असम्भव है।

यैः सन्त्यज्य पितृस्नेहं धनलुब्धैर्निराकृतः ।
पतिः स्वजनहार्दश्च हार्दितेष्वेव मे मनः ॥ २४ ॥

अनुवाद—जिन धनलुब्ध पुत्र पत्नी आदि स्वजनों ने पितृ-स्नेह, पति प्रेम और स्वजनप्रीति परित्याग कर मुझे ताड़ना किया है, मेरा मन उन पर अत्यन्त अनुरक्त है।

व्याख्या—ध्यान के पितृस्थानीय, धारणा के पतिस्थानीय और यम नियमादि के स्वजनस्थानीय समाधि पर जो स्वाभाविक प्रीति उनकी थी, वह उन्होंने बिलकुल त्याग दी है ! उन्होंने समाधि को सदा के लिये क्षुद्रत्व में मुग्ध रखने का उद्योग किया था ; परन्तु उसने आत्मसन्धान में अग्रसर होकर उनका स्वाभाविक आकर्षण परित्याग कर दिया है। अब कुछ-कुछ करके प्रज्ञा का पता पाने पर भी, उन पर आसक्ति का मूलोत्पाटन नहीं हुआ है। इस प्रकार विरुद्ध-भाव द्वारा व्याकुल होना, मलिन भावापन्न, अल्पक्षणस्थायी समाधि के पक्ष में अत्यन्त स्वाभाविक है ; क्योंकि अब भी वह बुद्धिमय क्षेत्र में अवस्थित है ; ब्रह्मक्षेत्र में अब भी भलीभांति प्रवेश करने में समर्थ नहीं हुआ है। यद्यपि कभी क्षणभर के लिये परमात्मा के समीप प्राप्ति करता भी है, तथापि फिर तत्क्षणात् मनोमय क्षेत्र में अवतरण करने को विवश है ; इस कारण पूर्वोक्तरूप चित्त-चाञ्चल्य वैश्यसमाधि के लिये बिल्कुल स्वाभाविक है।

किमेतन्नाभिजानामि जानन्नपि महामते ।
यत्प्रेमप्रवणं चित्तं विगुणेष्वपि बन्धुषु ॥
तेषां कृते मे निःश्वासा दौर्म्मनस्यं च जायते ।
करोमि किं यन्न मनस्तेष्वप्रीतिषु निष्ठुरम् ॥ २५ ॥

अनुवाद—हे महामते सुरथ ! विरुद्धगुण सम्पन्न स्वजनों पर हमारा चित्त अत्यन्त आसक्त है, उसे जान बूझ कर भी मैं इसका

कारण स्थिर नहीं कर सकता हूँ; उनके लिये ही हमारा यह दीर्घ निःश्वास और मन की उदासीनता उपस्थित हुई है। अनुरागहीन स्वजनों पर मेरा मन बिल्कुल निष्ठुर नहीं हो सकता है।

व्याख्या—पूर्व कहा गया है कि—प्रजा और मन्त्रिवर्ग के अत्याचार से राज्यभ्रष्ट महाराज सुरथ बन में आकर भी त्यागे हुए राज्य, मन्त्री, प्रजा, सेवक और कोषादि के लिये अत्यन्त चिन्ता करने लगा था। समाधि को अवस्था भी इसी प्रकार है। वह विषय लुब्ध स्त्री पुत्रों द्वारा निकाला हुआ है; तो भी उनके मङ्गलामङ्गल की चिन्ता से व्याकुल है; दोनों ही की समान अवस्था है; इस कारण एक का दूसरे पर स्नेहानुराग स्वाभाविक है। इसी से वैश्य ने अपने चित्त की दुर्बलता का विषय कुछ भी गुप्त न रखकर, सरल प्राण से असङ्कोच से सुरथ के निकट प्रकाश किया।

जीवात्मा के साथ बुद्धिमय क्षेत्र में जब समाधि को प्रथम साक्षात्कार प्राप्त होता है, तब उसको इस प्रकार मलिनभावापन्न ही देखा जाता है; कारण कि बुद्धिमय क्षेत्र में पूर्ण निर्म्मलता प्रगट नहीं होती, केवल प्रज्ञा में प्रवेश कर सकने से सब प्रकार के भावों की चञ्चलता के हाथ से छुटकारा होता है। बुद्धि—जगत्मुखी निश्चयात्मिका वृत्ति विशेष है। यद्यपि इन्द्रिय मन आदि से बुद्धि अपेक्षाकृत स्वच्छ और स्थिर उदासीनवत् अवस्थित है; तथापि उसके सम्मुख मन से प्रेरित होकर प्रतिक्षण में संस्कार राशि एक-एक के बाद एक लाकर उपस्थित होती है, इसी से बुद्धि की भी चञ्चलता प्रतीत होती है। तेज़ चलने वाली गाड़ी पर बैठे हुए मनुष्य को जिस प्रकार दोनों ओर के निश्चल भू-भाग चलता हुआ जान पड़ता है, वह भी ठीक उसी प्रकार है। सदा चञ्चल मन, एक के बाद एक संस्कार उपस्थित करके, बुद्धि-ज्योति से प्रकाशित कर लेता है; इसीसे अति चञ्चल मन के साथ सदा सम्बन्ध होने के कारण निश्चल बुद्धि भी चञ्चलवत् प्रतीत होती है। अनेक जन्म सञ्चित संसार-संस्कारों को

त्याग कर जीव जब बुद्धिमय-क्षेत्र में चिदाभास की निर्म्मल ज्योति से अपने को भूल जाता है, और किञ्चित् समाधि का आभास पाता है, तब जो अननुभूतपूर्व आनन्दरस का आस्वाद पाता है; यद्यपि उस में अधिक समय तक स्थिर रहने की सामर्थ्य न रहते से, पुनः चित्त क्षेत्र में उतर पड़ता है; तथापि उसी आस्वाद की स्मृतिमात्र के आधार से संस्कारों को जड़ से मिटा देने को तैयार होता है, परन्तु कार्य्यतः उसे कर नहीं सकता। तब अपनी दुर्बलता देखकर अत्यन्त हताश हो जाता है, बड़े गहरे और गर्म उसास लेकर अपना मर्म्मदाह और भी दूना कर डालता है। हाय! मुझ जैसे दुर्व्बलचित्त जीवों के लिये, माता की प्राप्ति सुदूर-पराहेत है—यह समझ कर साधक अत्यन्त उदास मन हो जाते हैं। पक्षान्तर में, ऐसा क्यों होता है, उसका कारण निर्णय नहीं कर सकते इस कारण अधिकतर दुर्व्वल हो जाते हैं।

जगत् में मनुष्य जब किसी भीषण दुःख के चक्र से पीड़ित होते हैं, तब यदि उसका कारण समझ सकें, तो उस दुःख की मात्रा कुछ-न-कुछ कम हो जाती है; परन्तु "कारण नहीं जानते, तो भी पीड़ित होते हैं", यह मनुष्य के लिये अत्यन्त असहनीय है। जानते हैं कि—कामिनी-काञ्चन, विषय-वासना, अथवा यम, नियम, आसन आदि साधनों के उपाय हमें मा को लाकर न देंगे; जानते हैं कि—वे परिच्छिन्नता में मुग्ध हैं; जानते हैं कि वे हमारी हितैषी नहीं हैं; जानते हैं—वे चाहते हैं सीमाबद्ध इन्द्रियभोग्य सुख, हम चाहते हैं—असीम-अपरिच्छिन्न उदार मातृवक्ष, मन, बुद्धि के अतीत अतीन्द्रिय आत्मसत्ता; तो भी देखते हैं कि मन, अति उच्च आशा और उसके अनुयायी उद्यम को देख कर, ध्यान धारणा आदि योगाङ्ग अथवा कर्म्मकाण्ड की सहायता से हम को क्षुद्रत्व में मोहित कर रखने को उद्यत है। हम प्रतिक्षण मन की उत्तेजना से इतने पीड़ित और कलङ्कित होते हैं कि अपना अमूल्य जीवन, अपने अनेक

जन्म सञ्चित असहनीय यन्त्रणाओं से प्राप्त ज्ञान, उत्साह, उद्यम आदि सब व्यर्थ ही खर्च कर डालते हैं। सीमाबद्ध होना (परिच्छिन्नता) ही मुक्तिमार्ग का अत्यन्त विघ्न है, उसे समझ सकने पर भी क्यों हम उस में इतने अनुरक्त हैं। इसका कारण निर्णय नहीं कर सकता है; इसी से उन पर कोई निष्ठुरभाव भी पुष्ट नहीं कर सकते हैं। जो वास्तव में त्यागने योग्य वस्तु हैं उन्हें ही किसी अज्ञात कारण से ग्रहण करने योग्य समझ कर संग्रह करता है। हाय दुर्भाग्य! ऐसी चिन्ता, ऐसी दुर्म्मनायमानता ने मानो समाधि को अत्यन्त मलिन कर रक्खा है।

थोड़ा-थोड़ा करके जब समाधि का आभास आता रहता है, तब साधक के लिये संसार-संस्कार, विषयों की क्षुद्रता और उपासना के उपायों पर जो पूर्वसंचित आसक्ति है, वह अत्यन्त मर्म्म-पीड़ादायक होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु साधक! याद रक्खो— यही तुम्हारा शुभ मुहूर्त्त है। अनेक जन्म-सञ्चित सुकृति के फल से आज तुम समाधि का साक्षात् पाकर, जीवत्व को असहनीय पीड़ा-दायक जंजीर मानते हो। याद रक्खो कि तुम मुक्ति मन्दिर के द्वार पर पहुँच गये हो। याद रक्खो—तुम्हारे ही लिये मा की कंचुकी शिथिल हो गई है, पुत्र-स्नेह की व्याकुलता से स्थूल स्तनों से दूध की धारायें उठ रही हैं, बहुत दिन से सन्तान को गोदी में धारण कर मन माना दुलार (आदर) नहीं कर सकी है, इस कारण आज उन्मादिनी के वेश में बड़ी तेजी से सत्यलोक से नीचे उतर रही है। साधको! समझ लो कि तुम्हारे लिये मा को कितनी व्याकुलता है! तुम इतने दिनों से मा को नहीं चाहते थे, विषय चाहते थे—रूप, रस, शब्द, स्पर्श चाहते थे; इसी से मा हमारे विषयों के आकार में उपस्थित होती थी। अपना स्वरूप बड़ी कठोरता से छिपाकर, विषय के आकार में, तुम्हारी इन्द्रियों को कृतार्थ किया था। कामिनी-काञ्चन के आकार में मा ने जीवन में कितनी तुम्हारी

उद्दाम लालसाओं को शान्त किया था। तुम पुत्र हो! तुम चाहते थे, तब मा को विचार का अवसर भी नहीं था, भले बुरे विचार विमूढ़ा मा, अपने पुत्र स्नेह से अन्धी मा, तुम्हारी उस प्रार्थना के अनुरूप काम-काञ्चन के आकार में, रूप रसादि विषय के आकार में, देह, मन, बुद्धि के आकार में तुम्हारे निकट उपस्थित होती थी। अरे! इस स्नेह की बात मन में विचारने पर भी मर्म्म के टुकड़े टुकड़े हुए जाते हैं। उस स्नेह को समझने उपयुक्त बुद्धि हम में नहीं है; इस स्नेह को धारण करने योग्य हमारी छाती नहीं है; इस स्नेह को भोग करने योग्य इन्द्रियां हमारी नहीं हैं। हमारी मा अद्वितीय अनन्त है, उसका स्नेह भी अद्वितीय अनन्त है। एक बार देखो कि मा तुम्हारे लिये क्या करती है! कितनी व्याकुल होकर तुम्हें छाती से लगाती है, कितनी व्याकुल होकर तुम्हारी मलिनता छुड़ाती है, कितनी उन्मादना से तुमको चूमती है, कितने आवेग से तुमको नित्यानन्द में प्रतिष्ठित करती है, इस प्रकार सदा देखते रहो। परि-च्छिन्नता का, विषय-वासना का मोह शीघ्र ही दूर हो जायगा। शुभ दिन—बड़े आनन्द का दिन आगया है; सुरथ ने समाधि का साक्षात्कार प्राप्त किया है। यद्यपि प्रथम अवस्था में समाधि उतनी दृढ़, उतनी उज्ज्वल, उतनी एकात्मप्रत्ययमात्र न हो तथापि उसका मूल्य बहुत अधिक है। वह अनेक जन्मों का अनेक साधनों का फल है।

सुरथ और समाधि दोनों ही इस समय अपना अभाव देखते हैं। मानों एक अज्ञेय-शक्ति, अज्ञेय-मोह, गुणरहित बन्धुओं की ओर, दुर्म्मति पुत्र भार्य्यादि की ओर, और विनश्वर कोष बलादि की ओर बलपूर्वक आकर्षण करते हैं। पीछे की ओर यह प्रबल आकर्षण जीव के दृष्टिमार्ग में कब आता है? जब सम्मुख में मा की ओर का आकर्षण थोड़ा थोड़ा करके अनुभव कर सकता है। जब मातृस्नेह के प्रबल आकर्षण का माधुर्य्य और विषयाभिमुखी विपरीत

आषर्षण के क्षणस्थायी रस की कड़वाहट अनुभव के योग्य होती है, तब जीव मात्र ही कहने को वाध्य होता है—"तेषां कृते मे निःश्वासा दौर्म्मनस्यश्च जायते"। तब ही साधक "करोमि किं" कह कर आकुल होकर, उस अज्ञेय शक्ति (अजेय मोह) का उच्छेद करने में यत्न करते हैं।

मार्कण्डेय उवाच।

ततस्तौ सहितौ विप्र तं मुनिं समुपस्थितौ।
समाधिर्नाम वैश्योऽसौ स च पार्थिवसत्तमः॥
कृत्वातु तौ यथान्यायं यथार्हं तेन संविदम्।
उपविष्टौ कथाः काश्चिच्चक्रतु वैंश्यपार्थिवौ॥२६॥

अनुवाद—मार्कण्डेय कहते है—हे विप्र! (क्रौष्टुकी) उसके बाद समाधि नामक वैश्य और राजश्रेष्ठ सुरथ, दोनों ने मिल कर मेधस् मुनि के निकट उपस्थित होकर, यथाशास्त्र यथायोग्य सदाचार पूर्वक बैठे और (उपयुक्त अवसर पर) कुछेक बातें शुरू कीं।

व्याख्या—जीव चित्तविक्षेप के कारण निर्णय न कर सकने पर, समाधि की सहायता से पुनः बुद्धि की निर्म्मल ज्योति आश्रय करके, प्रज्ञा के शरणागत हुआ। पहले सुरथ एका थे, तब मेधसाश्रम में उपस्थित होने पर भी मेधस् के साथ साक्षात् नहीं किया। अब समाधि की सहायता से वह सुयोग उपस्थित हुआ है। पूर्व सुरथ ने मेधस् को स्मृतिरूप एक प्रकार बोध प्रवाहमात्र समझा था, अब उसको प्रज्ञानरूप से गुरु के आसन पर बैठा हुआ देखा। पूर्व "ब्रह्माहमस्मि" यह स्मृति रूप परोक्षज्ञानमात्र समझ कर, सुरथ मेधस् के आश्रम में रहता था। अब उस मेधस् को ही सब संशयों का दूर करने वाला, हृदय के संतापों को हरनेवाला और अनन्त शान्ति दायक गुरु रूप से देखने लगा।

जब अपने ज्ञान बलसे और अध्यनादि द्वारा सञ्चित ज्ञान की सहायता से अथवा समधर्म्मी किसी मनुष्य के ज्ञान के प्रकाश से किसी से भी तत्व-ज्ञान का उदय नहीं होता, किसी से भी प्राणों की प्यास नहीं बुझती, सन्देह दूर नहीं होता, अज्ञानान्धकार मानो और भी घनीभूत होता जाता है। "सब कुछ समझते हैं, और कुछ होने से ही सन्देह दूर होते हैं, तो भी यह समझ में नहीं आता, उतना ही नहीं-उम थोरा ही के लिये सब वृथा हो चला है। कुछ लाभ नहीं हुआ, वृथा चेष्टा, वृथा आयोजन, वृथा तपस्या, वृथा कर्म्मोद्यम! सब कुछ किया; परन्तु जीवन की कृतकृत्यता न हुई—अमरत्व का स्वाद नहीं पाया, अभय का पता नहीं पाया, संशय दूर नहीं हुए"—इस प्रकार भावों के द्वारा जीव जब बिल्कुल विव्रत हो जाता है, तब ही हमारी मा गुरु रूप से आविर्भूत होती है। जब किसी देश-विशेष वा जाति-विशेष के अधिकांश लोग इस भाव के द्वारा आकुल हो जाते हैं, तब ही वह जगद् गुरुरूप से, ऋषि रूप से, धर्म्म प्रतिष्ठाता रूप से मनुष्य देह में प्रगट होकर सत्य के समुज्वल प्रकाश से जीवों को धन्य कर जाते हैं। जब तक वह प्रगट रहते हैं, तब तक बहुत थोड़े लोग ही यथार्थ रूप से उनको जान सकते हैं; परन्तु तिरोधान के पश्चात् जगत् उनके उपदेश सुन कर, उनके कार्य्य और आदर्श देख कर, फिर उनको मनुष्य कह कर स्वीकार नहीं करना चाहते स्वयं ईश्वर का विशिष्ट अवतार जान कर पूजा करते और धन्य होते हैं। यही मा का खेला है।

अस्तु, ऊपर लिखे हुए दो मन्त्रों में गुरुउपस्थान के कुछ अलंघ्य नियम वर्णित हुए हैं। हम पहले उन्हीं की आलोचना करेंगे। देखते हैं कि एक वैश्य परमात्म-क्षेत्र में प्रवेश करने को उद्यत है, साधन रूप धन से महाधनी है। "असौ" शब्द का अर्थ प्रसिद्धनामा उसका नाम समाधि है। भारतवर्ष में हिन्दू के घर में जन्म लेकर समाधि शब्द जिन्होंने न सुना हों, ऐसे लोग बहुत कम होंगे। इस

प्रकार प्रसिद्ध एक मनुष्य है। दूसरा मनुष्य—प्रसिद्ध राजा पार्थिव सत्तम जीव श्रेष्ठ है। सत्तम शब्द का अर्थ सत्यप्रतिष्ठ है। जिसने सच्चिदानन्दमयी मा का केवल सत्स्वरूप का अनुभव किया है, "हमारी मा हैं" यह बात जिसके रोम रोम में समाई हुई है, जिस की आस्तिक्य-बुद्धि में कभी सन्देह का हिलकोर उपस्थित न हो वही सत्तम है। यह बात भी बिलकुल उपेक्षा के योग्य नहीं है। केवल आस्तिक्य-बुद्धि ही साधन का यथार्थ मूलधन है। यह मूलधन जिसके पास जितना अधिक है, उसे उतना ही अधिक लाभ होता है। "मैं मा के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता, उनका रूप गुण स्नेह आदर महिमा आदि कुछ भी हम को मालूम नहीं है, केवल इतना जानते हैं कि हमारी मा एक व्यक्ति हैं"—इस बात से ऐसा एक विश्वास आना चाहिये कि सैकड़ों हजारों घात प्रतिघात सन्देह वितर्क विरुद्ध प्रमाण कितने ही क्यों न हों, हमारे उस सत्यज्ञान—उस अस्तित्व-बोध को बिन्दुमात्र भी चञ्चल नहीं कर सकेंगे। ऐसे भाव से जो मा के सत्स्वरूप साधन में सिद्ध है, वही पार्थिव-सत्तम हैं, अर्थात् पृथ्वी के सब जीवों में श्रेष्ठस्थान पर उन्होंने अधिकार किया है। इस प्रकार दो उच्चस्तर के साधक जब गुरु के समीप उपस्थित हुए, तब उन्होंने किस प्रकार व्यवहार किया था, महर्षि उस बातको प्रगट करते हुए कहते हैं—"तेन सह यथान्यायं यथार्हं संविदं कृत्वा उपविष्टौ"। उनके साथ यथान्याय, यथायोग्य समुदाचार पूर्वक बैठ गये।

"यथा न्याय" शब्द का अर्थ विधि-पूर्वक और "यथार्ह" शब्द का अर्थ 'यथा योग्य' है। किस प्रकार समुदाचार यथाशास्त्र और यथायोग्य होता है, यहाँ पर उसका कुछ आभास दिया जाता है। गुरु के समीप उपस्थित होते ही यह भाव मन में आना चाहिए कि हम साक्षात् भगवान् के समीप ही उपस्थित हुए हैं। जो हमारे जन्म-जन्मान्तर के चिर सखा, चिर सुहृद्, हृदय राज्य के एकच्छत्र सम्राट्

हैं। जो विज्ञानमय सर्व-भूत-महेश्वर-मूर्ति में, सर्वभूतों में विराजित हैं, समग्र जगत् जिनमें अवस्थित है ; अधिक क्या कहें, हम जिसको चाहते हैं—वही हमारी मा हमारे स्नेह से, परम कृपा से केवल हमारे ही लिये आज यह मनुष्य देह धारण कर सामने उपस्थित हुई है। यह चाहें, तो अभी हमें सब बन्धनों से मुक्त कर दे सकते। इन ही ने दया करके हमारे अज्ञान-अन्ध नेत्रों में दिव्यज्ञान की ज्योति प्रकाश कर दी है, वा कर सकते हैं; ऐसा ज्ञान में प्रतिष्ठित होने पर, तुम्हारे प्राण जो करना चाहते हों सो करो। यथाशक्ति विनय नम्र भाव से कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के प्रणाम पूर्वक, चरण स्पर्श का अधिकार देने पर, चरण स्पर्श करते हुए अपने को कृतार्थ करो। वह जब तक कोई बात न कहें, तबतक धीर भाव से उनकी अनुमति की अपेक्षा में खड़े रहो। तात्पर्य्य यह है कि तुम यदि साक्षात् भगवान् के सम्मुख उपस्थित हो, तब जिस प्रकार अपने मन, प्राण, इन्द्रिय, देह आदि का परिवर्तन होना मानते हो, यदि उसी प्रकार गुरुदर्शनमात्र में भी परिवर्तन संघटित होता हो, तब समझो कि तुम्हारा यथान्याय यथायोग्य समुदाचार किया गया। 'सम्विद्' शब्द का अर्थ सम्यक् ज्ञान है। गुरु में यथार्थ भगवद् बुद्धि न होने से यथार्थ सम्विद् नहीं होता है। यह सम्विद् जिसका जितना सरलता पूर्ण और जितना सत्य में और विश्वास में प्रतिष्ठित होगा, वह उतना ही शीघ्र गुरु-कृपा पाकर कृतार्थ होगा। "गुरु की कृपा होने से भूमण्डल पर फिर जन्म मृत्यु नहीं होता है"। गुरु गीता में कहा है "मोक्ष मूलं गुरोः कृपा"।

समुदाचार के बाद उपवेशन है—श्री गुरु जब आसन-ग्रहण करने की अनुमति अथवा संकेत करें, तब बैठो, इस बैठने में भी कुछ विशेषता है। वह यह है कि—दोनों पांव वस्त्रादि द्वारा ढके रहें, मेरुदण्ड सरल भाव में रहे, शिर कुछ झुका रहे। उनकी समस्त आज्ञायें पालन करने के लिये तुम सदा तयार हो, ऐसा कुछ

भाव तुम्हारे बैठने से प्रकाशित होता रहे। सब प्रकार की धृष्टता, वितण्डा, हँसी त्याग कर, उनके श्रीमुख से निकले हुए प्रत्येक वाक्य को बड़े ध्यान पूर्वक सुनने के लिये हर समय कान उठाये रहो। गुरु आनन्दमय महापुरुष सदा बालकवत् सरल भाव से विराजमान रहते हैं; इसी से कदाचित् कोई बात हास्य जनक भी हो सकती है, उसे सुन कर तुम ऐसे मत हँसो कि जिस से चञ्चलता प्रगट हो। स्थूल बात यह है कि स्थिर धीर भाव से, शुश्रषा करने योग्य, विनीत और आज्ञापालन में उद्यत रहो, ये पांच भाव प्रकाशक आसन ही शिष्य के योग्य हैं।

आज कल देश में कैसा एक विपरीत भाव हो रहा है, कि कोई शिष्यत्व स्वीकार करना ही नहीं चाहता है, प्रथम ही गुरु बन बैठना चाहता है। शिष्यत्व के साधन में सिद्ध होने ही से, सब कुछ प्राप्त होता है। इस बात को लोग भूल गये हैं, अरे, शिष्यत्व सिद्ध होने पर गुरु मिट्टी की मूर्ति होने पर भी, मोक्ष अवश्यम्भावी है। शिष्यत्व का साधन सत्यकाम, उपमन्यु, आरुणि, वेद, कौत्स आदि प्रसिद्ध महर्षियों ने किया था। महाभारत में और एक समुज्वल दृष्टान्त है—चण्डाल पुत्र एकलव्य का। अस्त्र गुरु द्रोणाचार्य के निकट से अपमानित होकर मिट्टी की गुरुमूर्ति—प्रतिष्ठाकर उसने ऐसा अभूत पूव अस्त्र प्रयोग करना सीखा था कि एक दिन द्रोणाचार्य्य के सर्व्व प्रधान शिष्य, सर्व्वायुध-विशारद अर्जुन को भी उसके सामने सिर नीचा करना पड़ा था। धन्य है शिष्यत्व की साधना! प्रथम अपने हृदय में गुरु का आसन बनाओ। स्वयं शिष्यत्व-प्राप्ति की योग्यता संग्रह करो। गुरु के लिये आकुल नहीं होना होगा; गुरु का अभाव नहीं है! गुरु सदा तुम्हारी प्रतीक्षा में रहते हैं, कि कब तुम आओगे और कब तुम्हें कृतार्थ करें। तुम केवल गुरु का विचार कर मत भ्रमते फिरो, बल्कि यह देखो कि तुम शिष्य हुए हो कि नहीं। गुरु तो चाहे कोई हो सकता है। भागवतमें कहा है—कि अवधूत (दत्तात्रेय) जी

के—पशु पक्षी पर्य्यन्त गुरु हुए थे; इस कारण शिष्यत्व प्राप्त करना ही साधन है।

देखिये, हिन्दुओं के घरों में स्त्रियाँ क्या करती हैं! दश बारह वर्ष तक पिता के घर रह कर, मातृ-पितृ-स्नेह से लालित पालित होकर, सहोदर सहोदरा और अन्यान्य पड़ोसी आत्मीय जनों के साथ एकत्र समय व्यतीत करती हैं। फिर एक दिन एक मुहूर्त्त में कोई एक अपरिचित जन आता है, रात्रि के समय निद्रावेश के लिए शायद चार आखों का मिलन भी नहीं होता है। पुरोहित महाशय दो चार बातें संस्कृत में उच्चारण करते हैं। रात्रि के बाद प्रभात समय उठकर वह स्त्री पूर्व परिचित मातापिता, बन्धु बान्धव, भाई बहिन सबको त्यागकर उस अपरिचित पुरुष के साथ चल देती है। मन में समझ लेती है कि वही हमारा सर्वस्व हैं। वही हमारे इहपरकाल की गति हैं, और जो हैं वे आत्मीय अवश्य हैं; परन्तु इनके समान प्रियतम, निकट से निकट और कोई नहीं है। कभी पहले देखा भी नहीं है कि जिसके साथ वह जाती है, वह अन्ध है या बधिर है, मूर्ख है या पण्डित है, साधु है या तस्कर है; कुछ विचार नहीं, कुछ संशय नहीं, चाहे जैसा क्यों न हो, यही हमारा सर्वस्व है। यह क्षण मात्र का परिवर्तन कैसा सुन्दर है! कैसी तीव्र साधना का फल है! विचार पूर्वक देखने से विस्मित होना होता है।

क्यों ऐसा होता है? हठात् इतना परिवर्तन किस प्रकार सम्भव है? कारण और कुछ नहीं है। उस बालिका ने बहुत दिन से पत्नीत्व का साधन करके सिद्धि प्राप्त की है। वह जानती थी कि मैं एक जन की भार्य्या होऊंगी। वह चाहे कोई भी क्यों न हो, वही मेरा सब की अपेक्षा प्रियतम होगा। बहुत दिन तक ऐसी धारणा के फल से, इस प्रकार आकस्मिक परिवर्तन होना सम्भव है। ठीक इसी प्रकार प्राण-प्राण में गुरु का आसन रचना करो। आप शिष्य बनो। एक मुहूर्त्त ऐसा आवेगा कि फिर तुम्हारा गुरु-विचार करने का

अवसर न रहेगा, और न इतना विचार करने का अवसर पाओगे कि यह हमारे गुरु होने योग्य हैं वा नहीं, यह मुझे मुक्तिमार्ग में ले जा सकेंगे कि नहीं। ईश्वर की प्रेरणा से जो गुरुरूप से तुम्हारे सम्मुख उपस्थित होंगे, उनके समीप तुम्हारे प्राण स्वतः ही नमित हो जायँगे। गुरु एक आधार मात्र हैं। करना तो सब अपने ही को होता है। किसी की मुक्ति किसी ने नहीं कर दी है, और कर भी नहीं सकता है। जो समस्त भार गुरु के ऊपर देकर आप निश्चिन्त हो बैठ सकते हैं, ऐसे महापुरुष जगत् में विरल हैं। वह सब क्षेत्रों में भी शिष्य के अनजान में गुरु मुक्ति के अनुकूल कार्य्य सम्पादन करा लेते हैं; परन्तु गुरु की ऐसी महिमा है कि शिष्य समझ नहीं सकता—"मैं साधना करता हूँ"।

अस्तु, जीव अनेक जन्म के सुकृत के फल से समाधि का साक्षात् पाता है और दोनों एक दूसरे का अभाव समझ सकते हैं। अभाव किसका? ज्ञान का। ज्ञान की एक बून्द प्राप्त करने के लिये जीव को कितनी कठोर तपस्या करनी पड़ती है। साधारणतः जीव जिसको श्रेयः समझता है वह प्रेयः नहीं होता, और जो प्रेयः है, उसको श्रेयोरूप से ग्रहण नहीं कर सकते। जो ज्ञानज्योतिः इस श्रेयः और प्रेयः की समस्या को दूर कर देती है, उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये प्रज्ञा वा शुद्ध बोध रूपी गुरु के समीप पहुँचना होता है। प्रत्येक जीव के हृदय में गुरु रूप से वह नित्य विराजित है। वह अन्तर्य्यामी चिन्मय महापुरुष है। जब तक जीव इस हृदय में स्थित गुरु को साक्षात् नहीं पाता है, तब तक यथार्थ शान्ति का केन्द्र खोजने पर भी मिलता नहीं। बाहिर के मनुष्य मूर्ति-गुरु जबतक विज्ञानमय महेश्वर मूर्ति से प्रगटित न हों; तबतक यथार्थ गुरु प्राप्त नहीं हुए। गुरु प्राप्त होने से जीव को फिर कोई भय नहीं रहता, उसकी मुक्ति सुनिश्चित है।

केवल मनोयोग की सहायता से इस हृदयस्थ गुरु के समीप पहुँच सकते हैं। थोड़ा-थोड़ा करके समाधि के आ जाने पर, जीव

१४

इस बोधमय गुरु मेधस् के समीप पहुँच सकते हैं। इसी से वैश्य समाधि और पार्थिव सुरथ ने आज बड़े आनन्द के साथ बोधमय गुरु के चरणों के समीप जाकर—"काश्चित् कथाः चक्रतुः" अपनी-अपनी बात कहना आरम्भ किया। यदि माता को दुःख की कथा सुनानी है तो पहले कैलाश पर जाओ, तब तो दुःख की बात मा को सुना सकोगे! हमारी मा कैलाश के सब से ऊँचे शिखर पर गुरु के वक्ष पर नित्य विराजमान है! मा को देखोगे—कैलाश पर जाओ। गुरु को पकड़ो, फिर देखोगे कि गुरु ही मा है, या मा ही गुरु है, इसके समझने का अवसर ही न रहेगा। अरे, वह गुरु तो हमारा ही आपन है, प्राण का प्राण, सखा से प्रियतम, बन्धु से भी अत्यन्त स्नेहशील, भार्य्या से भी अति अधिक आनन्ददाता है, वह अत्यन्त अन्तरङ्ग है। यदि उससे दिल खोल कर बात न कहोगे, तो किस से कहोगे?

यह कभी न सोचो कि गुरु के निकट से दीक्षा वा उपदेश पाने से ही गुरु प्राप्त हुए, गुरु जबतक "अपने" न हों, अत्यन्त आत्मीय—अत्यन्त अन्तरङ्ग न हों, तबतक गुरु प्राप्त नहीं हुए। यथार्थ गुरु प्राप्त होने से शिष्य अनसूय अर्थात् गुरु के दोष दर्शन से अन्ध हो जाता है। गुरु का प्रत्येक कार्य्य प्रत्येक इशारा तब उसको महान् उद्देश्य पूर्ण ऐश्वरिक कार्य्य वा इशारे के रूप से शिष्य के हृदय में उदय होते रहते हैं। आदर्श-शिष्य अर्जुन जब इस प्रकार असूयाहीन हो गये थे तब ही भगवान् ने गीता का अपूर्व्व राजगुह्य योग उपदेश देकर उनको धन्य किया था।

राजोवाच।

भगवंस्त्वामहं प्रष्टुमिच्छाम्येकं वदस्व तत् ॥ २७ ॥

अनुवाद—राजा ने कहा हे भगवन्! आपसे एक विषय की जिज्ञासा करना चाहता हूँ, आप अनुग्रह कर समझाइये।

व्याख्या—समाधि की सहायता से जीवात्मा ने बोधमय गुरु के निकट उपस्थित होकर सब से प्रथम सम्बोधन किया कि—"भगवन्।" शिष्य को गुरु को किस भाव से देखना चाहिये वह इस स्थान पर स्पष्ट हुआ है, आध्यात्मिक दर्शन में भी देखा जाता है कि जीवात्मा जब प्रज्ञान के समीपस्थ हुआ, तब तो उसको भगवान् कहने को बाध्य होगा ही; कारण कि प्रज्ञान ही ब्रह्म है। गुरु और ब्रह्म अभिन्न हैं; इस कारण उस अवस्था में भगवान् कहना अत्यन्त स्वाभाविक है। व्यवहारिक जगत् में भी जब कोई शिष्य गुरु के समीप स्थित हो, तब भी गुरु को प्रत्यक्ष–ईश्वर रूपसे दर्शन करना उचित है, उसी को समझाने के लिये मन्त्र में "भगवन्" शब्द का प्रयोग हुआ है। विचार वा विवेक की सहायता से कल्पना के द्वारा गुरु को ईश्वर रूप से देखना निम्नअधिकारता का सूचक है। गुरु मूर्ति–दर्शन अथवा गुरु का नाम–स्मरण वा श्रवण मात्र होते ही सरलप्राण (निष्कपट) शिशु की भाँति मन में स्वीकार करना उचित है कि वही हमारे भगवान् हैं। जिस प्रकार अपनी मा विकलाङ्ग होने पर भी "हमारी मा" है ऐसा कहकर एक कैसा अव्यक्त सरल सत्य सम्बन्ध प्रकट करते है; ठीक उसी प्रकार गुरु चाहे जैसे क्यों न हों, वही हमारे ईश्वर हैं, वही हमारे इस परकाल की गति हैं, वही समग्र जगत् के सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कर्ता हैं, केवल हमारे ऊपर कृपा करने ही के लिये मनुष्य रूप में विराजमान हैं। यह हो सकता है कि वह बहुत लोगों के गुरु हैं, परन्तु हमें यह बात देखने की आवश्यकता नहीं है, वह हमारे गुरु—ब्रह्म हैं। यह केवल धारणा वा कल्पना कर लेनी होगी सो नहीं; यथार्थ में भगवान् के सिवाय और किसी का भी गुरु होने का अधिकार नहीं है। यदि कोई जीव भावापन्न मनुष्य अपने को गुरु मान लेवे, तो वह अनायास ही "उ" कार का परित्याग कर लेता है (गुरु से गरु वा पशु होता है); कारण कि वह अज्ञानान्ध है। गुरु गीता का प्रत्येक मन्त्र पाठ करने से समझ सकोगे कि—गुरु

कौन है ? मनुष्यदेह गुरु का आसन मात्र है जिस प्रकार शालग्राम शिला जिस सिंहासन पर विराजमान रहती है वह आसन भी हमारा पूज्य है। जिस देह का आश्रय करके गुरु शक्ति ने प्रकाश पाया है, वह देह हमारी पूज्य है। गुरु—एक जन है। कोई कभी किसी के भी गुरु की निन्दा न करना; कारण कि तुम्हारे और हमारे गुरु पृथक नहीं हैं। वैष्णव शाक्त शैव आदि बाह्य आवरण गुरु के भेदक चिह्न नहीं हैं। जैसे कांच की चिमनी जितनी हैं, उन सब के भीतर एक ही प्रकार की बिजली का प्रकाश है, परन्तु चिमनी रंग-बिरंगी होने से वह प्रकाश अनेक रंग का जान पड़ता है। उसी प्रकार एक ही गुरु भिन्न-भिन्न आधार में अवस्थित होकर, भिन्न-भिन्न अधिकारियों के मङ्गल के लिये भिन्न-भिन्न भाव से अपना प्रकाश करता है। सर्वदा मन में याद रक्खो—"मद्गुरुः श्री जगद्गुरुः"।

यहां पर गुरु का शास्त्रोक्त लक्षण कहा जाता है। अधीतवेद और ब्रह्मनिष्ठ, इन उभय गुणसम्पन्न व्यक्ति सद्गुरु पदवाच्य है। शास्त्रज्ञान होने पर भी यदि ब्रह्मनिष्ठ न हो, अथवा ब्रह्मनिष्ठ हो कर यदि शास्त्र ज्ञान रहित हो, तो वह सम्यक् प्रकार से शिष्य के अज्ञान को दूर करने को समर्थ नहीं होता। शास्त्र और युक्तिबल से, जीव और ब्रह्म का अभेद-प्रतिपादन, एवं साधना द्वारा उसका शिष्य के हृदय में पूर्णप्रकाश करना; ये दोनों शक्तियाँ जिसमें पूर्णभाव से प्रकटित हों, वही शिष्य के अनेक जन्मसञ्चित कर्म्म-बन्धन भस्म कर देने को समर्थ है; बड़े सौभाग्यबल से ऐसा गुरु प्राप्त होता है। जो कौलिक नियमानुसार केवल तान्त्रिक मन्त्रादि प्रदान करते हैं, वह भी शिष्य को सब से प्रथम धर्म्ममार्ग पर प्रवर्तित करके जीव की आत्मोन्नति का मार्ग खोल देते हैं; इस कारण वह भी प्रत्यक्ष ईश्वर ज्ञान से पूजनीय हैं। मन्त्रदाता और मुक्तिदाता भेद से गुरु श्रेणी में दो प्रकार का प्रकाश देखा और पाया जाता है। जो शक्ति मन्त्रदातारूप से आविर्भूत होकर लौकिकी दीक्षा देकर जीव के मङ्गल

का द्वार खोल देती है, वह गुरुशक्ति ही फिर मुक्तिदाता रूप से, कदाचित् अन्य किसी मनुष्य देह का आश्रय करके मुक्ति का मार्ग खोल देती है, इसी से कहा था कि गुरु एक है अनेक नहीं।

आज कल कोई-कोई गुरु शक्ति के रहस्य को न जान सकने के कारण, कौलिक गुरु को त्याग कर किसी साधु महापुरुष के अथवा किसी दण्ड कमण्डलु धारी सन्यासी के शिष्य होकर, पूर्व पुरुषों के गुरुको अनेक प्रकार के अपमान सूचक वाक्य प्रयोग करते हैं; यह अत्यन्त अज्ञानता का परिचायक है। गृहस्थाश्रम में रह कर यथा-रीति आश्रम-धर्म्म परिपालन और गृहस्थ गुरु के शरणागत होकर, उनके उपदेश किये हुए उपाय से अभ्युदय-प्राप्ति के लिये यत्नवान् होना ही गृहस्थ का कर्तव्य है। उस कर्तव्य का उल्लंघन अनेक स्थानों में कुमार्गगमन और अधःपतन का सूचक हुआ है। तो यह भी स्थिर है, कि जिस प्रकार भ्रमरगण मधु के लिये एक पुष्प से दूसरे पर जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानप्राप्ति के लिये अनेक गुरुओं के शरणापन्न होना भी शास्त्र में अविहित नहीं है। जबतक अधीतवेद और ब्रह्मनिष्ठ गुरु प्राप्त न हो, तबतक ऐसे गुरुरूप से आविर्भूत होने के लिये कातर प्राण से मा के निकट प्रार्थना करनी होती है। इस प्रकार प्रार्थना करते करते एक दिन देखोगे कि तुम्हारे ही मन के अनुसार गुरु मिल गये हैं। अभूतपूर्व उपाय से अचिन्तनीय घटना से यह शुभ सम्मिलन होता है। मा ही हमारे गुरुरूप से आविर्भूत होती है। लीलामयी की प्रत्येक लीला ही अभूतपूर्व और अचिन्त-नीय है। असल बात यह है—यह कातर प्रार्थना "मैं यथार्थ ही चाहता हूँ" यह भाव जबतक प्राण में न जागेगा, तबतक गुरु क्या, जगत् का धनैश्वर्य भी प्राप्त नहीं किया जाता, यह जो देखते हो—कि जो दरिद्र हैं, वह मुख से कहते हैं कि धन चाहिये; परन्तु यथार्थ प्राण का अन्तःस्थल अन्वेषण कर देखने से देखा जाता है—कि वह धन नहीं चाहते। वह दरिद्र अवस्था ही उनको प्रीतिकर है, इसी

से वह धन नहीं पाते। जिसकी प्रार्थना जितनी सत्य है, उसका अभीष्ट लाभ भी उतना ही सहज है। हमारी मा तो कल्पतरु है, जो चाहोगे वही पाओगे। यह ध्रुव सत्य है; इस कारण प्रथम मा के निकट गुरुरूप से आविर्भूत होने के लिये प्रार्थना करो; वही सद्गुरुरूप से आकर, क्या चाहना होगा, किस प्रकार चाहना होगा। उसे समझा देंगी, अथवा अभीष्ट प्रदान कर कृतार्थ करेंगी।

गुरु प्राप्त होने पर शिष्य का कर्तव्य क्या है ? इस विषय में भी शास्त्र में कहा है—तन, मन, धन और वाणी, ये चार यथासम्भव श्री गुरु चरणों में अर्पण करने होता है, सर्वतोभाव से गुरु की आज्ञा-पालन के लिये देह श्री गुरु के चरणों में अर्पण करने का नाम तन्व-र्पण है। प्रत्यक्ष ईश्वर रूप से दर्शन करने का नाम मनार्पण है। ईश्वर की सेवा पूजादि का फल अनेक स्थानों में अप्रत्यक्ष है; परन्तु मनुष्य देह में अवतीर्ण गुरु की सेवा पूजा आदि का फल प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रकार का है। इस हिसाब से गुरु को ईश्वर से भी उच्च आसन दिया जा सकता है। गुरु यदि गृहस्थाश्रमी हों, तो धन वस्त्र भूषण पशु आदि जो कुछ अपना है, वह समस्त ही उनके चरणों में निवेदन करने का नाम धनार्पण है। भय नहीं है ! ब्रह्मनिष्ठ गुरु तुम्हारा सर्वस्व लेकर तुमको कङ्गाल न बना देंगे। यदि ऐसा करें तो भी प्रसन्नता पूर्वक सह्य करो ! वत्स ! कुछ कष्ट किये बिना, ब्रह्मज्ञान नहीं होता ! यह वस्तु अत्यन्त सहज नहीं है। जिसके पाने से तुम अमर होगे, नित्यानन्द भोग करोगे, पृथ्वी पर रहकर, अपार्थिव जीव होगे, वह केवल मौखिक भक्ति से प्राप्त नहीं किया जाता है तुम्हारे प्राण संसार के नश्वर पदार्थों में आसक्त हो रहे हैं, वह समग्र प्राण उधर से खींच कर गुरु के चरणों में अर्पण करने होंगे। सर्व धन अर्पण उसका प्रथम आयोजन मात्र है। और यदि गुरु सन्यासी हों तो, शिष्य को भी सर्वस्व परित्याग पूर्वक सन्यासी होना होगा। अनन्तर वह यदि पुनः गृह में रहने की

आज्ञा देवें तो वह आदेश पालन करना होगा। सर्वदा गुरु के गुण गान करने का नाम वाणी अर्पण है। ऐसा कर सकने से शिष्य का कर्तव्य पूर्ण होता है। तब गुरु का कर्तव्य आरम्भ होता है। एक दिन की चेष्टा से नहीं हो सकता—कुछ दिन के यत्न से शिष्यत्व-अर्जन, गुरु के ऊपर समस्त भार-अर्पण अत्यन्त असम्भव नहीं है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु तुम्हारा सर्वस्व ग्रहण करके तुम्हें अमृतधन से वञ्चित करेंगे, ऐसा आशङ्का मन में कभी न करना। अरे, क्योंकि जबतक शिष्य की मुक्ति नहीं होती, तबतक गुरु की मुक्ति नहीं हो सकती; विश्राम नहीं हो सकता; बड़ा भीषण दायित्व है। समझ लिया, गुरु क्या वस्तु देते हैं? "एकमप्यक्षरं यं तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद् दत्त्वा सोऽनृणी भवेत्"॥ जो गुरु शिष्य को एक अद्वितीय अक्षर पुरुष में प्रबोधित करते हैं; पृथ्वी पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसे उसके बदले में देकर शिष्य अनृण हो जावे। समझे; गुरु शिष्य को क्या वस्तु देते हैं एक अक्षर देते हैं, प्रबोधित करते हैं, जागृत करते हैं। समझे गुरु शिष्य को क्या देते हैं—प्राण! अपने प्राण, जो पुत्र को भी देने में कुण्ठित हैं, वह प्राण अपने हाथ से खींच कर शिष्य के हृदय में बिठाल देते हैं। समझ लिया, गुरु शिष्य को क्या देते हैं. आप मर कर शिष्य को बचा लेते हैं। जिस ब्रह्मानन्द में अवस्थान करने से, जगत् कह कर, शिष्य कह कर, दीक्षा कह कर, फिर कुछ नहीं रहता है, उसी ब्रह्मानन्द से नीचे उतरते हैं। शिष्य पर कृपावश होकर, स्नेह से आकुल होकर, वही आनन्द शिष्यों में वितरण करते हैं, उसी में उनको सुख है। अपने सुख को वह नहीं चाहते, समझ लिया, गुरु ने शिष्य को क्या देते हैं? शिष्य की जो कुछ मलिनता है, जितना कुछ सन्ताप है, जितना कुछ पाप है, उसे लेकर अपनी पवित्रता से, पुण्य के उज्ज्वल प्रकाश से शिष्य को कृतार्थ करते हैं। और समझे, गुरु शिष्य को क्या देते हैं? उसको कहा नहीं जाता, जो शिष्य हैं वह अपने प्राण प्राण में समझ लेंगे।

उपनिषद् में कहा है—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मभिः" ॥ जिनको गुरु में ईश्वर-ज्ञान आगया है, जो गुरु को ईश्वर-ज्ञान से ही भक्ति कर सकते हैं, केवल उनके निकट ही गुरु के उपदेश किये हुए साधन रहस्यों का यथार्थ तत्व प्रकाशित होता रहता है।

अस्तु, जीवात्मा समाधि की सहायता से शुद्ध बोध में समाहित होकर, चित्तविक्षेप का कारण निर्णय करने को उद्यत हुआ था। यही इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ है। "वदस्व तत्" उसे कहो। इतना अंश गुरु की अनुमति है। राजा ने कहा "प्रष्टुमिच्छामि," मुनि ने अनुमति दी 'वदस्वतत्'। उसके बाद राजा ने अपना वक्तव्य कहना आरम्भ किया। मन्त्र का इस प्रकार अर्थ करना भी असङ्गत नहीं है ॥

दुःखाय यन्मे मनसः स्वचित्तायत्ततां विना।
ममत्वं मम राज्यस्य राज्याङ्गेष्वखिलेष्वपि।
जानतोऽपि यथाज्ञस्य किमेतन्मुनिसत्तम ॥२८॥

अनुवाद— हे मुनिसत्तम! हमारा मन (परमात्मा में निरुद्ध न होने से) बिल्कुल वश में नहीं है, इस कारण हमें अत्यन्त कष्ट होता है। यह देखिये, हमारा त्यागा हुआ राज्य (देहादिपुर) एवं अखिल राज्याङ्ग (वृत्तियां), इन सब पर हमारी ममता कितना है! मैं जानता हूँ—इनमें कुछ भी मेरा नहीं है, तथापि अज्ञ की भांति हमारा चित्त उनमें आसक्त है! यह किस प्रकार है! अर्थात् यह क्यों ऐसा होता है ?

व्याख्या—इससे पूर्व समाधि के साथ सुरथ ने जो आलोचना की थी, जो चित्तविक्षेप के कारण निर्णय न कर सकने पर गुरु मेधस् के निकट उपस्थित हुआ था, यहां पर वही प्रकाशित

किया है। बोधमय गुरु के समीप उपस्थित होकर विषयाशक्ति का केन्द्र खोजने लगा था। यहां पर—"जानतोऽपि यथाज्ञस्य" 'ज्ञान रहने पर भी अज्ञ, इस बात में कुछ ऐसा सुन्दर रहस्य है। हम ज्ञान द्वारा भली भांति जान सकते हैं कि संसार हमारा नहीं है। देहेन्द्रियादि हमारे नहीं हैं, औरों को समझाते समय भी भली भांति बोलते और समझा सकते हैं; परन्तु कार्य्य के समय हम सब अज्ञ हैं। ज्ञान से जो समझा है, उसे अनेक बार कार्य्य रूप में परिणत नहीं कर सकते। साधकमात्रको ऐसी संकटापन्न दशा उपस्थित होती हैं। बुद्धि की निर्म्मलज्योति से हृदय जितना प्रकाशित होता है, संसारसंस्कार—श्रेणी का उतना ही अकिञ्चित्करत्व-बोध होने पर भी, चित्त की चिराभ्यस्त विषय आसक्ति किसी प्रकार से भी निवृत्त नहीं होती। हमारी मा एक तरफ ज्ञान का प्रकाश ज्वलित कर साधक के हृदय में नित्यानित्य-वस्तु विवेक जितना ही प्रकाशित करती है उतना ही वह देखता है—कि उसका चित्त पूर्व जिस प्रकार विषय-विमूढ़ था, देहात्मज्ञान से, मुग्ध था, अब भी प्रायः वैसा ही है। ज्ञान से भली भांति समझ सकते हैं कि—देह कुछ नहीं है, संसार कुछ नहीं हैं, संस्कार कुछ नहीं हैं, यह सब मा की स्वेच्छा से की हुई एक क्षुद्रता का खेला मात्र है; परन्तु मन इस क्षुद्रत्व में ही मुग्ध है, उसको छुड़ाने का तो उपाय नहीं है! यह बात नहीं है कि ये दोष पूर्वमें नहीं थे, परन्तु पहले ये इतने पीड़ाकर नहीं थे, उस समय ये संसार-कूप में—विष मिली हुई वायु से पूर्ण अन्धकारमय स्थान में बड़े सुख पूर्वक निवास करते थे; परन्तु जीव अब मेधसाश्रम में उपस्थित हुआ है—समाधि की सहायता प्राप्त की है, निर्म्मल प्रकाश मण्डित-वह उदार अनन्त चिन्मय आकाश दिखाई पड़ा है, अब तो वह पहली दशा प्रीतिकर नहीं है! "त्यक्तुम् भोक्तुमशक्ता ये दुःखिनस्ते त्वहर्निशम्"। इस दशा में विषयाशक्ति-परिहार अथवा विमयभोग जनित आनन्द प्राप्ति, इन दोनों के ही अभावशतः जीव

अत्यन्त दुःखित होने लगता है। इसी से, मन्त्र के प्रथम ही "दुःखाय" शब्द उक्त हुआ है।

अयञ्च निकृतः पुत्रैर्दारैर्भृत्यैस्तथोज्झितः।
स्वजनेन च सन्त्यक्त स्तेषु हार्दी तथाप्यति ॥ २९ ॥
एवमेष तथाहञ्च द्वावप्यत्यन्तदुःखितौ।
दृष्टदोषेऽपि विषये ममत्वाकृष्टमानसौ ॥ ३० ॥

अनुवाद—केवल मैं एका नहीं हूँ, यह जो समाधि है, यह भी पुत्र स्त्री स्वजन और भृत्यजनों द्वारा विताड़ित-परित्यक्त होने पर भी उन पर अत्यन्त स्नेहशील है। इस प्रकार मैं और समाधि दोनों ही अत्यन्त दुःखित हुए हैं; क्योंकि देखे हुए दोषों के विषय में भी हमारा मन ममता से आकृष्ट होता है।

व्याख्या—इतना ही तो चाहिये! हमारी मा इतने ही की तो अपेक्षा करती है,—वह "अत्यन्तदुःखितौ"। अनेक जन्म जन्मान्तर, अनेक युग युगान्तर से लेकर, पुत्र को हृदय में लिये हुए अनन्त जन्ममृत्यु-प्रवाह के भीतर से, पुत्र की ही अभिलाष-सिद्धि के भीतर छिपी हुई अपनी मङ्गलमयी महती इच्छा चलायमान करके, आज मा ने सन्तान को ऐसी एक अवस्था में लाकर उपस्थित किया है,—वह कहता है कि मैं अत्यन्त दुःखित हूँ। वह देखता है कि—विषय-समूह दोषयुक्त-नश्वर परिणामी अकिञ्चित्कर परिच्छिन्न परिणाम-विरस हैं; इतने दोष इस समय दिखाई पड़ते हैं। इतने दिन तो नहीं देखे गये थे अब देखते हैं—"वहुदोषा हि विषयाः"। तथापि ममत्वाकृष्ट-मानस-मन उन्हीं में आसक्त है। इनसे छूटने का भी कोई उपाय नहीं देखता; इस कारण इससे अधिक कष्टदायक और क्या हो सकता है?

सचमुच जीव जब देख लेता है कि—विषय विषमात्र हैं, तो भी

किसी मानों अनजान शक्ति की ताड़ना से उस विष को गले से नीचे उतार लेता है, तब इसकी अपेक्षा अधिक नरकयन्त्रणा और क्या हो सकती है ? पहले-पहले यह यन्त्रणा सामान्य मात्रा में अनुभूत होती है। हमारी मा जितनी दया करके बुद्धिमय क्षेत्र में अवस्थान का सुयोग और समय अधिक कर देती हैं, उतनी ही मानो इस यन्त्रणा की मात्रा अधिक बढ़ती जाती है। जगत् के कार्य्य करते हैं; परन्तु किसी में भी स्वस्ति नहीं पाते। ऐसी एक मर्म्मपीड़ा भीतर ही भीतर होती रहती है कि जिसे साधक के सिवाय और कोई अनुभव कर नहीं सकता। इसी से कहा है कि साधक होने की अपेक्षा, न होने में एक प्रकार का सुख कहा जाता है। जो यह नहीं जानता कि यह विष है, वह अनायास खा सकता है; परन्तु जानबूझ कर विष खाने में जो कष्ट होता है वह वणन नहीं किया जा सकता।

अस्तु, आज हमारी मा गुरुरूप से, शुद्ध बोध रूप से, विज्ञानमय महेश्वररूप से आशुतोषमूर्ति में उपविष्ट होकर पुत्र के मुख से सुनती है कि "हम अत्यन्त दुःखित हैं," एक दिन मा ने गीता के बहाने से अर्जुन को जो उपदेश दिया था—"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्यभजस्वमां"। (९।३३) इस अनित्य असुखमय संसार को पाकर मेरा भजन करो। आज हम देवीमाहात्म्य में आकर उसका कार्य्य-करी अवस्था देखते हैं। सुरथ और समाधि की ठीक वही अवस्था उपस्थित हुई है। यह लोक अनित्य जान पड़ा है; नहीं तो "दृष्टदोषेऽपि विषये" क्यों कहते ? असुख बोध भी यथेष्ट हुआ है; नहीं तो 'अत्यन्त दुःखितौ' क्यों कहते ? सचमुच ही दुःख बड़ी अच्छी वस्तु है। दुःख ही मा को ले आता है। दुःख के समान बन्धु और कोई नहीं है। दुःख देकर ही मनुष्य सुख खरीद लेता है। दुःख ही मानो मा का अग्रदूत है। परन्तु बात यह है कि दुःख का ज्ञान होना चाहिये अनुभव होना चाहिये। अनेक लोग ऐसे हैं कि जिन्हें दुःख ही दुःख

हैं, पहनने को वस्त्र नहीं है, रहने को घर नहीं है, उदर को अन्न नहीं है, भार्या अप्रियवादिनी है, पुत्र अप्रिय है, बन्धुगण उच्छृङ्खल हैं, तो भी अच्छे हैं, खुश हैं। इसी में मुख गुनगुनाते किसी न किसी प्रकार दिन व्यतीत कर डालते हैं। कहिये, उन्हें दुःख का अनुभव कहाँ है! जिनको दुःख का ठीक अनुभव हुआ है, वह शीघ्र ही उस दुःख से मुक्त होंगे। मा इस दुःख के अनुभव ही के लिये तो दुःखरूप से आई है। सांसारिक दुःखों की अनुभूति जगा कर, तब साधन क्षेत्र में जीवों को प्रवेश कराती है; उसके बाद मातृस्नेहरस से सिञ्चित होकर धीरे-धीरे साधन क्षेत्र के दुःख फूट खड़े होते हैं।

समझ लिया कि मा दुःखरूप से भी तुम हो, अनुभवरूप से भी तुम हो, फिर दुःखसंहन्त्रीरूप से भी तुम हो, तथापि कहते हैं— मा! हमको दुःख का अनुभव हो वा न हो, परन्तु तुम तो देखती हो! अज्ञान के घोर अन्धकार से आच्छन्न, अत्यन्त दुःखित सन्तान हम हताश–मन से मार्गभ्रष्ट होकर यथेच्छा विचरण करते हैं; जो प्रारम्भ में मधुर और परिणाम में विरस है, उसी को यथार्थ सुख समझ कर सादर ग्रहण करते हैं; जो वास्तविक आत्म–मोह–जनक है, उस तामसिक सुख को ही भूमा सुख मान कर, निद्रा आलस्य मोह अज्ञानता आदि को जीवन की पूर्ण कृतार्थता जान कर आलिङ्गन देते हैं; और जो वास्तविक सुख है, वास्तविक शान्ति है, उसकी ओर कभी देखते भी नहीं; उसी के फल से अनेक प्रकार के सन्ताप से सदा सन्तप्त होते हैं। देखले मा, तेरे त्रितापदग्ध पुत्र एक विन्दु स्नेह–वारि (जल) की आशा से शुष्ककण्ठ हो "मा मा" कहकर पुकार रहे हैं; और तू विश्व की जननी, विश्व-विधात्री मा होकर पाषाण की भाँति स्थिर धीर अचल मूर्ति में बैठी हुई यह दृश्य किस मन से देख रही है? बड़ा अन्ध जगत्, बड़ा सन्तप्त जगत्, भक्तिहीन, श्रद्धाहीन, मातृ विमुख सन्तान हम परिच्छिन्न में मुग्ध हैं, चञ्चलता और दुर्बलता ही हमारा एक मात्र सम्बल है। इस दुर्दिन में, इस

युगसन्धि के महाक्षण में मा ! तू एक बार स्नेहमयी मूर्ति से खड़ी होकर देख तो सही, हमारा मैंत्व—भाव एक दम ज़ोर करके भुला दो ! और फिर एक बार—केवल एक बार अपने उस पीनोन्नत पयोधर की बोंड़ी को सन्तान के मुख में प्रविष्ट करा दे। जिससे हमारे सूखे हुये कण्ठ रसार्द्र हो जावें—हमारी त्रितापज्वाला बुझ जावे, धन्य देश फिर धन्य हो !

तत् केनैतन्महाभाग यन्मोहो ज्ञानिनोरपि।
ममास्य च भवत्येषा विवेकान्धस्य मूढ़ता ॥ ३१ ॥

अनुवाद—हे महाभाग ! हम सदूसद् विचार-ज्ञान सम्पन्न हैं, यथापि यह मोह क्यों है ? मैं और यह दोनों ही विवेकान्ध हुए हैं। हमारी इस मूढ़ता का कारण क्या है ?

व्याख्या—जीव समाधि की सहायता से नित्य परमात्मस्वरूप में अवस्थान करने का प्रयासी है ; परन्तु मन सर्वदा विषय-इन्द्रिय-संयोग से उत्पन्न परिच्छिन्न ज्ञान से ही परितृप्त है। किसी प्रकार उन पर शासन नहीं कर सकता है, यह देख कर साधक अपनी अज्ञान-अन्धता, मोहमूढ़ता भली भांति हृदयङ्गम कर सकता है, इसी से शुद्ध बोध रूपी गुरु के निकट उपस्थित होकर, उनकी कृपा से यह मूढ़ता दूर करने का प्रयासी होता है।

जब तक यह मोह वस्तु पकड़ा नहीं जाता है, तबतक वास्तविक अभाव क्या है उसे साधक समझ नहीं सकते। शास्त्रमें कहा है "तेषां मोहः पापीयान् नामूढ़स्येतरोत्पत्तेः"। काम क्रोधादि रिपुओं में मोह ही सबसे अधिक पाप है ; कारण कि जो व्यक्ति अमूढ़ अर्थात् मोहाच्छन्न नहीं हैं, उन पर अन्य रिपु आक्रमण नहीं कर सकते। "मोह" शब्द "मुह" धातु से बना है। "मुह" धातुका अर्थ वैचित्र्य है। ममत्व अर्थात् हमारा देह, हमारा गेह, इस प्रकार का ज्ञान ही मोह है। अज्ञान-वैचित्र्य-मूलक है। साधन-क्षेत्र में

प्रथम प्रवेश करके अनेक लोग ऐसा मानने लगते हैं—कि स्त्री पुत्र संसार काम काञ्चन, ये हमारे साधन मार्ग में महान विघ्न हैं। इन से अलग रहे बिना माता की प्राप्ति न हो सकेगी ; परन्तु कुछ आगे बढ़ कर देखते हैं कि संसार है कहां—वाहिर में है या अन्तर में ? वासना का केन्द्र कितना दूर अवस्थित है ? क्रम से जितनी अन्तर्दृष्टि खुलती है, उतना ही समझ सकता है, माया के केन्द्र हमारे अन्तर से अन्तर में ही वद्धमूल है। उसे मूल से उखाड़ने से तो मैं भी नहीं रहता ! तो भी हम चाहते हैं "मैं रहूँ, हमारा ध्वंस हो जाय !" परन्तु "हमारा को खींचने से मैं पर्य्यन्त उखड़ जाता है !" तब फिर और उपाय नहीं है—समग्र साधनशक्ति, योगशक्ति तपस्या बल जितने उपाय हैं उन सब का प्रयोग करने पर भी उसका उचित विधान करने की सामर्थ्य नहीं रहती, वह असहनीय यातना है। जीव चाहता है कि—परमात्म-समुद्र में सदा निमग्न रहता ; परन्तु देहात्मबोध उसको जोर करके नीचे आकर्षण करता रहता है। जिन्होंने चित्क्षेत्र का सन्धान पाया है, उन्होंने ही इस यातना का भलीभांति अनुभव किया है। इसी से सुना जाता है कि गाजीपुर के पत्ताहारी बाबा ने देह पर्य्यन्त "ब्रह्मार्पणं" करके, इस यातना से छूटने का उपाय किया था। महाप्रभु गौराङ्गदेव इस यन्त्रणा से छूटने के लिये ही क्या समुद्र में कूद पड़े थे ? महाराष्ट्रीय सिद्ध महापुरुष तुकाराम ने जान पड़ता है कि इस परिच्छिन्नता के हाथ से परित्राण पाने ही के लिये इन्द्रायणी—नदी के जल में देह विसर्जन किया था। अरे, मन में विचार कर लो कि—सन्मुख अमृत का समुद्र है ; इच्छा करने ही से चिरनिमग्न होकर चिरशान्ति प्राप्त की जाती है ; तो भी क्या अजेय मोह—अनन्त जीवन के कर्म्म—संस्कार की श्रेणी पीछे से पकड़ कर खींच लेती है। ऐसी दशा में देहेन्द्रिय आदि पर एक विद्वेष का भाव क्या अपने आप ही उपस्थित नहीं होता है ?

केवल गुरु कृपा से उस परिच्छिन्नता के ऊपर से विद्वेष दूर होता है। जब जीव अपने को विवेकान्धमूढ़ कह कर भली भांति अनुभव कर सकता है, तब किसी भी चक्षुष्मान् ज्ञानी के चरणों में आत्म-समर्पण करना ही उसका एकमात्र उपाय है। वह धीरे धीरे समझा देंगे कि उस परिच्छिन्नता पर विद्वेष और आसक्ति रूप जो मोह है वह भी मा के अङ्ग का ही भूषण है। हमारी माता लीला-कैवल्य के वश इस अनुराग और विद्वेष के रूप में प्रकाशित होती है, इसका अनुभव कर सकने से, यह मोह दूर हो जाता है, परन्तु शान्तभाव से अग्रसर होना होगा, अधीर होने से काम नहीं चलेगा; छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि—"शान्त उपासीत" बड़ा सुन्दर ग्रहण करने योग्य उपदेश है। जीवत्व के बन्धन से सदा विमुक्ति होना बहुत दूर की बात है—उच्च स्तर के ज्ञान प्राप्त होने योग्य है। धीर-स्थिर भाव से गुरु और वेदान्त-वाक्यों में दृढ़ विश्वास की सहायता से आगे बढ़ना होता है। अधीर होने से उपासना नहीं चलती। सदा स्मरण रक्खो कि एक दिन में मोह नहीं कटता है। पुनः पुनः अनुशीलनरूप अभ्यास और वैराग्य के फल से धीरे-धीरे मोह दूर होता है।

इस मन्त्र में हम देखते हैं कि—सुरथ और समाधि दोनों ही ने गुरु के समीप पहुँच कर अपने को विवेकान्ध और मूढ़ बतलाया है, वही प्रयोजन है। चाहे जितना बड़ा ज्ञानी, चाहे जितना कुलीन क्यों न हो, गुरु के समीप उपस्थित होकर कहना होता है—मैं "अज्ञानान्ध मूढ़ बालक हूँ, मेरे ज्ञान चक्षु उन्मीलित कीजिये"! ऐसा भाव मन में पुष्ट न होने से, यथार्थ गुरु कृपा प्राप्त नहीं होती। गीता में कहा गया है "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"॥ (४।३४) तत्त्वदर्शी महापुरुष तुमको ज्ञान का उपदेश करें, तुम प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा द्वारा उसे ग्रहण करो। प्रणिपात शब्द से केवल कायिक, वाचिक और मान-

सिक प्रणाममात्र नहीं है। प्रणिपात तब ही पूर्णाङ्ग होगा, जब तुम अपने अहंज्ञान को प्रसन्न वदन से बिना विचारे गुरु के चरणों में प्रकृष्ट रूप से निपातित कर सकोगे। मैंने जो जाना और समझा है, वह अति अकिञ्चितकर है, वह ज्ञान मेरे मन में यथार्थ शान्ति नहीं ला सकता है; इस कारण तत्वदर्शी गुरु, आप मुझे ऐसा ज्ञान उपदेश कीजिये, जिससे शोक और मोह से पार जा सकूं। ऐसा सरल भाव अन्तर में पुष्ट करने का नाम ही यथार्थ प्रणिपात है।

सुरथ और समाधि अबतक ऐसा प्रणिपात करने में समर्थ नहीं हुए थे; कारण कि यह कहते थे—"ज्ञानिनोरपि"। "हम समझते हैं, परन्तु कर नहीं सकते"। इस बात के भीतर भी ज्ञान का अहङ्कार विद्यमान है। इसी से, महर्षि ने प्रथम ही उस अहङ्कार को निर्मूल करनेके लिये जो प्रसङ्ग उठाया है, वह अति सुन्दर और अपूर्व है। "समझता हूं परन्तु कर नहीं सकता" यह कहना ही भूल है। समझ लेने से तो निश्चय ही किया जा सकता है। कर नहीं सकते, इस बात से स्पष्ट प्रतीत होता है—कि ठीक ठीक समझा ही नहीं है। अरे जो यथार्थ समझ लेता है कि संसारसंस्कार-श्रेणी मेरी-आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह क्या फिर उसमें मुग्ध हो सकता है? असल बात तो यह है कि समझना ही बाकी है। यह श्री गुरु की कृपा बिना होता नहीं है। ध्रुव प्रह्लाद को, यहां तक कि भगवान् श्रीकृष्ण को भी गुरु करना स्वीकार करना पड़ा था। अहंकार परित्यागपूर्वक निष्कपट मन से प्रणिपात का अभ्यास करो, गुरु के चरणों में शरणागत हो, अपने को विवेकान्ध मूढ़ कह कर पूर्णतया अनुभव करो, तब गुरु निश्चय ही कृपा करेंगे। तुम धन्य होओगे! जगत् पवित्र होगा!

ऋषिरुवाच।

ज्ञानमस्ति समस्तस्य यन्तोर्विषयगोचरे।
विषयश्च महाभाग याति चैवं पृथक् पृथक्॥ ३२॥

अनुवाद—ऋषि कहते हैं—हे महाभाग ! समस्त प्राणियों को ही ज्ञान है; परन्तु यह विषय गोचरमात्र है, और विषय भी पृथक् पृथक् भावापन्न होजाते हैं।

व्याख्या—सुरथ और समाधि जो तत्वज्ञान के समीपस्थ हुए हैं, यह अपूर्व ब्रह्मज्ञान ऋषि के बिना और कोई प्रकाशित नहीं कर सकता। सत्यदर्शी-ऋषिलोग ही प्रत्यक्षवत् ज्ञान साक्षात्कार करते हैं। 'ऋष्' धातु का अर्थ गति है। जो परमात्मक्षेत्र में नित्य-विचरण शील हैं वही ऋषि है, वही सत्यदर्शी हैं, वही मन्त्र द्रष्टा हैं। सत्यस्थ होकर वह जो कहते हैं, वह प्रत्यक्ष दर्शन का फल है। वह अध्ययन अथवा उपदेशजनित ज्ञान नहीं है। उनकी वह धर्म्मवाणी ही मन्त्र वा वेद हैं। उसका पुनः पुनः मनन करने से परित्राण पाया जाता हैं, यह ध्रुव सत्य है। यद्यपि इस देश से बहुत दिन से 'ऋषि' शब्द पर्यन्त उठ गया है ऐसा लोग मानने लगे हैं, तथापि भारतवर्ष अब भी ऋषिशून्य नहीं है। अब भी स्वयं भगवान् ऋषि रूप से जगत् के जीवों के परम कल्याण के लिये सत्य की विजय वैजयन्ती वहन करते हैं। खोजने से निश्चय ही मिलेंगे। ऋषियों का अभाव नहीं हुआ है, पिपासों का अभाव हुआ है। अरे, ऋषि शब्द दो चार बार उच्चारण करने से भी मन पवित्र होता है। उस स्थान का वायु व्योममण्डल तक पवित्र हो जाता है; ऋषि ऐसी वस्तु है! ऋषि, माता के बड़े आदर के बच्चे हैं। ऋषि सदानन्दमय महापुरुष हैं। ऋषि ब्रह्मलिप्त ब्रह्मज्ञ हैं। बाहर के लक्षणों से ऋषि का पहचानना अति कठिन है। किसीको भी अपना–परिचय देनेके लिये वह किसी प्रकार का मिथ्या–आडम्बर धारण नहीं किये रहते।

अस्तु, ऋषि कहते हैं—सब प्राणियों को ही ज्ञान है, परन्तु वह ज्ञान विषय गोचर है। "विषय" शब्द का अर्थ—रूपरसादि है। "गो" शब्द का अर्थ इन्द्रिय है और "चर्" धातु का अर्थ विचरण है। जो ज्ञान इन्द्रिय–मार्ग से विचरण करके विषयाकार में प्रकटित होता

है, उसीको विषयगोचर ज्ञान कहते हैं। वत्स सुरथ! तुम जो अपने को ज्ञानी मानते हो, ऐसा ज्ञान प्राणी मात्र को ही है। आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि-विषयक ज्ञान सब प्राणियों में साधारण है। उनका सकल ज्ञान जिस प्रकार विषय और इन्द्रिय-संयोग से प्रकाशित होता है, तुम्हारा जो राज्यादि विषयक ज्ञान अथवा समाधि का जो स्त्री पुत्रादि-विषयक ज्ञान है, वह भी उसी प्रकार विषयगोचर ज्ञान मात्र है। जिस ज्ञान के प्राप्त होने से अपने को ज्ञानी माना जाता है, उस गोचरातीत ज्ञान का पता पाये विना भी अपने को ज्ञानी मानना अज्ञान मात्र है।

यहां पर हम सर्वसाधारण प्राणियों में विद्यमान रहने वाले ज्ञान के स्वरूप की आलोचना करते हैं। वह क्या है? देखिये, जीव एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय पर्यन्त जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें भोगते हैं। प्रथम जाग्रत अवस्था को लीजिये— यह अवस्था कुछ विशिष्ट-ज्ञान की समष्टि मात्र है देखना, सुनना, आहार, विहार, अर्थोपार्जन आदि जो कुछ जाग्रतकाल में कार्य्य किये जाते हैं, वे सब ही ज्ञान मात्र हैं। रूप विषयक ज्ञान, रस विषयक ज्ञान, स्पर्श विषयक ज्ञान इत्यादि। एक ही ज्ञान अनेक विशेषणयुक्त होकर भिन्न-भिन्न भावों से प्रकाश पाता है। उस विशेषण-अंश का परित्याग कर देने से, जो अखण्ड शुद्ध ज्ञान शेष रहता है, वही जाग्रतकाल में ज्ञान का स्वरूप है। यही दशा स्वप्न अवस्था में होती है। उस समय केवल अन्तःकरणचतुष्टय क्रियाशील होता है। उस अवस्था में भी दर्शनादि कार्य जाग्रतवत् विद्यमान रहते हैं; इस कारण रूप रसादि विशेषणविशिष्ट होकर ही ज्ञान प्रगट होता है। वह विशेषण-अंश परित्याग करने से, विशुद्ध अखण्ड ज्ञान का स्वरूप प्रकाशित होता है। इसके बाद सुषुप्ति अवस्था है। इस अवस्था में समस्त इन्द्रियां अन्तःकरण सहित लय को प्राप्त होती हैं, किसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश अवश्य नहीं

रहता, परन्तु निद्राभङ्ग होने पर ऐसी प्रतीति होती है कि "मैं सुख से सोया था, इतनी घटना होगई परन्तु मुझे कुछ भी मालुम नहीं हुआ"। यह जो न जानना वा अज्ञान है, यह भी एक प्रकार का ज्ञान है। सुषुप्त अवस्था में उस अज्ञान-विषयक ज्ञान विद्यमान रहने से ही, जाग्रत काल में उसकी स्मृति होती है। पूर्व जिसका कभी भी अनुभव नहीं हुआ, उसकी स्मृति असम्भव है, इस कारण समझा जा सकता है कि—तीनों अवस्थाओं में जीव ज्ञान में अवस्थित है। ज्ञान का अभाव कभी नहीं होता। दिन सप्ताह पक्ष मास वर्ष युग जन्म जन्मान्तर लेकर जीवसमूह इस एक अखण्ड ज्ञान में अवस्थित हैं। इसी से महर्षि कहते हैं, "ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोः"। परन्तु यह ज्ञान विषय-गोचर है, अर्थात् विशेषणयुक्त वा विशिष्ट होकर ही यह ज्ञान प्रकाशित होता है। घट विषयक ज्ञान, पट विषयक ज्ञान, पुत्र विषयक ज्ञान इत्यादि आकार में आकारित होकर दिनरात एक ही ज्ञान भिन्न-भिन्न भाव से प्राप्त होता है। ज्ञान के इस विशिष्ट भाव से प्रकाश का नाम ही विषयगोचर ज्ञान है।

अच्छा, अब धीर भाव से समझने की चेष्टा कीजिये। जाग्रत-स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन प्रकार की अवस्था में ज्ञान के ऊपर जो विशेषण-अंश देखते हो, उसे परित्याग करके, जो अखण्ड एक रस ज्ञान को पाते हो, वह तुम्हारा तो है! अरे, क्या किसी दूसरे के पास से ग्रहण करना है? तुम्हारा ही है। तुम्हारे जन्म से मृत्यु पर्यन्त वह एक ही अखण्ड ज्ञान अनेक विशेषणों से विशेषित होकर प्रकाशित होता है। कभी कामिनी काञ्चन, कभी धर्मार्थकाममोक्ष; अर्थात् भोग और अपवर्ग, यह एक ही ज्ञान के भिन्न भिन्न प्रकाश मात्र हैं। इस प्रकार अनादि जन्म मृत्यु ये ज्ञान के अङ्क में ही संघटित होते हैं। ज्ञान के हृदय पर तुम उत्पन्न, स्थित और मृत होते हो।

गीता में कहा है, "ज्ञानं लब्धा परां शान्ति न चिरेणाधि-

गच्छति"। (४। ३६) ज्ञान प्राप्त होने से शीघ्र ही शान्ति प्राप्त होती है। ज्ञान ही यथार्थ शान्ति है। ज्ञान में ही सब कर्म्मों का अवसान (अन्त) है। ज्ञान ही अमृत है। ज्ञान प्राप्त होजाने से सब भय दूर होजाते हैं। अब यह समझना चाहिये कि कौन सा ज्ञान प्राप्त कर लेने से शान्ति प्राप्त होती है और सब कर्म्मों का अन्त होता है? वेदान्त-शास्त्र ज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहता है, अब समझ लो कि वह कौनसा ज्ञान है? यह सब जीवों में सदा प्राप्त जो ज्ञान है, यह वही ज्ञान है, उपदेश वा अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान नहीं है। वह सब जीवों में समभाव से अवस्थित है, इस कारण बड़े से बड़ा मूर्ख, अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी इच्छा करने से इस ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। इसी का नाम प्रज्ञान वा ब्रह्म है। यह जबतक केवल वाचनिक ज्ञान में समाप्त रहता है, तबतक विशेष कुछ भी प्राप्त नहीं होता; यह ज्ञान अति प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान के उदय से जगत्सत्ता विलुप्त होती है, इसी से आचार्य शंकर ने जगत् को मिथ्या कहा है। यह ज्ञान इतना घन है कि पत्थर भी इससे पराजित हो जाता है इस विषय में एक आत्म-सम्वेदन है 'आकाशादपि तत् सूक्ष्मं घनं तत् सैन्धवादपि। शैलादप्यचलं विद्यात् चिन्मात्रं पूर्णमद्वयम्"॥ यह ज्ञान एक तत्व मात्र नहीं है, उसका व्यक्तित्व है। वह एक जन है। उससे प्रेम करना होगा, सेवा करनी होगी, अपना प्राण निवेदन करना होगा, तब वह—सर्व्वेन्द्रियगुणाभासं सर्व्वेन्द्रिय विवर्जितम्। असक्तं सर्व्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच" गीता (१३-१५) इस मूर्ति में प्रकटित होगा। तब तुम देखोगे, कि "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुराद्यं पुरषं प्रधानम्" रूप से सर्वभूत-महेश्वर-मूर्ति में अपना प्रकाश करके तुमको कृत्य कृत्य कर देंगे। अरे, सत्य ही इस ज्ञान को ग्रहण किया जाता है। मनुष्यमात्र ही इसे प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यह केवल भाषा की झङ्कार नहीं है, ज्ञान से वा

अज्ञान से सब ही इस ज्ञान में अवस्थान करते हैं; सुतरां ज्ञानसे वा अज्ञान से सब ही ज्ञान के साधन करते हैं; किन्तु—वह विषय-गोचर है। जबतक जगत् की धूलि वा ज्ञान की परिच्छिन्नता-मात्र को प्रियतम जानते हो तबतक वह ज्ञान विषय और इन्द्रियसंयोग के कारण खण्ड-खण्ड आकार में प्रकाशित होता है।

असंख्यभाव से, असंख्य विशेषणों से यह ज्ञान परिच्छिन्न होने पर भी, उसका श्रेणी विभाग करने से, केवल पांच विभाग देखे जाते हैं। पञ्चइन्द्रिय द्वारा पांच प्रकार के ज्ञानतरङ्ग सदा प्रत्येक जीव के अन्तर में प्रकाश और लय पाता है। ऐसा समझिये कि एक अखण्ड ज्ञान समुद्र है, उसमें असंख्य तरङ्ग हैं; उन तरङ्गों को ग्रहण करने के लिये हमारी पांच इन्द्रियां हैं। इसी ज्ञान का नाम गुरु वा शिव है। स्थूल मूर्त्ति गुरु यह ज्ञान का ही घनीभूत प्रत्यक्ष विकाश है। पांच प्रकार से ज्ञान प्रकाशित होता है, यही शिव के पञ्चमुख हैं। यहां पर यह भी कह देते हैं कि—कोई यह न मान लेवे कि शिव नाम से पञ्च-मुख कोई देवता नहीं है। इस ज्ञान का साधन करने से फिर विशिष्ट मूर्ति में प्रगटित् होने के लिये भक्त के मन में कातर प्रार्थना उपस्थित होने पर, भक्ति के प्रबल हिम से घनीभूत होकर, उस अखण्ड ज्ञान-समुद्र से चांदी के पहाड़ सदृश श्वेत, सर्व-भयहर, आशुतोष, पञ्चवक्त्र, त्रिनेत्र, वरदमूर्ति आविर्भूत होकर, दया की पराकाष्ठा से साधक के अज्ञानान्ध नेत्र चिरतरे उन्मीलित कर देते हैं।

इसी ज्ञान का दूसरा नाम चित् है। प्रतिमुहूर्त्त में ही तो हम इस को—अपनी चिन्मयी मा को अपने अज्ञानान्ध-नेत्र-उन्मीलनकारी गुरु को पाते हैं। प्रति श्वास प्रश्वास में, प्रति-इन्द्रिय सञ्चालन में उसको ग्रहण करते हैं; परन्तु कहिये, कभी एक दिन भी क्या उसको मा कह कर आदर किया है? अजी, तुम ही हमारा सर्वस्व हो, अजी तुम्हारे न रहने से हमारा कुछ भी नहीं रहता है! तुम जरा ठहरो तो, थाड़ा अवज्ञा का प्रणाम

लिये जाओो, क्या एक दिन भी ऐसा ठीक-ठीक कहा है, जिससे उनको पायेंगे ? वह आती है, प्रत्येक पद-पद पर उसका आविर्भाव होता है ! परन्तु हम उसका आदर नहीं करते हैं। वह उपेक्षित होकर कुटिल कटाक्ष से चली जाती है, फिर स्नेह के पीड़न से बाध्य होकर लौट आती है, और फिर अनादृत होकर चली जाती है। इस प्रकार कितने ही युग युगान्तर हो गये हैं, अब मनुष्य होकर इसे समझ सके हो, क्या अब भी उसका अनादर करोगे ! एक बार इन्द्रियों द्वार पर अपेक्षा करो, उसको पावोगे, इस अपेक्षा में बैठे रहो, यद्यपि अनेक बार विफल होंगे; परन्तु यह विफलता ही तुमको सफलता ला देगी। उसका तो फिर आना बंद नहीं है ! दिन रात आती है और दिन रात चली जाती है। एक बार निश्चय ही उसको प्राप्त कर सकोगे। यदि प्राप्त न कर सको, तो उसका आगम-निर्गम (आना जाना) अनुभव करके इन्द्रिय मार्ग में बैठ कर रोओ। यह मार्ग से वह आती है और यह मार्ग से वह चली जाती है, यदि वह आते जाते दिखाई नहीं पड़ती है, तो उसके आने जाने का मार्ग उसकी चरणरज से पवित्र किया हुआ है। वहां बैठ कर रोओ, उस मार्ग की धूल शरीर से मलो—जीवन धन्य होगा ! वह दर्शन देगी।

सुरथ ने कुछ ज्ञान का गर्व किया था, इसीसे महर्षि ने प्रथम एक ही बात में उसका वह गर्व दूर करके, जो महान् तत्व सन्मुख रक्खा था, उस से सुरथ और समाधि दोनों ही धन्य हुए थे। अनेक युग युगान्तर बाद, उसके एक बिन्दु का आस्वाद लेकर हम भी धन्य होते हैं। कुछ भी हो, जीव साधारणतः इस विषयगोचर ज्ञान में ही विचरण करते हैं। जब तक इस सहज अखण्ड ज्ञान का सन्धान नहीं पाते, तब तक वह कितने ही बड़े विद्वान् क्यों न हों, कैसे ही तपस्वी कैसे ही योगी, कैसे ही शक्तिशाली क्यों न हों, वे अज्ञान—शिशु हैं। इस एक अखण्ड ज्ञान के बिना जितने ज्ञान हैं, वह विशिष्ट—ज्ञान वा ज्ञानभास मात्र हैं। समुद्र और तरङ्ग में जो प्रभेद है, वही प्रभेद ज्ञान

और विशिष्ट (प्रसिद्ध-विलक्षण) ज्ञान में हैं। जब तक वह प्राप्त नहीं होता, तब तक मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से साधारण प्राणियों की अपेक्षा विशेष श्रेयान् नहीं है। यह बात समझने ही के लिये महर्षि ने "सम स्तस्य जन्तोः" शब्द का प्रयोग किया है।

इस अखण्ड ज्ञान समुद्र की भिन्न-भिन्न तरंगें ही विचित्रतामय भिन्न-भिन्न विषयरूप से प्रतिभात होती हैं। इसी से मन्त्र में कहा गया है, "विषयश्च महाभाग याति चैव पृथक् पृथक्"। विषय क्या है ? इन्द्रिय ग्राह्यवस्तु। "षिञ्" धातु का अर्थ बन्धन है। जो विशेष-रूप से बन्धन करे उसका नाम विषय है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पांच विषय हैं। पांच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ये ग्रहण किये जाते हैं।

पूर्व कहा गया है कि—ज्ञान अखण्ड है। इस अखण्ड वस्तु के पांच भेद किस प्रकार होते हैं ? समुद्र में चाहे कितनी ही तरंगें क्यों न उठें, परन्तु सब जलरूप ही प्रतीत होती हैं, ठीक उसी प्रकार ज्ञान समुद्र के जो ये पांच प्रकार के तरङ्ग विभाग हैं, वह भी ज्ञान के आकार में ही प्रतीयमान होना उचित हैं; तो भी ऐसा न होकर, रूप रसादि आकार से उनका अनुभव क्यों होता है ? ज्ञान रूप से अर्थात् रूपविषयक ज्ञान, रसविषयक ज्ञान इत्यादि रूप से प्रतीति योग्य क्यों नहीं होते ? ऐसी आशङ्का के उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि ऐसी प्रतीति ही यथार्थ है, तथापि ज्ञान साधारणतः रूप रसादिरूप से ही गृहीत होता है; कारण कि ज्ञान रूप विशेष्य-अंश तिरस्कृत वा आच्छादित रहता है; केवल विशेषण अंश सब जीवों में साधारण भाव से प्रतीत होता है। इसका भी कारण क्या है ? हमने चाहा। एक दिन आनन्द के उच्छ्वास से बहुत्व की क्रीड़ा करेंगे, यह कह कर अभिलाषा की थी, इसी से अखण्ड ज्ञान एवं एक रसस्वरूप होने पर भी, अनेक आकार से हमारी प्रतीतियोग्य होता है। जब तक बहुत चाहेंगे, तब तक यह एक होकर भी, अनेक नाम, अनेक रूप से

अनेक व्यवहारों से हमारे बहुत्व की इच्छा मिटावेंगे। जिस दिन कहेंगे—मा अब बहुत्व नहीं चाहिये, एक होओ, एक करो ! यह बात जिस दिन सत्य-सत्य प्राण के अन्तस्तल से कहने लगेंगे, उसी दिन से वह हमारे निकट एक रूप से ही विराजमान रहेगी। एक खांड़ के बने हुए पेड़े (सन्देस) अलग-अलग सांचों में तय्यार करने के कारण कोई गोल कोई आम के आकार का कोई गुझिया, कोई चौकोर इत्यादि अनेक नामों और अनेक आकार से परिचित होते हैं। छोटे छोटे बालक कहते हैं, हमको गोल सन्देस नहीं चाहिये, हम तो चतुष्कोण लेंगे। उसकी दृष्टि में केवल वह आकृतिगत विचित्रता ही प्रीति वा अप्रीतिकर विषय है; परन्तु जवान आदमी उसके आकृति गत बहुत्व में भी एक ही वस्तु देखता है। गठन वैचित्र्य उसकी प्रीति वा अप्रीति का विषय नहीं होता। इस प्रकार एक अखण्ड ज्ञान ही सब जीवों में साधारण भाव से अवस्थित है; तथापि अज्ञान के प्रभाव से संस्कारगत विचित्रता के कारण वह विभिन्न भाव से ग्रहण किया जाता है।

सुनिये, एक मात्र विष्णु का परमपद सर्वत्र अवस्थित है, उसके भिन्न-भिन्न स्पन्दनसमूह इन्द्रिय द्वार से जीवों के संस्कारों में उपस्थित होते हैं और उसके समान जाति के संस्कारों को जागृत करते हैं। यही परमपद का अर्थ वा पदार्थ है। संस्कार ही विषय-आकार में बाहिर प्रकाशित होते हैं। पूर्व कहा था कि जगत् बाहिर नहीं है, हमारे ही ज्ञान में अवस्थित है, हमारा ही ज्ञान जगदाकार से आकारित होरहा है। जिस शक्ति के प्रभाव से वह अखण्डज्ञान खण्ड खण्ड होता है—विषय आकार में प्रकाश पाता है, वही इस चण्डी में महामाया रूप से वर्णित हुआ है। साधक रामप्रसाद ने भी गाया है—"ज्ञान समुद्र के बीच में, रे मन शक्तिरूपा मुक्ताफले"। जब गुरु कृपा से जीव का तृतीय नेत्र उन्मीलित होता है, तब वह व्यक्ति देखता है कि विषय बोलकर कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, एक शक्ति ही भिन्न

भिन्न विषयाकार में प्रकाशित होरही है। पूर्व भी कहा गया है कि दिखाई देने वाला यह जगत् एक शक्ति मात्र है। प्रत्येक परमाणु ही शक्ति है। विषय समूह जो शक्ति मात्र हैं, यह आधुनिक जड़ विज्ञान से भी प्रमाणीकृत होता है। जबतक जीव शिशु रहता है, इस अखण्ड ज्ञान का सन्धान नहीं पाता है, तबतक ही शक्ति रूपिणी महामाया, हमारी मा एक ही ज्ञान को भिन्न भिन्न भाव से, भिन्न भिन्न रस से आस्वादित कराती (चखाती) रहती है। एक ही ज्ञान भिन्न भिन्न जीवों में भिन्न भिन्न रस से रसमय करके हमारे मुखरोचक कराती रहती है। अस्तु, याद रक्खो कि—एक ही ज्ञान एवं अनेक विचित्रता करने वाली विषयाकार से प्रकटिता महाशक्ति यही मूलतत्व है। यह ज्ञान और शक्ति वास्तव में अभिन्न है। यह भी पूर्व निरूपित हुआ है, आगे और भी विशेषरूप से व्याख्या की जायगी।

दिवान्धाः प्राणिनः केचित् रात्रावन्धास्तथापरे।
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्य दृष्टयः॥ ३३ ॥

अनुवाद—कुछ प्राणी दिवान्ध हैं, कोई कोई प्राणी रात्र्यन्ध हैं, और कुछ दिन रात दोनों में तुल्य दृष्टि वाले हैं।

व्याख्या—पूर्व कहा गया है कि ज्ञान अभिन्न होने पर भी विषय गोचर के कारण अनेक रूप से प्रकाशित होता है; इस कारण विषय समूह भी पृथक् पृथक् रूप से प्रतीति योग्य होते हैं। अब यहां पर यह विषय भोग वा अनुभूतिगत विभिन्नता प्रकाशित होती है। कुछ प्राणी (मनुष्य) दिवान्ध हैं। दिवा शब्द का अर्थ प्रकाशात्मक वस्तु—ज्ञान, उसमें अन्ध—देख नहीं पाते हैं। एक मात्र ज्ञान ही जो विषय रूप से सदा प्रकाशित होता है उसका अनुभव नहीं कर सकते। वह देख सकते हैं—रूप रसादि विषय वा जगत्। लोग सैकड़ों हजारों बार यह समझ लेने पर भी कि ज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं है, फिर भी उसे ग्रहण नहीं कर सकते। यह साधारण जीव जगत् की दशा है।

द्वितीय एक श्रेणी है कि वह रात्र्यन्ध है, अर्थात् दिनमें देखती है। यह श्रेणी जगत् मिथ्यावादी नाम से प्रसिद्ध हैं। कारण सत्य परमार्थ ज्ञान प्राप्ति करने को पूर्व ही यह कहते हैं कि—अखण्ड ज्ञान समुद्र में तरङ्ग रूप से वह जो विषय रूपिणी महाशक्ति सदा प्रकाशित रहती है, वह भ्रान्ति वा मिथ्या है; इस कारण दर्शन के योग्य नहीं है। इससे यह परिदृश्यमान जगत्-अंश उनके निकट रात्रितुल्य अर्थात अज्ञात ही है। विशेष बात यह है कि उनसब जगत् को मिथ्या कहने पर कार्य्यतः जगदीश्वर को भी मिथ्या कह कर उड़ाने की चेष्टा करते हैं। लेकिन स्वयं सतत जगत् ज्ञान में ही विचरने को बाध्य हैं, ये वास्तव में रात्र्यन्ध हैं।

तीसरी और एक श्रेणी है, वह उभयत्र तुल्य दृष्टि सम्पन्न है। यह सत्यदर्शी ऋषि नाम से प्रसिद्ध है। चित्, अचित्, सत्, असत्, ज्ञान अज्ञान, ज्ञाता ज्ञेय, सर्वत्र एक अखण्ड परमात्मसत्ता देखने का ही उनको अभ्यास है। इसी से ये दिनरात उभयत्र अभेददर्शी, तुल्यदर्शी हैं। अज्ञान जो ज्ञान का ही एक प्रकार का प्रकाश है, वे इसका अनुभव कर सकते हैं! एक अखण्ड ज्ञान ही जो अखण्ड शक्तिमय है और वह अखण्ड शक्ति जिस आनन्द लीला में नाम रूप-व्यवहारात्मक विषय के आकार में जीव जगत् रूप से प्रकाशित है, इसे वे प्रत्यक्ष कर सकते हैं। ऋषि लोग इस सर्वशास्त्र-प्रतिपाद्य तत्व में सदा अवस्थित हैं; इस कारण दिवारात्रि अर्थात् ज्ञान अज्ञान, प्रकाश अप्रकाश, दोनों ही में वे तुल्य दृष्टि सम्पन्न हैं।

गीता में भी ठीक इसी भाव का एक श्लोक है—"या निशा सर्व्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" ॥ (२।६९) जो सर्व भूतों के लिये निशा अर्थात् अप्रकाश है, संयमी साधक उस आत्मज्ञानरूप नित्य प्रकाशात्मक वस्तु में सदा जाग्रत हैं। वह सर्वदा ज्ञान में ही विचरण करते हैं। और समस्त प्राणी जिस विषय ज्ञानरूप परिच्छिन्नता में विचरण

करते हैं, सत्यदर्शी साधकों के पक्ष में वही निशा अर्थात् अदृश्य है। क्योंकि साधारण मानवों की भांति वह विषयों को विषय मात्र रूप से ग्रहण नहीं करते। "आत्मा—ज्ञानरूपिणी मा हमारे विषयाकार में स्वेच्छा से प्रकाशित है," ऐसा दर्शन का ही उनको अभ्यास है। किन्तु जो जगत् को मिथ्या कहते हैं, वह भी यथार्थवादी हैं; वह उक्ति भी बिलकुल सत्य है; क्योंकि जगत् को केवल जगत्रूप से दर्शन का नाम ही मिथ्या—दर्शन है। ब्रह्म ही जगत्रूप से प्रकाशित है, यह दर्शन ही सत्य दर्शन है! परन्तु कोई लोगों ने उसका अनेक प्रकार कूटार्थ करके, ब्रह्मज्ञान को एक नीरस किम्भूत—किमाकार पदार्थ कर डाले हैं। अरे, जिस ब्रह्मशब्द के स्मरण मात्र से शरीर पुलकित होता है, इन्द्रियाँ स्तम्भित हो जाती हैं, हृदय पिण्ड की क्रिया बन्द हो जाती है, चक्षु शव (मुर्दके) चक्षुवत् प्रभाहीन होजाते हैं। नेत्र प्रान्त में विन्दु विन्दु आनन्दाश्रु देखा जाता है, और भी अनेक वाह्य लक्षण प्रकाशित होते हैं; वही ब्रह्म परमात्मा आदि शब्द आजकाल मुख मुख से ऐसे अवज्ञात होते हैं कि जिसे देखने से यथार्थ ही मर्म्मपीड़ा उपस्थित होती है। परन्तु वह और बात है—

मा जिस प्रकार जीव, ईश्वर और ब्रह्म वा क्षर अक्षर पुरुषोत्तम है, इन तीन प्रकार के आकार में अपना स्वरूप प्रकटित किया है, उसका दर्शन भी उसी प्रकार तीन भावों में प्रकाशित है। ऐसा दर्शन अनादि काल से चला आया है और अनन्त कालतक चलेगा। इन तीन प्रकार के दर्शकों में किसी के भी दर्शन में भ्रम नहीं है, किसी के भी नेत्रों में पीड़ा उत्पन्न नहीं हुई है कि जिससे वह भ्रान्ति देखें। भ्रान्ति तो हमारे मा है। इसी से कहा है कि, सब ही सत्य-दर्शी हैं। जो विषयमात्रदर्शी ज्ञान से अन्ध हैं, वे ही दिवान्ध हैं! उनके निकट मा उसी रूप से प्रकाशमान है। जो ज्ञान मात्र दर्शन करते हैं, विषयों को मिथ्या कहकर उड़ा देते हैं, वे रात्र्यन्ध हैं, उनके निकट

मा उसी भाव से प्रकटिता है। और तीसरे—जो सर्वत्र सत्यदर्शन करते हैं—ज्ञान अज्ञान दोनों ही जिनके निकट तुल्यभाव से ब्रह्मसत्ता के ज्ञापक हैं, हमारी मा ने उनके निकट उसी प्रकार भाव से आत्म-प्रकाश किया है ऐसा समझना होगा। जीवों की क्रमगति भी ठीक इसी प्रकार होती है। प्रथम बहुत्वप्रिय जीव विषय मात्र को देखकर तृप्त होता है। जगत् की धूलि शरीर से मल कर प्रसन्न होता है। फिर विषय को दूर कर देता है, केवल विशुद्ध चैतन्यसत्ता-ग्रहण करने को उद्यत होता है। यह ज्ञान का द्वितीय स्तर है। अन्त में जब यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है—तब देखता है कि सब एक है—सब ही मधु है। कुछ त्याज्य नहीं है, कुछ भी ग्राह्य नहीं है। त्याग और ग्रहण बोलकर कुछ भी नहीं है, हमारी ही अनन्त आनन्दमय सत्ता सर्वत्र पूर्णभाव से विराजित है।

हमारी मा सच्चिदानन्दमयी है। अपना सत् स्वरूप विशेषभाव से प्रगटित करने के लिये वह जड़—आकार से प्रकटिता है। जबतक जीव इस जड़ की वा मा की अपनी घनीभूत सत्-स्वरूप की सेवा से सन्तुष्ट है, तबतक वह दिवान्ध वा प्रथम श्रेणी का जीव है। द्वितीयतः हमारी मा विशिष्टभाव से चित्स्वरूप प्रकट करने के लिये प्राणि रूप से—चैतन्यरूप से सर्वत्र विराजिता है। जब जीव उस सत्-स्वरूप को परित्याग करके, केवल मा की शुद्ध चैतन्यमयी मूर्ति देखने को अग्रसर होता है, तब वह रात्र्यन्ध वा द्वितीय स्तर का जीव है। फिर जिन्होंने मा की आनन्दघन मूर्ति का पता पाया है, वह ज्ञान में, अज्ञान में, जड़ में, चैतन्य में सर्वत्र मा की सच्चिदानन्द-मूर्ति का दर्शन करते हैं। ये ही दिवारात्र उभयत्र तुल्यदृष्टिसम्पन्न वा तृतीय स्तर के जीव हैं। जीव मात्र को ही इन तीन प्रकारके दर्शन में होकर ब्रह्मत्व प्राप्त करने होता है। इसमें एक को त्याग कर दूसरे का ग्रहण नहीं होता है; इस कारण इस मन्त्र में किसी की निन्दा वा प्रशंसा नहीं की गई है। पूर्व मन्त्र में जो अखण्ड ज्ञानतत्व

निर्णित हुआ है, वह ज्ञान किस भाव से जीव जगत् में प्रकटित और अनुभव के योग्य है, उसको इस मन्त्र में प्रकाश करना महर्षि का अभिप्राय है।

ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किन्तु ते न हि केवलम्।
यतो हि ज्ञानिनः सर्व्वे पशुपक्षिमृगादयः॥ ३४॥

अनुवाद—हे सुरथ! मनुज ज्ञानी हैं; यह सत्य है; परन्तु केवल उन्हीं को ज्ञान है, यह बात नहीं है; क्योंकि पशु पक्षी मृग आदि सब प्राणियों में ही ज्ञान विद्यमान है।

व्याख्या—जीवसमूह जाग्रतादि तीन अवस्थाओं में एक मात्र ज्ञान में ही अवस्थित हैं, यह बात पूर्व विशेषभाव से कही जा चुकी है। वह ज्ञानसत्ता केवल मनुष्यों में ही नहीं है, पशु पक्षी आदि प्राणिमात्र ही ज्ञानसत्ता से सत्तावन् हैं। आहार निद्रा भय मैथुनादि के बहाने से वह विषयगोचररूप से प्रगटित है। एक बात में जगत् एक मात्र ज्ञान से ही उत्पन्न है, ज्ञान में ही अवस्थित है, और ज्ञान में ही पुनः लीन होता है। ज्ञान के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है। जो जड़-पदार्थरूप से हमारे निकट प्रतीत होते हैं, वह भी ज्ञान की घनीभूत अवस्था है, ज्ञान ही जगत् के आकार से आकारवान् होकर प्रकाशित होता है। हमारी मा ज्ञानमयी मूर्ति से सर्वत्र सुप्रगट होने पर भी, पशु पक्षी आदि मनुष्य के सिवाय अन्य प्राणी उसका अनुभव नहीं कर सकते; कारण, वह अब भी उतने समुन्नत और प्राधान्य पूर्ण इन्द्रियांदि प्राप्त नहीं कर सके हैं; परन्तु मनुज सन्तानों को मा ने ऐसे क्षेत्र में लाकर उपस्थित किया है, ऐसी पूर्णकरण प्रदान की है कि यह इच्छा करने से, उस चिन्मयी मूर्ति का साक्षात् करके अमरत्व प्राप्त कर सकता है। यथार्थ में मा की यह सर्व्व प्राणियों में साधारण अखण्ड ज्ञानमयी मूर्ति, प्रत्यक्ष करनेसे, मनुष्य समझ सकता है—"नैनंछिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न

शोषयति मारुतः"। शस्त्र इसको छेदन नहीं कर सकते, अग्नि इसको भस्म नहीं कर सकती, जल इसको नष्ट वा भिगो नहीं कर सकता और वायु इसको शोषण नहीं कर सकती, इस कारण "न जायते म्रियते वा कदाचित्"; मैं जन्म मृत्यु के अतीत हूँ। मा की इस ज्ञानमयी मूर्ति का साक्षात्कार प्राप्त करने से, फिर इन सबका अनुभव हो सकता है, इससे पूर्व तो इन वाक्यों के अर्थ का ज्ञान ही नहीं होता। केवल पक्षी के राधाकृष्ण बोलने की भांति मौखिक आवृत्तिमात्र की जाती है। जबतक मनुष्य इस सहज ज्ञान प्राप्त से विमुख रहता है, तबतक वह चाहे कितना ही विद्वान्, चाहे जितना धनी, चाहे जितना यशस्वी क्यों न हो, पशुओं में और उसमें विशेष अन्तर नहीं रहता; इस बात को समझाने के लिये ही महर्षि महाराज सुरथ को पशु पक्षियों के तुल्य ज्ञानवान् रूप से स्वीकृत करते हैं।

ज्ञानञ्च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम् ।
मनुष्याणाञ्च यत्तेषां तुल्यमन्यत्तथोभयोः ॥३५॥

अनुवाद—मृगपक्षी आदि को जैसा ज्ञान है, मनुष्यों में भी प्रायः वैसा ही ज्ञान दिखाई पड़ता है, और मनुष्यों में जैसा ज्ञान प्रियता है, मृग पक्षियों में भी वैसा ही ज्ञान प्रियता विद्यमान है। इसके सिवाय अज्ञानांश में भी दोनों समान हैं।

व्याख्या—पूर्व मन्त्र में सामान्यभाव से कहा गया है कि केवल मनुष्य ही ज्ञानी नहीं है, पशु पक्षी आदि को भी वैसा ही ज्ञान है। यहां पर 'ज्ञानञ्च' इत्यादि वाक्य में, उसी को विशेष रूप में समझाते हैं। इस मन्त्र में प्रथमार्द्ध के मृग पक्षी आदि तिर्यक् जाति के ज्ञान के साथ मनुष्य आदि के ज्ञान की समानता प्रतिपादित हुई है। वह तुल्यता आहार निद्रा भयादि-विषयक हैं; कारण कि पशुओं का ज्ञान जैसा केवल आहारादि के कारण से—परिच्छिन्न आकार में ही प्रकाशित है; साधारण मनुष्यों का ज्ञान भी ठीक उसी प्रकार है।

पशुओं की भांति वह भी एक बार आहार करते हैं; फिर आहार की चेष्टा करते हैं। इन्द्रियों के थक जाने पर निद्रित होते हैं। मृत्यु से सदा ही भय प्राप्त होता है। अपने मरण याद आ जाने पर बिना जाने हुए भी हृदय के भीतर कैसा भय प्राप्त होता है। इसके सिवाय और एक कार्य है—इन्द्रिय चरितार्थता यह जो देखते हो कि वर्त्तमान पश्चिमी सभ्यता के अधिक प्रचार से मनुष्यों के ज्ञान-विज्ञान का प्रसार सर्व दिशाओं में व्याप्त और विस्मयोत्पादक होने लगा है। आर्ष दृष्टि से वह भी पशूचित ज्ञान रूप से प्रतीत होता है। जो ज्ञान की सीमा केवल भौतिक जगत् पर्य्यन्त व्याप्त है; वह जितना भी मार्जित् सुसंस्कृत और अभ्युदय सम्पन्न क्यों न हो, वह अज्ञान नाम से ही प्रसिद्ध होता है। अज्ञान शब्द से ज्ञान का अभाव अथवा ज्ञान का विरोधी अनिर्वचनीय कुछ नहीं समझा जाता है। ईषत् भाव से प्रकटित ज्ञान को ही अज्ञान कहते हैं। सर्व प्राणी साधारण पूर्व कहे हुए वह अखण्ड सहज ज्ञान जब परिच्छिन्नरूप में अर्थात् नाम और रूपआदि विशिष्ट होकर प्रकाशित होता है, तब वही अज्ञान कहा जाता है। इस अज्ञान वा अल्प ज्ञानांश में पशु और मनुष्य दोनों ही तुल्य हैं। पशु की इन्द्रियां अपूर्ण और उत्कर्ष रहित हैं; इसी से उनमें जो ज्ञान प्रकाशित होता है, मनुष्य की दृष्टि में वह अज्ञान है। मनुष्यों की करणादि अधिक उन्नत हैं, इसी से ज्ञान भी सुसंस्कृत भाव से प्रकाशित होता है। वास्तव में दोनों ही गोचर-ज्ञान हैं, इस कारण अज्ञान मात्र हैं। यह मनुष्यस्तर ठीक सन्धि स्थल है। एक तरफ देवक्षेत्र और दूसरी ओर पशुक्षेत्र है। मनुष्य पूर्ण होने से देवता और पशु पूर्ण होने से ही मनुष्य होता है। यह पूर्णत्व केवल ज्ञानांश लेकर ही है; इसी से नीति शास्त्र में कहा गया है—"ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः"।

हमारी जितनी देव देवी मूर्ति हैं, उनमें से प्रायः सब के बाहन पशु पक्षी आदि तिर्यक् जाति हैं। हिन्दुओं के धर्म्म विज्ञान का

यह एक सुन्दर अपूर्व रहस्य है। यहां पर वाहनतत्व सम्बन्ध में कुछ आलोचना करना अत्यन्त अप्रासङ्गिक न होगा। जो देवशक्ति जिस प्रकार पशुशक्ति के ऊपर प्रतिष्ठित और परिचालित है, वही उस देवता का वाहन कहा जाता है। प्रथम सिद्धिदाता गणेशजी ही को लीजिये। मुषिक उनका वाहन है। अथर्वशीर्ष के सायनभाष्य में कहा गया है—"मुष्णाति अपहरति कर्म्म फलानि इति मुषिकः"। जीव के कर्म्मफलों को अज्ञातसार (वे मालूम) हरण करे सो उसका नाम मूषिक है"। प्रबल प्रतिबन्धकस्वरूप कर्म्म फल जब तक विद्यमान रहते हैं तबतक सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसी से कर्म्मफल-हरण के ऊपर सिद्धि प्रतिष्ठित है। जब मनुष्य ऐसी एक अवस्था में आकर उपस्थित होता है कि सिद्धि के प्रतिबन्धक-स्वरूप कर्म्मफल भोग के बिना ही क्षय करना चाहता है, तब वह मूषिकधर्म्मी होता है। ब्रह्म-ज्ञानरूप परम सिद्धि प्राप्ति के उपयुक्त होने से ही, जीव चुपचाप अज्ञातसार में अपने अत्यन्त कठोर कर्म्मफलों को काटना आरम्भ करता है। अर्थात् मनुष्य इस प्रकार मूषिकधर्म्मी होने से ही परम सिद्धि प्राप्त करके धन्य होता है।

इसी प्रकार लक्ष्मी का वाहन उल्लू है। जो दिवान्ध अर्थात् आत्मज्ञान से अन्ध है; वही उल्लू के धर्म्मवाला है। जीव जबतक उल्लू के धर्म्मवाला रहता है, तबतक ही ज्ञान से वा अज्ञान से धन धान्यादि पार्थिव सुख की अधिष्ठात्री ब्रह्मशक्ति की उपासना करता है। अथवा हमारी धनेश्वरी माता लक्ष्मी की मूर्ति दिवान्ध प्राणियों के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। सरस्वती का वाहन हंस है। सरस्वती-ब्रह्मविद्या है। जो साधक दिनरात अजपा मन्त्र में सिद्ध है वही हंस-धर्म्मी है। मनुष्य सुस्थ शरीर में दिन रात में (२१६००) इकीस हजार छः सौ "हंसः" इस अजपा मन्त्र जपरूप श्वास प्रश्वास करता रहता है। मनुष्य जबतक इस स्वाभाविक जप का अनुभव नहीं कर सकता तबतक हंसधर्म्मी नहीं हो सकता; इस कारण ब्रह्मविद्या का

भी पता नहीं पाया जाता। इसके सिवाय हंस पक्षी का एक विशेष धर्म्म यह है कि, जल मिले हुए दूध से जल छोड़ कर दूध ग्रहण करना। मनुष्य भी जब इस प्रकार नश्वर जगत् से सार ज्ञानांश मात्र परिग्रह करने में समर्थ होता है, तब ही ब्रह्म-विद्या प्राप्त होकर कृतार्थ होता है। इसी से हंस की पीठ पर सरस्वती है।

विष्णु का वाहन गरुड़ है। श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कंध में कहा गया है—"त्रिवृद् वेदः सुपर्णस्तु यज्ञं वहति पुरुषम्"। वेद ही गरुड़ पक्षी है, यह यज्ञ पुरुष विष्णु को वहन करता है। विष्णु—जगद् व्यापक चैतन्य—मुक्तिदाता है। ज्ञान और कर्म्म ये उभयात्मक साधन ही सर्वव्यापी विष्णुदेवता को वहन करते हैं। योग वाशिष्ठ में कहा है—"उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञानकर्म्माभ्यां जायते परमं पदम्॥ केवलात् कर्म्मणो ज्ञानान्नहि मोक्षोऽभिजायते। किन्तु ताभ्यां भवेम्मोक्षः साधनन्तूभयं विदुः"। जिस प्रकार पक्षी दोनों पक्षों द्वारा खुले आकाश में विचरने को समर्थ होते हैं, उसी प्रकार साधक लोग ज्ञान और कर्म्म रूप उभयात्मक साधन बल से विष्णु के परमपद का पता पाते हैं। केवल कर्म्म अथवा केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त नहीं होती है; किन्तु ज्ञान और कर्म्म दोनों ही के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है; इस कारण यह उभयात्मक कर्म्म ही साधन हैं (१)। जीव जब वेदोक्त कर्म्मकाण्ड के ज्ञानमय

---

(१) यहां पर किसी किसी के मन में ऐसी एक आशंका अवश्य उपस्थित होगी कि यदि ज्ञान और कर्म्म ही मोक्षका साधन है, तब भक्ति को स्थान कहाँ? इसका उत्तर आगे विस्तारपूर्वक दिया जावेगा, यहां संक्षेप में उसकी मीमांसा की जाती है। देखिये, भक्ति की बात ही क्या कहना है? अरे, भक्ति के बिना तो न ज्ञान होता है न कर्म्म होता है, अथवा आज कल जब "माता पिता की भक्ति करो," इस प्रकार उपदेशपूर्ण पुस्तकादियों का अधिक प्रचार देखा जाता है, तब भगवान् में भक्ति करनेके उपदेशपूर्ण अनेक शास्त्र

अनुष्ठान में तत्पर होता है, तब ही वह पक्षिस्थानीय होता है। पूर्व कहा है कि—वेद शास्त्र ही गरुड़ है (२)। वेद प्रतिपादित कर्म्म और ज्ञान ये दोनों गरुड़ के पक्ष स्थानीय हैं, इनके सिवाय गरुड़ का एक धर्म और है—पन्नगाशनत्व (सर्पों को खाना)। कर्म्म समूह जितने ज्ञानमय होते हैं, उतनी ही संसाराशक्ति—देहात्मबोधरूपी कुटिलगति सर्प विलय को प्राप्त होते हैं; इसी से गरुड़ को भक्ष्य सर्प हैं। मनुष्य जब इस प्रकार सर्वतोभाव से गरुड़धर्म्म प्राप्त कर सकता है, तब ही देखता है कि मोक्षदाता जगद्व्यापक बिष्णु उसी में प्रतिष्ठित हैं। ज्ञानमय कर्म्मयज्ञ ही यज्ञेश्वर का वाहन है। सर्वगत ब्रह्म नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है, यही बात गीता में भी कही गई है।

इसी प्रकार शिव का बाहन वृषभ है। शिव-विज्ञानमय पुरुष वा ज्ञानरूपी गुरु है। जिस ज्ञान से यह जगत् धारण किया हुआ है,

---

ग्रन्थों का प्रचार क्यों न होगा ? भक्ति मनुष्य का सहजात धर्म्म है, जबतक इस धर्म्म का विकाश न हो, तबतक वेद में अर्थात् कर्म्म और ज्ञान के अनुशीलन में अधिकार ही नहीं होता है। इसी से, शूद्र को वेद पाठ निषिद्ध है।

और एक बात है—आचार्य्य शङ्कर ने कहा है कि केवल ज्ञान द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है। ज्ञान और कर्म्म दोनों का भी समुच्चय हो नहीं सकता। यह बात बिल्कुल ठीक है। प्रारम्भिक दृष्टि से इस सिद्धान्त के साथ योगवाशिष्ठ के वाक्य का विरोध प्रतीत हो सकता है, वास्तविक विरोध कुछ भी नहीं है। प्रथम प्रविष्ट साधकों को इन विचारों की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। चण्डी के तृतीय खण्ड पर्य्यन्त धीर भाव से पढ़ने पर सब शङ्काओं का समाधान हो जायगा।

(२) साधारणतः वेद दो भागों में विभक्त है। एक भाग याग यज्ञादि कर्म्मकाण्ड के अनुष्ठान मन्त्रादि द्वारा पूर्ण है और दूसरा भाग उपनिषद् वा ज्ञान काण्ड है। इस अंश को वेदान्त वा श्रुतिशिर कहते हैं। किस प्रकार ज्ञान से ज्ञानमय होकर कर्म्मकाण्ड का अनुष्ठान करना होता हैं, वही इस अंश में प्रतिपादित हुआ है।

उस अखण्ड ज्ञान का पता पा लेने से, अमङ्गलरूपी मृत्युभय सदा के लिये दूर होजाता है; इसीसे उनका नाम शिव वा मङ्गल है। वृष शब्द का अर्थ धर्म्म है। शुभ्र सत्वगुण के उदय से धर्म्म का विकाश होता है; इसीसे वृष श्वेत है। वृष के चार पांव हैं। तपः शौच दया और दान रूप, धर्म्म भी चार पांव वाला है। मनुष्य जब इस चतुष्पाद धर्म्म का यथासम्भव-आचरण करने की योग्यता प्राप्त करता है, तब ही उसको शिव दर्शन वा गुरु प्राप्त होते हैं; इसीसे वृष (बैल) की पीठ पर शिव की प्रतिष्ठा है।

दुर्गा का बाहन सिंह—हिंसा ही सिंह का प्रधान धर्म्म है। जो मनुष्य अपने जीवभाव की हिंसा करने में समर्थ है अर्थात् जीवत्व के विलय पूर्वक ब्रह्मत्व का विकाश करने के प्रयासी हैं, वे ही सिंह धर्म्मी हैं। सिंह पशुराज है, मनुष्य पशु श्रेष्ठ है। बात यह है कि मनुष्य जब पशुत्व को आधिपत्य से यथार्थ मनुष्यत्व में प्राप्त होने के योग्य होता है, तब ही उसको सिंह धर्म्मी कहा जाता है। ऐसे ही जीवों में हमारी मा दशदिग् (दश दिशा) व्यापिनी सन्तानवत्सला स्नेहमयी मूर्ति में प्रकट होती है; इसी से हमारी मा सिंह बाहिनी है। सब देवताओं का बाहनत्व कहने से पुस्तक का आकार बहुत बढ़ जायगा।

यहां पर फिर भी समझाये देते हैं—इस बाहन तत्व को पढ़ कर कोई इस भ्रम में न पड़ जावे कि इन देवताओं की कोई विशेष मूर्ति है ही नहीं। यथार्थ में ये सब देवता हैं। चिन्मयी महतीशक्ति का जो भाव जब साधक के भक्तिहिम में घनीभूत होकर, जैसी विशिष्ट मूर्ति में प्रकाश पाता है, यहां पर हमने केवल उसी भाव का विषय आलोचन किया है। चैतन्य के उन विशिष्ट भावों में तन्मयता आने से ही ऐसी देव मूर्तियां दृष्ट आती हैं। मृन्मय अथवा चित्राङ्कित मूर्ति के साथ उनकी तुलना नहीं है। तसवीर की मूर्ति प्राणहीन—जड़मात्र है; परन्तु वह मूर्ति चैतन्यघन ज्योतिर्घन है। एक बात में कहते हैं—

प्राण से कोई भी मूर्ति गठित होकर यदि विराट् सूर्य्यमण्डल में स्थापित हो (सूर्य्यमण्डल न हो—चन्द्रमण्डल हो, चन्द्रमण्डल भी न हो, उत्ताप रहित सूर्य्यमण्डल ही कहने से कुछ २ हो) तब जैसा होता है, ठीक वह वैसा ही है, क्या कहकर समझावें, वह माधुरी—उस चैतन्यघन आनन्दघन मूर्ति का स्वरूप किस प्रकार है! वह दिव्य ज्योति! वह चित्तमुग्ध कर अपूर्व सौन्दर्य्य! वह प्राण के समान स्नेह! वह क्या चित्र में अङ्कित होता है? अस्तु, इस बार हम प्रस्तावित विषय के समीपस्थ होंगे; मानव और तिर्य्यक् दोनों ही प्रायः तुल्यभाव से विषयगोचर ज्ञानसम्पन्न हैं, इस बात को कहने ही के लिये मन्त्र का पूर्वार्द्ध है। परार्द्ध के प्रथम कहा गया है कि मनुष्य को जैसा ज्ञान है, पशु पक्षियों को भी वैसा ही ज्ञान है। वह कौन सा ज्ञान है? विषयगोचर ज्ञान की बात तो पूर्वार्द्ध में कही गई है; फिर उसे कहने से पुनरुक्तिदोष आता है। विशेषकर आगे लिखे हुए कई एक मन्त्रों के अर्थ की ओर लक्ष्य रखने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि यहां पर ज्ञान-प्रियता को ही लक्ष्य किया हुआ है।

खुलासा यह है कि मनुष्य को जैसा ज्ञान प्रिय है, तिर्यक् जाति को भी वैसा ही है। ज्ञानप्रिय शब्द का क्या अर्थ है? जो स्वप्रकाश अखण्ड ज्ञान कुछ संस्कारों के आवरण में से भिन्न भिन्न आकार से विषयगोचर होकर प्रकाशित होता है, वही संस्कार विशिष्ट ज्ञान मनुष्य और अन्य प्राणियों के प्रतीति योग्य है। ज्ञान का यह अंश मनुष्य को जैसा प्रिय है, पशु पक्षी आदि तिर्यक् जाति को भी वैसा ही प्रिय है। उस संस्कार विशिष्ट ज्ञान के ऊपर अस्मिता वा अहं ज्ञान है। वह अस्मिता ही प्रियत्व का कारण है। जीवमात्र ही अपने को सबसे अधिक प्यार करते हैं। 'मैं' हमको जितना प्रिय है, इस जगत् में अन्य कोई वस्तु भी उतनी प्रिय नहीं है। मनुष्य और तिर्यक् सबको ही मृत्युभय समान है। इससे भी प्रतीत होता है कि

आत्मप्रियता सब में ही समान है। जीव मृत्यु से इतना भय क्यों करते हैं ? पीछे "मैं है" यह ज्ञान भूल जाते हैं।

जगत् में जो कुछ है वह इस एक बिन्दु ज्ञान के लिये। आहार निद्रा, अर्थोपार्जन, इन्द्रियचरितार्थता सब ही उस 'मैं' बोलकर ज्ञान का जो प्रकाश हो रहा है, उससे प्रेम करने का फल है। साधारण मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी-जगत् में जिसने जितना ज्ञान का अधिकार पाया है (अर्थात् ज्ञान का जितना अंश मात्र करण वा इन्द्रियों के भीतर प्रकाशित होता है) वह उसी अंश को अधिक प्यार करता है और उसी की रक्षा पूर्णरूप से करने में यत्नशील है।

"तुल्यमन्यत्तथोभयोः"—यह मन्त्र का शेषांश है। अन्यथा अर्थात् ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा। यद्यपि ज्ञान के बिना दूसरा कहीं भी कुछ भी नहीं है, तथापि साधारण दृष्टि से ज्ञान के अतिरिक्त और कहने से जड़पदार्थ समझे जाते हैं। प्राणियों में यह दो ही अंश है। एक ज्ञान और दूसरा पृथिव्यादि के मिलने से जड़ देह। वेदान्तदर्शन के भाष्यकारों की भाषा में इस अंश को अज्ञान कहा जाता है। प्रथम कहा गया है कि ज्ञानांश में मनुष्य और पशु दोनों ही तुल्य हैं। फिर कहा है कि वह ज्ञान दोनों ही को तुल्य प्रिय है। अब ऋषि कहते हैं—कि अन्यत् अर्थात् ज्ञानांश के सिवाय और जो कुछ है उस अंश में भी मनुष्य और पशु पक्षी आदि दोनों ही की तुल्यता है। वास्तविक, प्राणि जगत् में दो वस्तुएं ही पाई और देखी जाती हैं—एक ज्ञान वा चैतन्य और दूसरा जड़ वा अचेतन। यह दोनों ही सर्व प्राणियों में तुल्य हैं।

कोई कोई मन्त्र में इस अंश का अन्य प्रकार अर्थ करते हैं। वे कहते हैं कि अन्यत् शब्द का अर्थ अखण्डज्ञान है। अर्थात् जो सर्वत्र सुप्रकाश है—कोई इन्द्रीय उसे ग्रहण नहीं कर सकती, वही एक रस आत्मज्ञान है। वह अंश साधारण मनुष्यों को जैसा अनधिगम्य है, पशुओं को भी वैसा ही है अर्थात् तत्वज्ञान में दोनों ही अन्धे हैं।

परन्तु हमें ऐसी व्याख्या पसंद नहीं है। कारण कि, मनुष्य जगत् में कोई न कोई व्यक्ति इस ज्ञान का पता पा सकते हैं; परन्तु पशु जगत् में कोई नहीं पा सकता।

अस्तु, अब हम मेधस्‌वाक्य की संक्षिप्त आलोचना करते हैं। मेधस् कहता है—"हे सुरथ! तुम जिस ज्ञान का अहङ्कार करते हो उसे एक बार विचार करके तो देखो; तुम्हें उस अहङ्कार की योग्यता ही नहीं है। तुम मनुष्य हो, तुमको ज्ञान है यह बात ठीक है; परन्तु वह ज्ञान विषयेन्द्रिय-संयोग के कारण परिच्छिन्न है। पशु पक्षियों का भी ज्ञान ठीक इसी प्रकार परिच्छिन्न भाव से ही प्रकाश पाता है। तुम अपने संस्कारविशिष्ट खण्ड खण्ड ज्ञान को "मैं" मानकर प्यार करते हो। पशु पक्षी भी उसको अपने अपने ज्ञान वा मैं को प्यार करते हैं। इस ज्ञान के सिवाय और जो कुछ है—वह जड़ देहादि वा अज्ञान है; उस अंश में भी मनुष्य और पशु में कुछ भी भेद नहीं है"।

ज्ञानेऽपि सति पश्यैतान् पतगाञ्छावचञ्चुषु।
कणमोक्षादृतान्मोहात् पीड्यमानानपि क्षुधा ॥३६॥

अनुवाद—हे सुरथ! देखो, आत्मप्रीतिविषयक ज्ञान विद्यमान रहने पर भी, यह पक्षी स्वयं क्षुधा से अति पीड़ित होने पर भी मोहवश बच्चों की चोंच में बड़े आदरपूर्वक चावल के कण आदि खाद्य द्रव्य अर्पण करते हैं।

व्याख्या—तिर्यक् जाति भी अपने को सबसे अधिक प्यार करती है। क्षुधा लगी हुई है, आहार करने से स्वयं परितृप्त होते, परन्तु ऐसा न करके मुख में स्थित खाद्य सन्तान के मुख में डाल देते हैं। मनुष्य को तो बल्कि प्रत्युपकार की ही आशा है; इस कारण अपना दुःख कष्ट सहन करके भी सन्तान का पालन करते हैं; अन्य प्राणियों को तो वह आशा भी नहीं है। तब ऐसा क्यों करते हैं?

इससे एक अलक्षित (गुप्त) आत्मतृप्ति है। आप खाकर जो तृप्ति प्राप्त करते हैं, उसकी अपेक्षा आप न खाकर सन्तान को खिलाने से अधिक आत्मतृप्ति प्राप्त करते हैं। इसी कारण जीवों का यह ऐसा व्यवहार है। इसमें कुछ मोह और अज्ञानता है। इसी से, मन्त्र में 'मोहात्' शब्द उक्त हुआ है। जीव नहीं जानता है कि, ऐसा करना वास्तव में अपने को ही प्यार करना है। संसार में जो कुछ करते हैं, वह सब आत्मतृप्ति के लिये है। वृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्मर्षि याज्ञ-वल्क्य ने कहा है—"पति की तृप्ति के लिये पत्नी पति को प्रेम नहीं करती है, बल्कि पति के प्रेम करने से अपनी ही तृप्ति होती है, इसी से पत्नी पति से प्रेम करती है। इसी प्रकार जाया की प्रीति के लिये पति जाया को प्रेम नहीं करता है, पत्नीको प्रेम कर आप ही सुखी होता है; इसी लिये पति पत्नी को प्रेम करता है। पुत्र के लिये पिता पुत्र को प्रेम नहीं करता है, बल्कि आत्मतृप्ति के लिये ही पिता पुत्र को प्रेम करता है। इसी प्रकार अपनी अपनी तृप्ति के लिये सब एक दूसरे से प्रेम करते हैं, पराई तृप्ति के लिये कोई किसी को प्यार नहीं करता है"। इसी का नाम ज्ञान है। जो व्यक्ति ऐसा जानते बूझते और अनुभव करते हैं, वही ज्ञानी हैं। वह सब ही से प्रेम करते हैं; सब का उपकार करते हैं; परन्तु यह जानते हैं कि मैं अपने ही से प्रेम करता हूँ। जबतक इस आत्मा को मा को वा अपने को ज़ीव खोज नहीं पाता, तबतक उसे ज्ञान रहने पर भी उसका मोह दूर नहीं होता, इसी से मन्त्र में 'ज्ञानेऽपि मोहात्' बात कही गई है। किसको तृप्ति करने के लिये पक्षी आप भूख से पीड़ित रहने पर भी शावक की चोंच में अपने मुख में रक्खा हुआ खाद्य-पदार्थ अर्पण करते हैं, वे उसे जानते नहीं हैं; इसी से वह मोहाच्छन्न हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी जबतक मन में समझता है कि मैं स्त्री पुत्र को तृप्त करने के लिये स्त्री पुत्र का भरण पोषण करता हूँ, अथवा जगत् के उपकार के लिये जगत् के हितकर कर्म्म करता हूँ, तबतक

समझ लेना चाहिये कि उसका मोह दूर नहीं हुआ। यह बात आगे और भी विस्तार पूर्वक वर्णित होगी।

मानुषा मनुजव्याघ्र साभिलाषाः सुतान् प्रति।
लोभात् प्रत्युपकाराय नन्वेते किं न पश्यसि ॥३७॥

अनुवाद—हे मनुज श्रेष्ठ! मनुष्य लोग पुत्रादि पर अभिलाष-सम्पन्न अर्थात् स्नेहशील हैं। ये जिस लोभवश प्रत्युपकार की आशा से ऐसा करते हैं, क्या इसे नहीं देखते ?

व्याख्या—पशु पक्षी आदि तिर्यक् जाति जो पुत्रादि पर स्नेह-शील हैं, वे प्रत्युपकार से निर्पेक्ष हैं, भविष्यत् में ये शावक बड़े होकर हमारा प्रतिपालन करेंगे, ऐसी एक आशा वे हृदय में पुष्ट नहीं करते हैं तथापि आप प्राणान्तकर कष्ट सहकर भी सन्तान को प्रतिपालन करते हैं; कारण सन्तान का पालन करना उनकी सहजात (स्वा-भाविका) वृत्ति है। मनुष्य भी इस अपत्य-स्नेहरूप स्वाभाविक वृत्ति-के कारण ही पुत्रादि पर स्नेहशील होते हैं; परन्तु भविष्यत् में पुत्रादि द्वारा प्रत्युपकृत होने की वासना भी उनके भीतर छिपी हुई है। इतना ही विशेष है। तिर्यक् जाति के अपेक्षा मनुष्य जाति बहुत अंश में ज्ञान से उन्नत है; वह कुछ-कुछ भविष्यत् भी देखती है। साधारण मनुष्य पुत्रादि से पार्थिव उपकार की आशा करते हैं; और जो अपेक्षाकृत उन्नत हैं, वह पारलौकिक अथवा आत्मिक उपकार की आकांक्षा करते हैं। परन्तु मोह दोनों में ही है। प्रत्युपकार की आशा से हो अथवा प्रत्युपकार-निरपेक्ष होकर ही हो, पुत्ररूप से, पत्नीरूप से किसकी परितृप्ति करते हैं, इसे वह नहीं जानते। साधक! तुम दूर देश से आकर शिशुपुत्र के मुख में सुखाद्य मिष्टान्न देते हो, पुत्र उसे आनन्द से खाने लगता है! उस समय क्या कभी आपने अपनी छाती पर हाथ रखकर देखा है कि तुम्हारे हृदय के भीतिरी तुम्हें कितनी पूर्ण तृप्त होती है? पुत्र रूप से कौन है?

आत्मा मा ! प्रिय परिजन रूप से कौन है ? आत्मा मा ! सर्व रूप से कौन है ? हमारी आत्मा मा। मैं ही तो पत्नी पुत्रादि रूप से अनेक भाव से विराजित है। मैं ने बहुत्व की लीला करनी चाही थी; इसी से एक मैं अनेक होकर, बहुरूपी मैं की सेवा करता हूँ। विष्णुमूर्ति से बिश्वरूप में ही विराजमान हूं। इसको न जान कर, मा को न पहचान कर, मुझ को भूल कर क्या करते हो ? पत्नी पुत्र की सेवा ! वह तो "मेरी ही सेवा है" ! "नमस्ते बहुरुपाय विष्णवे परमात्मने" कहकर जबतक मेरी पूजा नहीं करोगे, तबतक फलतः मेरी पूजा कर लेने पर भी कार्य्यतः किन्तु अन्य देवता की ही पूजा होगी। इसी का नाम अज्ञान है, इसी का नाम मोह है।

सुनो, अखण्ड चित्‌समुद्र के कई एक तरङ्ग एकत्र करके उन पर एक कल्पित मैंत्व बैठा दिया गया है, वही प्रथम अविद्या ग्रन्थि है। विशुद्ध ज्ञानांश में दृष्टि पड़ने पर--मैं, तू रहित एक महान् ज्ञान-समुद्रमात्र प्रतीत होता है और उससे आत्म बोध का विकाश होता है। ज्ञान समुद्र की वह विभिन्न तरङ्गें पत्नी पुत्रादिरूप से फूट उठी हैं। यह जगत जो आत्मसत्ता से सत्तावान् है, इसे न जानने का नाम ही मोह है। ये जो मोह है, यह जो अज्ञान से प्रत्युपकार की आशा से प्रेम करना है, इसका परिणाम क्या है ? परिणाम—ज्ञान है। अज्ञान वा ईषत् ज्ञान से ही पूर्ण अखण्ड ज्ञान का उदय होता है। किस प्रकार यह सम्भव हो सकता है ? मानलो कि तुम पुत्र को पुत्र समझ कर प्रेम करते हो; कार्य्यतः तुम्हारे प्रेमरूप एक विशिष्ट संस्कार की तैयारी होती है। कुछ दिन बाद पुत्र का अभाव होने से तुम्हारे हृदय के भीतर प्रेमनाम से एक अमर सम्वेदन प्रस्तुत हुआ है, उसका तो अभाव हुआ नहीं ! इस प्रकार जगत् का सर्वत्र है। छोटे छोटे विषयों को प्रेम करके, जगत् की परिच्छिन्नता से मुग्ध होकर, केवल नाम और रूप में अनुरक्त होकर, जीव बूंद बूंद अनुराग वा प्रेम सञ्चित करते हैं। जिस दिन वह पूर्णता में पहुँचेंगे, उस दिन देखोगे

कि हम अपने ही से प्रेम करते हैं। तब ही जीव आत्मरति, आत्म क्रीड़, आत्ममिथुन होकर, अखण्ड प्रेमसिन्धु में स्नान करेंगे। जब तक वह अवस्था नहीं आती, तब तक आत्मा के सिवाय अन्य एक कल्पित वस्तु का आश्रय करके प्रेमनाम से अनुभूति का विकाश करने होता है। और अन्य एक मनुष्य के ऊपर अपने प्राण का कुछ अंश ढालकर तब प्रेम वस्तु को समझने होता है।

साधारणतः लोगों की धारणा है कि हम जो इन नश्वर जगत् को प्रेम करते हैं, यही हमारा बन्धन है, इस बन्धन से मुक्त हुए बिना भगवान् को प्राप्त करने की आशा नहीं है। बात एक ओर से सत्य होने पर भी चक्षुष्मान् व्यक्ति देखते हैं कि यह जो विषयों पर अनुराग है, यह जो संसारासक्ति रूप मायारज्जु है, वह जीव को सदा बन्धन में रखने के लिए नहीं है, वह मा को वा हमको सदा के लिये प्रेम रज्जु से बान्धने का पूर्व आयोजन-मात्र है साधक! भय नहीं है, तुम संसार की ओर से आसक्ति छोड़ने में अपने को असमर्थ समझ कर, तुम यह न समझना कि तुम्हारे लिये माता की प्राप्ति बहुत दूर है। "गणयसि यदिदं बन्धनमात्रं पश्चाद्द्रक्ष्यसि मोचनदात्रम्" ॥ जिसको तुम अब बन्धन कह कर मानते हो, कुछ दिन बाद देख पाओगे कि वह बन्धन मुक्ति के उपाय स्वरूप है। अरे! प्रथम प्रेमनाम से एक वस्तु तैयार होने दो—फिर देखोगे कि तुमने उस को ही से प्रेम कर लिया है। प्रेम ही उसका स्वरूप है! प्रेम ही हमारी मा का आनन्दघन स्वरूप है। वहाँ प्रेम और प्रेमी में भेद नहीं है! अपने को सर्वत्र प्रसारित करना आरम्भ करो, तब प्रेम का स्वरूप अनुभव कर सकोगे। प्रेम का स्वरूप आत्मदान है। प्रेममयी महामाया को आत्म-दान करो। तब देखोगे कि तुम प्रेम सिन्धु में डूब गये हो। प्रेम के साधन के लिये—प्रेमिक होने के लिये पृथक् किसी प्रकार का अनुष्ठान अथवा कल्पित मनुष्य प्रेम का आरोप आदि कुछ भी नहीं करना होगा। मनुष्य में क्या प्रेम होता है? न हो सकता? एक बात से

समझ रखिये—कि पूर्व जो अखण्ड ज्ञान समुद्र की बात कही है, वह केवल नीरस एक ज्ञानसमुद्र नहीं है, वह प्रेम का समुद्र है। ज्ञान और प्रेम एक ही बात है!

अनेक साधक भगवान् में प्रेम नहीं हुआ कहकर दुःख मानते हैं। परन्तु प्रेममयी मा हमको अन्य मार्ग पर चलाती है। हमने समझा है कि भगवान् में प्रेम करने की चेष्टा करने की अपेक्षा, जिसके प्रति प्रेम स्वाभाविक है, उसको भगवान् कहकर विश्वास करने की चेष्टा; शीघ्र फलदायक होती है! साधक! ज़रा विचार कर देखो।

तथापि ममतावर्त्ते मोहगर्त्ते निपातिताः।
महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणा ॥३८॥

अनुवाद—(वास्तविक सब ही आत्म प्रिय है) तथापि संसार—स्थितिकारी महामाया के प्रभाव से जीवगण ममतारूप आवर्त में भ्रमण करके मोहरूपगर्त में पड़ते हैं।

व्याख्या—यह पूर्व ही कहा है कि—क्या मनुष्य क्या तिर्यक्‌ सब ही अज्ञानतः आत्मप्रिय हैं। मनुष्य-जाति में प्रत्युपकार की आशा से पुत्रादि पर स्नेह उस आत्मप्रियता को ही विशेषभाव से समझा देता है। परन्तु वास्तव में मनुष्य अपने ही से प्रेम करता है और अपनी ही को सेवा करता है; अपनी तृप्ति-साधन ही सब जीवों का एक मात्र लक्ष्य है। यद्यपि यही यथार्थ तत्व है; तथापि उस अपने को प्रेम करने में, जीव 'मैं' की बात भूल जाता है; कुछ वस्तुएँ 'हमारी' हो खड़ी होती हैं। यह 'हमारा' शब्द ही इतने गोलयोग का कारण है। हमारा अर्थात् मेरा—"मम", इस मम शब्द के उत्तर भावार्थ में 'ता' प्रत्यय युक्त होकर, ममता शब्द सिद्ध हुआ है। अर्थात् ममता शब्द का अर्थ—'मेरा', 'हमारा' यह भाव है। यह ममता एक आवर्त अर्थात् जल के भँवर के समान है; भँवर के जल में कोई तृणादि पड़ जाने से जिस प्रकार घूम घूम कर एक ही स्थान में पड़ा

रहता है, उसी प्रकार इस ममता रूप आवर्त में पड़ कर मनुष्य भी प्रायः एक ही स्थान में घूमते रहते हैं। बहुत दिन इस ममता के आवर्त में अर्थात् मेरा गृहस्थ, मेरे पुत्र, मेरी स्त्री, मेरी देह, इत्याकार ज्ञान में विचरण करते करते, मनुष्य मोहरूप गर्त में पड़े रहते हैं। प्रायः देखते हैं कि जल भ्रमी वड़ी देर तक घूम घूम कर एक प्रकार गर्त (गढ़े) का आकार धारण करता है, तृणादि जो कुछ प्रथमतः जल के भँवर के साथ घूमता रहता है अन्त में उसी जल विवर (छिद्र) में समा जाता है। जीव की भी ठीक यही दशा होती है। बहुत समय तक 'मेरा' 'मेरा' करके, अन्त में 'मैं' वस्तु को गँवा देता है; इसी का नाम मोह है। यह मोह ही गर्त के सदृश है। मनुष्य जब 'मुझको' खोजने पर नहीं पाता, तब ही वह पूर्ण मोहाच्छन्न हो जाता है; तब ही 'नर' नरक हो जाता है। नर शब्द के उत्तर अल्पार्थ क-प्रत्यय करने से नरक शब्द सिद्ध होता है। मनुष्य जब बड़ा छोटा—अति सङ्कीर्ण होजाता है, तब ही वह नरक में जाता है। गर्त के भीतर कोई वस्तु पड़ जाने से जैसे फिर बाहिर से दिखाई नहीं पड़ती है, उसी प्रकार बहुत दिन 'हमारा संसार 'हमारा परिबार' इस भाब से बिचरण करके जीव इतना मुग्ध हो जाता है कि फिर "मैं" कौन हूं, उसे नहीं देख सकता। दिन रात "मैं मैं" करता है, तो भी मैं कौन हूं, इसे नहीं जानता—इसी का नाम अज्ञान है—इसी का नाम मोह है। इस अज्ञान से पुनः पुनः संसार चक्र में भ्रमण करने होता है। हमने बहुत दिन ऐसी ममता के आवर्त में पड़कर संसार को इतना अपना कर डाला है कि संसार (गृहस्थ) का ज़रा भी अनिष्ट होने से मान लेते हैं कि मैं पर्य्यन्त नष्ट हो गया। मकान के प्राचीर (परकोटा) का चूना गिर पड़ने से भी छाती कर कर होती रहती है। ऐसी एक अवस्था आ पड़ी है; परन्तु यह नहीं समझते हैं कि संसार का सब कुछ नष्ट होने पर भी 'मैं' नित्य स्थिर रहता हूं। यह संसार—यह देह इन्द्रिय मन प्राण और बुद्धि ये सब

ही मेरी सत्ता से सत्तावान् हैं, 'मैं' न रहने से इनमें से कुछ भी नहीं रहता, उसे समझ कर भी नहीं समझते। यह मोह ऐसा अजेय है।

वह 'मैं' ही अन्नमयादि पञ्चकोषों में से स्त्री पुत्रादि संसार के भीतर से हमारे नित्य भोग्य जगत् के भीतर से—अलक्षित में गुप्त रहकर देखता रहता है। "मय्येव सकलं जातं, मयिसर्व्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्व्वं लयं याति, तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्"। मुझमें ही सब उत्पन्न हैं, और मुझमें ही सब अवस्थित हैं, मुझमें ही सब लीन होते हैं, मैं ही वह अद्वय ब्रह्म हूं। ओः मैं कैसा महान् हूं! राजा के कुंवर गरीब का रूप धारण कर कंगाल का अभिनय (नाटक) करते हैं, वही मैं हूँ।

समझ लिया? अज्ञानांध चक्षु ज्ञानाञ्जन-शलाका द्वारा उन्मीलित हुए हैं; अब पहचान सके हो—कौन श्याम है, कौन श्यामा है, कौन तेतीस कोटि देवता हैं, क्या अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड हैं; कौन सर्वव्यापी महान् है, कौन सुप्रकाश होने पर अदृश्य है, कौन दूर से भी दूर होने पर भी अन्तर से अन्तर है। देखो—उसको मुझको मा को? उसी का नाम देखा, उसीका नाम जाना है, इस बार समझ सके हो वह कितना सुलभ है! अब उसको पाने के लिये चेष्टा करो। उससे प्रेम करो। उसे बड़े अनादर और अवज्ञा में डाल रक्खा है। उसका आदर करो। जिस मुहूर्त्त में उसको देखोगे, उसी मुहूर्त्त में संसार पलायन करेगा। उसी मुहूर्त्त में तुम मुक्त हो। इस प्रकार बारम्बार देखो, तुम जीवनमुक्त होगे। परन्तु वह दूसरी बात है।

अस्तु, जीवको इस मोह गर्त में कौन डालता है और क्यों डालता है, उसका उत्तर देते हुए ब्रह्मर्षि ने कहा है—"महामाया प्रभावेण संसार स्थिति कारिणा" संसार-लीला का अभिनय करना ही मा का वा हमारा उद्देश्य है। एक होकर भी बहुत भाव से विराज करने में जो आनन्द है, उसे उपभोग करने के लिये ही इस संसार

स्थिति की आवश्यकता है। मोह हुए बिना इस संसार का खेला नहीं चलता। चक्षु बंद किये बिना क्या चोरमीचनी का खेल चल सकता है! हमारा यथार्थस्वरूप प्रतिमुहूर्त्त में बोध में विकाश पाने से, फिर यह बहुत्व-यह संसार लीला नहीं रहती।

इसी से मेधस् कहता है कि जीव, तुम मोहाच्छन्न हुए हो इस कारण दुःख वा अनुताप नहीं करना। हाय, मैं कैसा निकृष्ट जीव हूँ! मैं किसी प्रकार भी मोह आलस्य से हाथ नहीं छुड़ा सका! मुझे तो अब आत्मलाभ नहीं होगा, इस भाव से अपने को दुःखित नहीं करना। चाहे कितना ही मोह क्य न हो, समझ लेना कि यह महामाया का ही प्रभाव है। उसी की इच्छा से तुम मोहाच्छन्न हुए हो। उसी की इच्छा से कोई पुण्यवान् है, कोई पापी है। रङ्गमञ्च पर जो अभिनय करते हैं, उनमें से राजा का अभिनय करने वाले और भिक्षुक का अभिनय करने वाले में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। प्रथम अङ्क में ये दोनों जने जगाई माधाई बने थे, अगले अङ्क में वही शायद गौर-निताई का अभिनय करते हैं। इनमें छोटा बड़ा, पापी पुण्यवान् आदृत वा घृणित, कोई भी नहीं है; सब ही समान हैं सब ही हमारी महामाया का खेला है।

महामाया कौन है! इस से पूर्व्व उसका बहुत कुछ आभास दिया हुआ है। यहां पर फिर हम उस बात की आलोचना करने की चेष्टा करेंगे। पूर्व्व जो जाग्रतादि तीन अवस्थाओं के साक्षि स्वरूप सर्व्वप्राणि साधारण अखण्ड ज्ञान की बात कही गई है, उस ज्ञान को हम किस प्रकार समझ सकें! तरङ्ग देखकर—विषय के द्वारा। रूप-रसादि विषय एक के बाद एक आकर उस ज्ञानका अस्तित्व समझा देते हैं। जब हम विषय-ग्रहण से विमुख होते हैं अर्थात् सुषुप्त होते हैं तब फिर ज्ञान का अस्तित्व अनुभव नहीं किया जाता है। अतएव समझ लो कि—ज्ञान स्वप्रकाश स्वरूप होने पर भी जब तक विषयाकार में आकारित न हो, तब तक हमारे निकट प्रकाशित नहीं

होता। ये विषय शक्ति प्रवाहमात्र हैं, यह पूर्व्व वर्णन हो चुका है। शास्त्रकार लोग इस शक्ति प्रवाह को स्थूलतः षड्भाव-विकार वाला कहते हैं; यथा, जायते—जन्म ग्रहण करता है, अस्ति-प्रतिकूल शक्ति प्रवाह के साथ विरोध करके अपनी सत्ता वर्तमान रखता है, वर्द्धते—वृद्धि को प्राप्त होता है, विपरिणमति—परिणाम को प्राप्त होता है अर्थात् वृद्धि की चरम, अवस्था में पहुँचता है, अपक्षयति—क्रम से क्षय को प्राप्त होता रहता है, नश्यति—नष्ट वा अदृश्य होता है। प्रत्येक पदार्थ में प्रति मुहूर्त्त में ये छः विकार संघटित होते हैं। इन छः विकारों को और भी संक्षेप रूप से कहते हैं—सृष्टि, स्थिति और प्रलय ये तीन प्रकार की क्रिया कही जाती है; इस कारण जगत् कहने से विषय कहने से—यह सृष्टि, स्थिति, प्रलयात्मिका एक महती-शक्ति विशेष समझिये। एक फल वा फूल हाथ में लेकर देखो, तो उसमें उक्त षड्-भाव-विकार वा सृष्टि स्थिति लय रूप क्रियाशक्ति प्रतिक्षण प्रवाहित होती है। यही रूप जगत् में सर्वत्र है।

यहाँ पर एक आशंका हो सकती है कि शक्ति तो स्थिर पदार्थ नहीं है, वह सदा परिवर्तनशील—प्रवाहमय है; तब इस जगत् को हम स्थिर किस प्रकार देखते हैं? एक दृष्टान्त द्वारा हम उसका समाधान करते हैं। एक लकड़ी का टुकड़ा लेकर उसका एक किनारा अग्नि से जलाकर उसे जल्दी से घुमाओ तो एक स्थिर अग्निमय रेखा हमको प्रत्यक्ष जान पड़ती है, जगत् की स्थिरता और सत्ता भी ठीक उसी प्रकार है; इस कारण रूपरसादि विषय जो एक शक्ति प्रवाह मात्र हैं ऐसे ही भलीभांति प्रतीत गोचर होते हैं। यह शक्ति अनन्त वैचित्र्यमय ब्रह्माण्डाकार से परिदृश्यमान होने पर भी वस्तुतः वह एक है। प्रकाशगत विभिन्नता देखकर, शक्तिगत विभिन्नता का अनुमान संगत नहीं है। एक ही तड़ित्शक्ति कहीं प्रकाश करती है, कहीं पंखा चलाती है, कहीं छापने का कार्य करती है, कहीं ट्राम गाड़ी चलाती है इत्यादि इस असंख्य प्रकार से प्रकाशित होती है। इसी

प्रकार एक ही शक्ति इस वैचित्र्यपूर्ण जगदाकार में सदा प्रकटिता है।

यह शक्ति पूर्वोक्त ज्ञान वक्षपर अवस्थिता है। शक्ति के द्वारा ही ज्ञान प्रकाशित है। ये दोनों वस्तुएं लेकर जगत् में दार्शनिकों के जितने विचार हैं। एक ज्ञान और एक शक्ति है। ये दोनों एक हैं या भिन्न हैं। सांख्य कहता है कि भिन्न हैं; ज्ञान निष्क्रिय निष्कल चैतन्यमय पुरुष है; और शक्ति जड़ा, परिणामशील प्रकृति है। यह प्रकृति-पुरुष विवेक होने से ही पुरुष प्रकृतिवियुक्त होकर मुक्तस्वरूप में अवस्थान करता है। प्रकृति-युक्तता ही पुरुष का बन्धन वा जीव भाव है। यह द्वैतवाद है। विशिष्टाद्वैतवाद कहता है कि प्रकृति और पुरुष भिन्न नहीं हैं। प्रकृति पुरुष की ही शक्ति वा अवयवमात्र है। अङ्गी के साथ अङ्ग का जो भेद है, इसमें वैसा ही भेद है। पुरुष का साम्मुख्य होना ही मुक्ति है और उसकी विमुखता ही बन्धन है। वेदान्तवाद के मत से ज्ञान और शक्ति बिलकुल अभिन्न पदार्थ हैं। शक्ति और शक्तिमान में कुछ भी भेद नहीं है; परन्तु उस शक्ति के अंशमात्र का नाम माया है; वह मिथ्या, इन्द्रजालवत् है। उसकी वास्तव-सत्ता नहीं है, केवल ज्ञान की ही परमार्थ सत्ता है। जगदाकार से जो शक्ति प्रकाशित होती है, वह रज्जु सर्पवत् भ्रान्तिमात्र है। यह वर्त्तमान अद्वैतवाद है। यह सब ही सत्य दर्शी है। साधकमात्र को ही इनका अनुभव करना होता है। प्रथम द्वैत प्रतीति, फिर विशिष्टाद्वैत प्रतीति, फिर सत्य-मिथ्या मिली हुई अद्वैत प्रतीति है। परन्तु सब से अन्त में साधक उपनिषद् प्रतिपाद्य ज्ञान में वा आर्षदर्शन में उपनीत होते हैं। वही पूर्ण अद्वैत दर्शन है। पूर्ववर्ती दर्शनकार काशकृत्स्न आदि महर्षिगण और वैदिकयुग के ब्रह्मर्षिगण इस सिद्धान्त तक पहुंचे थे। प्रामाणिक उपनिषद् समूह धीरभाव से पाठ करके, उनका सरल अर्थ ग्रहण करने पर भी यही सिद्धान्त स्थिर होता है। प्रेमिक अवतार श्रीगौराङ्गदेव ने भी कहा है—"अद्वयज्ञान तत्व व्रजेन्द्रनन्दन"। इसके सिवाय उन्होंने

'अचिन्त्य भेदाभेद' की बात कहकर ज्ञान और शक्ति का यथार्थ स्वरूप प्रकाश किया है। जो तत्व वाक्य और मन के अतीत है, जो बुद्धि के वहिर्देश में व्यवस्थित है, उस सम्बन्ध में कोई एक स्थिर सिद्धान्त कल्पना करके "वह यही है अन्य कुछ नहीं है" ऐसा कहना समीचीन नहीं है। वह कितना क्या है, इसे कौन जानता है? जिसका जैसा अनुभव है, वह केवल उतना ही कह सकता है।

अस्तु, हमने समझा है कि यह ज्ञान और शक्ति सर्वतोभाव से अभिन्न है। उस अखण्ड ज्ञान समुद्र का प्रत्येक कल्पित अणु ही शक्ति है। इससे जान पड़ता है कि ऋषियों ने शक्तिवाचक चित्शब्द से इसको प्रकाश किया है। जब शक्ति का प्रकाश नहीं रहता, तब ही इसका नाम प्रज्ञानब्रह्म निरञ्जन इत्यादि। शक्ति ही ज्ञानमय है अथवा ज्ञान ही शक्तिमय है अथवा ये दोनों ही, उसे भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किये जाते। परन्तु यह स्थिर है कि ज्ञान और शक्ति दो नहीं हैं, एक ही वस्तु हैं। जब सृष्टि स्थिति प्रलयात्मिका महाशक्ति जगदाकार से प्रगटिता होती है, तब इसका नाम सगुण ब्रह्म है। इसकी कहीं भी मिथ्या भ्रान्ति इन शब्दों में नहीं कही गई है! आर्ष ग्रन्थ में (उपनिषदों में) उन शब्दों का प्रयोग नहीं है।

चलिये, विचार करते करते बहुत दूर आ पड़े हैं। हम जानते हैं—वह हमारी मा है। उसी का नाम महामाया है। उसी के प्रभाव से यह संसार स्थित है। संसार खेला खेलते मा हमारे ममता वर्तरूप से (मोहरूप से) प्रकटिता है। फिर मोहगर्त में निपतित जीवरूप में भी वही है। जो सर्वत्र इस रूप से मा को देखते हैं, उनके लिये बन्धन बोलकर कुछ भी नहीं है; जब बन्धन ही नहीं रहा तो फिर मुक्ति किसकी? हम जानते हैं कि हम मा के गर्भ से उत्पन्न हैं, मा की गोदी में बैठे हुए हैं, हम सर्वतोभाव से महामाया की गोद में स्थित आनन्दमय नग्न शिशु हैं। यह जो इतनी देर तक विचार करने में केवल "ज्ञान और शक्ति" इन दो बातों का व्यवहार किया है, वह

केवल भाषा की कचावट है। कोई उसको तत्वमात्र न समझे। वह एक जन है; उसका व्यक्तित्व है। सर्वेन्द्रियरहित होने पर भी उसमें सब इन्द्रियों का धर्म्म है, स्नेह है, प्रेम है, दया है, स्थूल देह धारण करने की शक्ति है। वह सगुण, निर्गुण और इन दोनों से अतीत है। उसको एक तत्वमात्र समझने के लिये मार्ग भ्रष्ट होना होगा। वही आत्मा है, उसी का सब खेला है। इस संसार की सजावट होना ही उसकी आनन्दमयी लीला है। इसे समझने की चेष्टा करो। मा कह कर, सखा कहकर, बन्धु कहकर कातर हृदय से पुकारो। धरना देने के लिये व्याकुल होकर रोओ। सब संशय मिट जायंगे। जीवन सफल होगा। रो नहीं सकते हो, अभ्यास करो! पुस्तक पढ़ने से नहीं समझोगे कि—महामाया कौन है, क्या है? किस प्रकार संसार को स्थित करती है, किस प्रकार ममता रूप गर्त में पड़ती है? गुरु कह कर उसकी शरणागत होओ, सब कुछ पाओगे, सब कुछ समझोगे।

तन्नात्र विस्मयः कार्यो योगनिद्रा जगत् पतेः।
महामाया हरेश्चैतत्तया सम्मोह्यते जगत् ॥३६॥

अनुवाद—यह महामाया जगत्पति हरि की भी योगनिद्रा स्वरूपा है, यह जीव जगत् उसी के द्वारा सम्यक् प्रकार से मोहाच्छन्न रहता है। अतएव हे सुरथ! इस विषय में कुछ विस्मय मत करो॥

व्याख्या—मेधस् इस वार सुरथ और समाधि को विशेषभाव से समझाये देते हैं कि—तुम जो त्यागे हुए राज्य और स्त्री पुत्रादि पर आसक्ति नहीं छोड़ सकते हो, इसमें विस्मित और उदास होने का कोई कारण नहीं है। महामाया—मोहजननी है, वह तो मुग्ध करेगी ही; तुम तो सामान्य जीव हो, वह जगत्पति हरि की भी योगनिद्रास्वरूपा है। जो इस जगत् को पालन करते हैं—वह जगद् व्यापक विष्णु वा प्राणशक्ति भी योगनिद्रा से आच्छन्न हैं। उसी ने इस जगत् को मुग्ध कर रक्खा है। जो योगनिद्रा के प्रभाव से विष्णु

को भी मुग्ध कर रख सकती है, जो विष्णु की भाँति परिपुष्ट सन्तान को भी जगत् के खेले में भुलाकर रख सकती है, वह हमारे तुम्हारे समान जीवों को अपने महान् स्वरूप से विच्युत करके क्षुद्र क्षुद्र विषयों में विमुग्ध करे, तो इसमें विस्मय ही क्या है ?

क्यों उसने ऐसे भाव से जगत् को मुग्ध कर रक्खा है ? हम उसी के स्नेह की सन्तान हैं ! हमको जगत् के खेल में मुग्ध रखने से उसका क्या अभीष्ट सिद्ध होता है ? उसका अपना कोई अभीष्ट नहीं है। हमारा इष्ट ही उसको अभीष्ट है। हम इसी प्रकार मुग्ध होना चाहते थे, इसी प्रकार बहुत्व के—क्षुद्रत्व के खेल करने के लिये एक दिन महती इच्छामयी मा के शरणापन्न हुए थे। उस दिन से इच्छा-मयी मा हमको हृदय में रखकर अनन्त बहुत्व—अद्वितीय बहुत्व का सम्भोग कराती है। क्षणभर के लिये भी गोदी से नीचे नहीं उतारती। अनेक साधक यहाँ आकर बड़ी समस्या में पड़ते हैं। साधक जब "फिर बहुत्व नहीं चाहते, विषय वासना नहीं चाहते, कामिनी काञ्चन नहीं चाहते, बहुत्व का खेल अच्छा नहीं लगता, मा! हम एक से आये हैं फिर एक करो मा" ! इस प्रकार कहते कहते सरल नम्र शिशु की भाँति धूल में लोटते हुए मा मा कह कर रोते हैं। तब भी इस बहुत्व का स्पंदन—हृदय-विदारक वासना से भूखे अग्नि की शेष शिखा नहीं बुझती हैं। शिशु जितना चाहते नहीं मा उसे उतना ही जोर करके उन अप्रार्थित विषयों को देती रहती है। अब तुम परिपुष्ट हुए हो, आज विषय को अकिञ्चित्कर समझा है, इसीसे आज बहुत्व नहीं चाहते ऐसा कहते हो; परन्तु एक दिन तुम इसी बहुत्व के लिये मा के शरणापन्न हुए थे। मा उस बात को भूल नहीं गई है तुम चाहते थे इसी कारण स्नेह से मुग्ध होकर तुम्हारा ही प्रार्थित बहुत्व बिना विचारे दे रही है। विकार-ग्रस्त पुत्र विकार के वश मा से चावल लेकर खाना चाहता था। परन्तु उस समय मा ने खाने नहीं दिया। अब पुत्र का विकार दूर हुआ है।

चावल खाने की बात भी याद नहीं है; परन्तु मा उस बात को मन में रक्खे हुए है कि एक दिन पुत्र ने चावल मांगा था। परन्तु आज अब नहीं चाहता, तथापि पुत्र स्नेह विमूढ़ा मा चावल लाकर सन्तान के मुख के समीप रखती है। खाओ वत्स! एक दिन विकार होने के समय तुम चावल चाहते थे, तब तुम्हें दे नहीं सकी, अब विकार दूर हुआ है, अब अनायास चावल खा सकते हो। पुत्र की इच्छा न होने पर भी उस समय मा उसको चावल खिला देती है। ठीक इसी प्रकार महामाया मा ने जगत् को मुग्ध कर रक्खा है।

जो साधक इस अवस्था में आकर हताश हो जाते हैं, उनके सम्मुख गुरु मेधस् ने कैसी अभय बाणी की विजय-पताका रक्खी है उसे देखो! उन्होंने कहा है—"तया सम्मोह्यते जगत्" उसी ने इस जगत् को मुग्ध कर रक्खा है—तुम क्या करोगे? जब मा ही यह मोह रूप धारण कर तुमको मुग्ध करती है। उस मोह रूपिणी मा को देखो। देखो मा तुमको मुग्ध करती है। उस मोह रूप से तुम्हारी मा है! इस विश्वास को बज्रवत् दृढ़ धारणा से हृदय में बैठालो। कितने ही मुग्ध क्यों न हो, तुम मा कहना मत छोड़ो। काम आवे तो बोलो—जय मा; काञ्चन आवे तो बोलो जय मा; विषय-वासना हो तो बोलो-—जय मा; ममता आवे बोलो—जय मा; जब सब ही मा है! तब तुमको भय क्या है? चाहे जिस मूर्ति में क्यों न हो, तुम्हारी मा ही तो आती है। चाहे क्षुद्र हो! चाहे मलिन हो! चाहे पङ्किलतामय हो! परन्तु वह तुम्हारी मा है, यह निश्चय है। तुम उसकी अवज्ञा क्यों करोगे? घृणा व्यञ्जक कुटिल कटाक्ष से क्यों उड़ा देना चाहते हो? मा कह कर उसका अभिवादन करो। मा कह कर उस मोह रूपिणी मा के श्री चरणों में अश्रुसिक्त पुष्पाञ्जलि दो, और कहो—"मा! तू ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर की जननी महामोक्ष-प्रदायिनी राजराजेश्वरी होकर ऐसे कङ्काल वेश में—ऐसी क्षुद्रता के रूप में इतनी मलिनता का बनावटी वेश धारण कर हमारे

सम्मुख आई हो ? हमारा अहो भाग्य" ! ऐसा ही करके मोहरूपिणी मा के चरण पकड़ कर रोओ, फिर देखो कि क्या होता है !

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥४०॥

अनुवाद—वह देवी भगवती महामाया ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक आकर्षण करके, विषय-विमुग्ध कर रही है ।

व्याख्या—देवी शब्द का अर्थ द्योतनशीला है। अनेक भावों से प्रकाश होना ही उसका स्वभाव है। अथवा दिव् धातु का अर्थ क्रीड़ा है। यह बहुत्व-क्रीड़ा ही जिसका स्वभाव है, वही देवी है। भगवती-षोड़ैश्वर्य्यशालिनी। ये दोनों महामाया के विशेषण हैं। हमारी माता का ऐसा ही खेल है। ऐसा ही प्रभाव है कि जो ज्ञानी हैं—जिन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया है; जिनको आत्मानात्म–वस्तु–विवेक हुआ है, उनके चित्त को भी बलपूर्वक आकर्षण करके विषयाभिमुखी करती रहती है। यही उसका देवीत्व है—यही उसका खेल है। यह 'बलादाकृष्य' न होने से, आचार्य्य शंकर का बौद्ध दलन वेदान्त भाष्यादि बहु-ग्रन्थ प्रणयन, सनातनधर्म्म की पुनः प्रतिष्ठा, प्रयास, दिग्विजय आदि कार्य्य सम्पन्न नहीं होते, ऐसा जोर कर खींच कर उतारे बिना, भक्तवीर गौराङ्गदेव का अनेक देशों में धर्म्म-प्रचार, पतितों का उद्धार आदि कार्य्य सम्पन्न नहीं होते। इसी प्रकार सर्वत्र है। पूर्व पूर्व जो जो महापुरुष आविर्भूत हुए थे—जिनकी ज्ञान-भक्ति के उज्ज्वल प्रकाश से जगत् धन्य हुआ है; यह न समझ लेना कि वह महामाया के हाथ से बचे हुए थे। चाहे जितनी मिथ्या, चाहे जितनी भ्रान्ति क्यों न कहे, महामाया नित्य सत्य है, यह बात मुख से न कहने पर भी कार्य्य द्वारा वह निरन्तर प्रमाणित कर गये हैं।

कोई साधक यह मनमें न समझे कि तुम दिन रात समानभाव से मा के अचिन्त्य अव्यक्त अनिर्देश्य स्वरूप से युक्त होकर रह सकोगे।

ऐसा न कभी हुआ और न कभी हो सकेगा। चाहे मौनी बाबा ही क्यों न हो, फिर पर्व्वत-कन्दर-निवासी अथवा निर्जन महारण्य में रहने वाले साधु सन्यासी ही हों, महामाया के प्रभाव से कोई भी नहीं बच सकता है न बचा है। अरे भाई जबतक देह है तबतक महामाया है; विदेह-कैवल्य एक दिन होता है। जहां जाने पर फिर लौटना नहीं होता, वही हमारी मा का परमधाम है। वहां वह जिस दिन इच्छा करेगी, उसी दिन ले जावेगी। इससे पूर्व किसी को भी जाने का अधिकार नहीं है। और जाने की आवश्यकता ही क्या है ? मा की गोद में रहकर मा का खेलान देखिये कैसा आनन्द-मय है ! अबतक अपना संसार किया है, आप कर्त्ता बनकर संसार के खेल खेले हैं। कितने आघात पाये हैं, कितना धूला मैला (शरीर से) मला है। अब मा को पहचाना है, मा को पाया है, मा की गोद में रहकर मा के संसारखेल में योग दो। उस समय तुम कर्त्ता थे, अब मा कर्त्ता है। अब तुम आघात नहीं पाओगे, धूल नहीं मलोगे। तब फिर खेल करने में दोष ही क्या है ? क्यों त्याग त्याग करने में व्यस्त होते हो ?

जो साधन के एक ऊँचे स्तर पर उठे हैं अर्थात् मा ने जिनको विशेष भाव से अपना स्वरूप समझा दिया है, वह इस 'बलादाकर्षण' से भय नहीं पाते, दुःखित और विषण्ण भी नहीं होते; परन्तु प्रथम-प्रवेश होने वाले साधकों को यह अवस्था अत्यन्त यातना देने वाली है। मान लो कि कुछ ध्यान, पूजा वा ऐसा ही और कोई कार्य्य करना आरम्भ करने के लिये, जिसमें कुछ समय मातृयुक्त होकर रह सको; परन्तु कुछ युक्त रहते न रहते, वह 'बलादाकृष्य' कोई मानो बल पूर्वक चित्त को आकर्षण करके विषयमुखी कर देता है। अथवा तुम दृढ़ सङ्कल्प करते हो कि जीवन भर सत्कार्य्य के सिवाय असत् कार्य्य न करेंगे; परन्तु वहां भी देखोगे कि मानो तुम्हारी अनिच्छा से बलपूर्वक कोई तुमको संकल्पच्युत कर देता है। मा तो इस प्रकार

बलपूर्वक आकर्षण करेगी ही वह आकर्षण मा का ही है, तुम केवल यही देखते रहो, यही इस मन्त्रमें विशेष जानने योग्य है।

तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ॥४१॥

अनुवाद—यह स्थावर-जङ्गमात्मक नित्यपरिवर्त्तनशील विश्व उसी के द्वारा सृष्ट है। वह प्रसन्ना और वरदा रूप से अत्यन्त सन्निहिता होने पर ही मनुष्य मुक्ति पाने के योग्य होते हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में चराचर, जगत्, और विश्व इन तीनों शब्दों में पुनरुक्ति-दोष देखकर अनेक टीकाकारों ने अनेक प्रकार के अर्थ किये हैं। हम उस प्रकार के गोलयोग में नहीं जायेंगे। चर=गमनशील; अचर=स्थितिशील ; अर्थात् स्थावर जङ्गम। जगत्= नित्य परिवर्त्तनशील; विश्व—जो सदा माता की गोदी में प्रविष्ट होता है। यह स्थावर जङ्गमात्मक जो ब्रह्माण्ड सदा परिवर्त्तित होता हुआ अव्यक्त सत्ता में प्रवेश करता है, यह उसी की रचना है। इस मन्त्र में सृज्यते शब्द में जो सृष्टि स्थिति और लय तीन कार्य्य व्यवस्थित हैं, उन्हें समझाने के लिये इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। चराचर—सृष्टि, जगत्—स्थिति, एवं विश्व—लय का द्योतक है। सृष्टि के भीतर भी कुछ रहस्य है। सृज् धातु का अर्थ विसर्ग और त्याग है, इस कारण जगत् सृष्टि कहने से जगत् का परित्याग समझिये। पूर्व जगत् अदृश्यभाव से, कारणरूप से—माता के गर्भ में बीज रूप से स्थित था, जगत् उस अव्यक्त भाव का परित्याग करने से, अदृश्य दृश्य हुआ, कारण कार्य्य हुआ, बीज वृक्ष रूप में परिणत हुआ। इसी का नाम त्याग वा सृष्टि है। गीता में भी "भूतभावोद्भव करो विसर्गः कर्म्म संज्ञितः" ठीक यही बात वर्णन की गई है।

यहां पर हम सृष्टितत्व-सम्बन्ध में संक्षिप्त आलोचना करेंगे— प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार इत्यादि क्रम से प्रकृति के परिणाम

रूप सांख्योक्त सृष्टि, अथवा आत्मा से आकाश, आकाश से वायु इत्यादि क्रम से माया का विवर्तरूप वेदान्तोक्त सृष्टितत्त्व जानने पर, प्रथम प्रविष्ट साधकगणों के पक्ष में विशेष कुछ लाभ नहीं माना जाता है। वह ज्ञान राज्य में विचरने के पक्ष में कुछ सहायक होता है। अस्तु, हम दूसरी ओरसे सृष्टितत्व समझाने की चेष्टा करेंगे।

पूर्व जो अखण्ड ज्ञान और महतीशक्ति की बात कही गई है, वह शक्ति एक इच्छामात्र है। यह जो प्रत्येक जीव में धनेच्छा, पुत्रेच्छा, विषयेच्छा, सुखेच्छा इत्यादि क्षुद्र-क्षुद्र विशेषण विशिष्ट इच्छाओं का प्रकाश होता है, इच्छा में से वह विशेषण अंश निकाल डालने से, ब्रह्माण्डव्यापी एक महती इच्छा की प्रतीति होती है। अखण्ड ज्ञान वा चित्-शक्ति वह महती इच्छा रूपिणी है। उस अद्वितीया महती इच्छा से अनेक भावों में प्रकटित होने की कल्पना विकाश पाती है। यह कल्पना ही जगत् है। कल्पना मन का धर्म्म है। निरञ्जना निर्विकल्पा चैतन्यमयी मा जब मनोमयी वा इच्छामयी रूप से अपना प्रकाश करती है, तब ही वह चराचर सृष्टि होती है। हमारे अपने अपने मन के भाव यदि बाहिर करके किसी को दिखाये जा सकें, तो हम भी इस प्रकार की सृष्टि कर सकें, परन्तु यह नहीं कर सकता, कारण कि हमारे मन को मा का मन वा विराट् मन से स्वतन्त्र कल्पना करके जीवत्व की सीमा के भीतर संकीर्ण कर डाला है; परन्तु मनोमयी महती इच्छामयी महामाया मा जहां जैसा संकल्प करती है, वहां उसी प्रकार का भाव घन हो जाता है; इस कारण पदार्थरूप से स्थूलरूप में प्रत्यक्ष होता है। हमें एक मिट्टी की मूर्ति बनाने में, हाथ पांव चलाने, मृत्तिका—संग्रह आदि अनेक प्रकार के अनुष्ठान आवश्यक हैं; परन्तु हम जब मन के द्वारा किसी मूर्ति को गठन करते हैं, तब न कोई चेष्टा करनी पड़ती है और न सामग्री संग्रह करनी पड़ती है।

मानलो कि तुम स्वप्न देखते हो—"सुसज्जित हाथी की पीठ

पर सवार होकर सहस्रों दर्शकों की उच्च जयध्वनि के बीच, असंख्य अट्टालिका शोभित महानगरी की सड़क पर विचरते हो"। इस दशा में जैसे हाथी, दर्शक लोग, अट्टालिका, सड़क आदि तुम्हारे मन की कल्पना के सिवाय और कुछ भी नहीं है; तो भी स्वप्न देखते समय इतने प्रत्यक्ष, इतने स्थूलभाव से उसमें प्रतीति होती है कि जिसकी कल्पना बोलकर अनुभव नहीं कर सकते, उसी प्रकार मनोमयी मा ने अपने बहुत्व की कल्पना करके अपने को अनेक भाव से प्रकटित कर रक्खा है। यही सृष्टितत्व है। पूर्व कहा है कि वह स्वयं सच्चिदानन्दमयी है; इस कारण उसकी इस सृष्टि अथवा बहुत्वभाव में भी उसकी सत्ता, चैतन्य और आनन्दरूप त्रिविध विकाश स्पष्टभाव से प्रकाशित हैं। फिर एक विशेषत्व यह है कि वह स्वयं अद्वितीया है; इसी से उसकी इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अद्वितीय है। दो प्राणी, दो पत्ते, यहां तक कि बालू के दो कणा भी एकरूप नहीं हैं। साधक! एक बार चक्षु खोलकर देखो, सर्वत्र हमारी मा अद्वितीय सच्चिदानन्दरूप से विराजमान हो रही है। चाहे जितना बहुत्व वा क्षुद्रत्व लेकर अपना प्रकाश क्यों न करे, इस अद्वितीया सच्चिदानन्दमयी मूर्ति का व्याघात कभी भी नहीं हुआ है। यह जगत् ही हमारी मा की स्थूल मूर्ति है। जो इसको मा न कह सकेंगे, जो इसको मा कह कर नहीं देखेंगे, वह किस प्रकार मा के जगत् अतीत अतिसूक्ष्म—केवल ज्ञान, केवल इच्छा, केवल शक्ति–मूर्ति के क्या दर्शन करेंगे? मनोमयी मा को न पकड़ सकने से, विशुद्ध चैतन्यमयी मा को किस प्रकार पाओगे? जाने दीजिये—यह दूसरी बात है।

यह सृष्टि उन्होंने क्यों की? उसकी—इच्छा; यह वैचित्र्य क्यों? उसकी लीला। एक आदमी बाहक है दूसरा बाह्य है, कोई प्रभु है कोई सेवक है, कोई पापी है कोई पुण्यवान् है। यह सबही उसकी लीला है। वह किसी को दण्ड वा पुरस्कार नहीं देती है। कर्म्म फल, पुरस्कार, तिरस्कार, साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश इत्यादि

ज्ञान के प्रथम स्तर हैं। जबतक उनको देखा नहीं जाता, तबतक जीव इन सब ज्ञान में विचरण करने के लिये बाध्य होता है; परन्तु विश्वरूप-दर्शन के पश्चात् साधक देखते हैं कि "प्रियोऽसि मे" "आयमात्मा सर्व्वेषां भूतानां मधु, अस्य आत्मनः सर्व्वाणि भूतानिमधु" यह जो कुछ है वह उसे छोड़ कहीं भी कुछ नहीं है; इस कारण कर्म्मफल, दण्ड वा पुरस्कार इत्यादि किस प्रकार कहेंगे? मानलो कि तुम्हारे चित्त में जब सत्प्रवृत्ति प्रकाशित होती है, तब तुम उसको पृथक् दूसरा आदमी समझ कर पुरस्कृत नहीं करते हो; अथवा असत् वृत्ति प्रकाशित होने पर उसे दूर नहीं भगा देते, सब तुम ही में तो फूट निकली है। यह भी उसी प्रकार है। हमारी मा "सत् असत् तत् परंयत्"। कर्म्मफलानुसार सृष्टिवैचित्र्य—ज्ञान के विचार से यथार्थ है। मा की इस स्वाधीन लीलारङ्ग के भीतर कार्य्य-कारण-परम्परा सन्धान करने से ऐसी असंख्य शृङ्खला प्रत्यक्षीभूत होती हैं। उन नियम और शृङ्खलाओं का आविष्कार करने ही के लिये दार्शनिक अथवा पौराणिक सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन हुआ है।

अस्तु, चराचर से हमारी मा सृष्टिशक्तिमयी ब्रह्ममूर्ति, जगत्रूप से पालन-शक्तिमयी विष्णुमूर्ति और विश्वरूप से संहरण-शक्तिमयी शिवमूर्ति है। यह सृजनादि तीन काम जिस स्थान में संघटित होते हैं, वही ईश्वर, अक्षर पुरुष आदि के नाम से प्रसिद्ध होता है। महामाया मा के अन्तर में ये तीन भाव अव्यक्तभाव से छिपे हुए थे। उन्हें प्रकाशयोग्य करने के लिये उसने यह अव्यक्तभाव परित्याग किया है इसी से विसृज्यते का अर्थ त्याग है। यही तान्त्रिकों के कारणार्णव में महाकाली का ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर का उत्पन्न होना है।

यह जब नरों के मुक्तिरूप से अर्थात् अनेक रूप परित्याग करके केवल शुद्ध बोधरूप से प्रकाशित होने के लिये-मनोमयी मूर्ति परित्याग करके अपनी मूर्ति में प्रकटित होने के लिये उद्यत होती है, तब ही हमारी मा प्रसन्ना और बरदा रूप से प्रियतम सन्तानों के निकट

प्रकाशित होती रहती है। और भी देखो यह नित्यतृप्ता, नित्यप्रसन्ना, नित्य-वरदायिनी मा जीवों की मुक्ति के लिये अन्तर से अन्तर में—अति निकट में अवस्थान करती है। इसी से मन्त्र में "एषा" यह अति समीपत्व बोधक एतद् शब्द का प्रयोग हुआ है।

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्व्वेश्वरेश्वरी ॥४२॥

अनुवाद—वह विद्या और अविद्या, परमा और अपरमा है; इस कारण बन्धन और मुक्ति दोनों का ही हेतु है। वह सनातनी मा सर्व और ईश्वर की भी ईश्वरी है।

व्याख्या—महामाया मा हमारी विद्यारूपिणी है। विद्या—"यया तदक्षरमधिगम्यते"। जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्म को जाना जाता है, उसका नाम विद्या है। विद्या और अविद्या-भेद से विद्या दो प्रकार की है। अविद्या शब्द का अर्थ विद्याविरोधी कुछ नहीं है; कारण कि विद्या स्वप्रकाशरूपा है। उसका विरोधी वा आवरक कुछ भी नहीं रह सकता। यहाँ नञ् ईषत्—अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विद्या जब परिच्छिन्न जीवादि रूप से प्रकटिता होती है, तब ही अविद्या नाम से—विद्याविरोधि-रूप से प्रकाशित होती है। यहाँ पर 'सा विद्या' शब्द से विद्या और अविद्या दोनों ही समझे जाते हैं। इसी प्रकार परमा शब्द परमा अपरमा दोनों अर्थों का द्योतक है। अकार—प्रश्लेष करने से ही ऐसा अर्थ होता है। "परान् ब्रह्मादीन् अपि माति इति परमा"। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर की भी नियमनकर्त्री है; इसी से, हमारी मा परमा है। अपर अर्थात् जीव जगत् की भी नियमनकर्त्री है; इसलिये हमारी मा अपरमा है; इस कारण मुक्ति और संसार-बन्धन इन दोनों की ही कारण स्वरूपा है। वह सनातनी—नित्या है, अतएव सर्व अर्थात् जीवजगत् और ईश्वरी अर्थात् मायोपहित चैतन्य (ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर) इन तीनों की वह ईश्वरी है। एक बात में महामाया ही

सर्व है। ईश्वर और जगत् इन दोनों से अतीत है। महामाया ही क्षर अक्षर पुरुषोत्तम, जीव ईश्वर ब्रह्म, मन प्राण आत्मा, ज्ञान ज्ञेय और ज्ञ इन त्रिविध भिन्न-भिन्न रूपों से आत्म प्रकाश करती है।

इस मन्त्र में मुक्ति और संसार-बन्ध, इन दोनों की बात है; इस कारण यहां पर इसके सम्बन्ध में कुछ आलोचना आवश्यक है, जीव जबतक विशुद्ध चैतन्य का आभास नहीं पाता है, तबतक संसार-बन्धन का विचार नहीं कर सकता है। मन बुद्धि इन्द्रिय आदि के भीतर होकर प्रकाशित होने से जो क्षुद्रत्व स्वीकार करने होता है, उस क्षुद्रता की—परिच्छिन्नता की जो कुछ यातना है जबतक जीव इसका अनुभव नहीं कर सकता, तबतक मुख से सहस्रवार बन्धन बन्धन कहने पर भी, यथार्थ बन्धन का ज्ञान नहीं हो सकता। असल बात तो यह है कि मा को देखने से पूर्व्व बन्धन-ज्ञान होता ही नहीं, एक बार खुले हुए आकाश में विचरण किये बिना पिञ्जरे में रहना दुःखदाई नहीं जान पड़ता है। बन्धन का स्वरूप क्या है ? मन, जब तक मन है, तबतक ही बन्धन है, तबतक ही संसार है, एक आत्म-सम्वेदन है—"संसार बीजं मन एव-विद्धि, न पुत्रभार्य्या-द्रविणादिकं हि। संसारनाशो मनसोलयेन न तत् गृहस्थाश्रम वर्जनेन"। मन ही संसार का कारण होता है; पुत्रभार्य्या धन विषय यह संसार नहीं है। मन के लय होने से ही संसार-बन्धन दूर होता है गृहस्थाश्रम परित्याग करनेसे संसार त्याग नहीं होता।

मुक्ति! यह बड़ी दूर की बात है; बन्धनज्ञान! बड़ी दूर की बात है; मा जानते हैं, जिस क्षण में यथार्थ बन्धनज्ञान हो जायगा, उसी क्षण हम नित्यमुक्त हैं; कारण कि हम इच्छामयी के वर पुत्र हैं। अरी मा! अब भी यह बन्धन-अवस्था ही अधिक प्रीतिकर जान पड़ती है! हम कुछ भी क्यों न करें, बन्धन बनाये रखने में खूब ही प्रेम करते हैं। मा! इस जगत् में जा शक्तिमान् महा-पुरुष प्रसिद्ध हुए हैं, वह भी तो तुमको दिया हुआ दो चार

सिद्धियों का मुकुट माथे पर रखकर मैंत्व को महत्व के मन्दिर में प्रतिष्ठित कर गये हैं। कहो मा! उनमें यथार्थ मुक्ति की इच्छा करने वाले कितने मनुष्य थे? उसके बाद जो तुम्हारे रक्त चरणों के समीपस्थ होकर शुद्धा भक्ति वा विशुद्ध ज्ञान भिक्षा कर जगत् में सर्वश्रेष्ठ साधक नाम से कहे गये हैं, वह भी तो मैंत्व की रक्षा करने में, बद्ध-अवस्था में अवस्थान करने में विशेष सचेष्ट हुए हैं। उनका विशेषत्व यह है कि वह मैंत्व की मलिन पोशाक उतार कर, उज्ज्वल बहुमूल्य पोशाक से विभूषित होना चाहते हैं! कहो मा! क्या वही मुक्ति प्रयासी हैं? फिर जो संसार-संताप से विदग्ध होकर मुक्त होना चाहते हैं, उनको संसार के अभाव अभियोग दूरीभूत होने ही से मुक्ति की आवश्यकता का अन्त होता है। परन्तु हम जानते हैं कि मा! यह जीवत्व रहने तक तुम्हारा जगद्व्यापी अपार स्नेह सम्भोग हमसे भोगा नहीं जाता। यह क्षुद्र वक्ष तुम्हारे उस असीम स्नेह को लेकर पकड़ कर रख नहीं सकते। ये दोनों क्षुद्र नयन तुम्हारे सदा लोभनीय ब्रह्माण्डव्यापी रूपराशि को ग्रहण नहीं कर सकते। यह क्षुद्र श्रवण छिद्र तुम्हारे कमनीय-कण्ठ विनिःसृत (कण्ठ से निकले हुए) सुधामय आवाहनरूप प्रणव (ओं) ध्वनि धारण नहीं कर सकते। तुम्हारी अङ्गनिःसृत (शरीर से निकली हुई) दिव्यगन्ध वहन करने की सामर्थ्य इस क्षुद्र नासिका को नहीं है। यह त्वक् (त्वचा) तुम्हारे आत्महारा स्पर्श को सहन नहीं कर सकती। ये क्षुद्र शिशु-हस्त तुम्हारे त्रिभुवनव्यापी श्रीपादपद्म में भक्ति-चन्दन मिश्रित कुसुम समूह अर्पण नहीं कर सकते। हमारा यह एक मस्तक तुम्हारे सहस्र चरणों में प्रणाम करने को समर्थ नहीं होता। मैं किस प्रकार तुम्हारे उस आकुल स्नेह का अनुभव करूँगा! अजी, कूप में रह कर क्या आकाश व्यापिनी सुधामयी चन्द्रिका पान की जाती है? इसी से मा तुम्हारा स्नेहभोग करने पर—यथार्थ आत्मप्रेम में विह्वल होने पर मुक्त होना ही होगा। मा! हम मुक्ति के लिये मुक्ति नहीं

चाहते। मुक्ति से हमें कुछ प्रयोजन ही नहीं है—यदि बद्ध अवस्था में रहकर तुम्हारा स्नेह भोग कर सकें ? अथवा हम जानते हैं कि जिस दिन जीव तुमको प्राण कहकर, आत्मा कहकर समझ सकें—जिस दिन तुमको आत्मदान करके आत्ममय हो सकें, उस दिन बन्धन वा मुक्ति फिर कुछ कहने को रहता ही नहीं। आत्मदान करने के पूर्व्व पर्य्यन्त ही जीव के हृदय में तुम बन्धन और मुक्ति-रूप से प्रकाशित होते हो।

मा! तुम तो नित्य मुक्त हो; तथापि अनादि काल से इस जगत्-बन्धन में बंध रहे हैं। यह सृष्टि स्थिति प्रलय का बन्धन तुम्हारे ही अङ्ग का नित्यभूषण है। इस बन्धन में रहकर भी तुम नित्यमुक्त हो! और मैं—मैं अपनी नित्यमुक्त मा की गोद में बैठ कर भी बद्ध! धिक्कार मेरे सङ्कीर्ण ज्ञान को! धिक्कार मेरे पुत्रत्व को! जो पुत्र नित्य खुले हुए माता के वक्ष पर लालित पालित होकर भी, अपने को बद्ध कहकर मानता है उसका पुत्रत्व बिड़म्बना मात्र है। परन्तु वह और बात है :—

जबतक बन्धनज्ञान प्राण में नहीं खिलता, जबतक खाना देना फिरना में ही बहुत अच्छा है, तब फिर और बन्धन क्या हैं ? यह भाव जबतक दूरीभूत नहीं होता, तबतक समझना होगा कि—हमारी मा अब भी उसके हृदय में बन्धन ज्ञानरूप से प्रकाशित नहीं हुई। प्रार्थना करने से वह उसी रूप से आविर्भूत होती है। तब असहनीय बन्धनयातना का ज्ञान होता रहता है; उस यातना में से ही मुक्ति की कामना खिलती है। तब मा जीव को क्रम से उच्च से उच्चतर पद पर ले जाती है। यदि उस उच्चतर पद को प्राप्त होकर भी प्रबल मुक्ति कामना जाग्रत कर रख सकते हैं, तब ही मुक्ति रूपिणी मा अपनी स्नेह की सन्तान को अपने हृदय से लगा लेती है। जो दोनों अवस्थाओं के भीतर होकर जीव मोक्षधाम में पहुँचता है, उसे प्रतिपादन करने के लिये ही मन्त्र में सर्वेश्वरेश्वरी शब्द प्रयुक्त

हुआ है। सर्व और ईश्वर इन दोनों की ही ईश्वरी है। प्रथम तो सर्वत्व में मुग्ध जीव हमारी मा के सर्वरूप में—जगत्-धूलि शरीर पर मलकर परितृप्त रहते हैं। यही जीवभाव वा सर्वभाव है। उसके बाद यह सर्व जिससे उत्पन्न, स्थित और संहृत है वही ईश्वर भाव है। प्रथम जीव सर्व्वत्व से इस ईश्वरत्व में पहुँचने का प्रयास पाता है। अन्त में इन दोनों का अतीत परम भाव है। जिसमें ये दोनों स्वरूप सम्यक्-भाव से स्थित् हैं, एवं जिसको पाने से, इन दोनों की अवस्था फिर अनुभव में नहीं आती, वही मा का सर्वेश्वरेश्वरी-स्वरूप है।

मानलो कि तुम वस्त्र देखते हो; जबतक तुम वस्त्र पर मुग्ध हो तबतक नाम, रूप और व्यवहार-रूपिणी मा के सर्वरूप से अवस्थान करते हो। फिर वस्त्र के कारणरूप सूत्रांश पर दृष्टि पड़ी। यही मा के ईश्वरस्वरूप का दृष्टान्त है। अन्त में सूत्र का कारण अनु-सन्धान करने से जाना गया कि रूई के सिवाय कहीं भी कुछ नहीं है। तब तुमसे वस्त्र का नाम रूप, गुण और कारण अर्थात् सूत्र सब ही अदृश्य हो गये हैं। तब तुम महाकारण से मुग्ध हो। यही हमारी मा के सर्वेश्वरेश्वरी-स्वरूप का उदाहरण है। इन तीन स्वरूपों में जो व्यक्ति कामचार अर्थात् स्वेच्छा से विचरण कर सकते हैं, वही आप्तकाम महापुरुष हैं। वही बन्धन और मुक्ति से अतीत हैं। जीव श्रेणी में भी यह तीन प्रकार का भेद दिखाई पड़ता है। कुछ बद्ध है, कुछ मुक्त है एवं कुछ इन दोनों के अतीत है। (मुमुक्षु जीव-बन्ध के अन्तर्गत है)। ये तीन अवस्थायें ही क्रम से अविद्या, विद्या और परमा नाम से प्रसिद्ध हैं। एवं ये तीन अवस्थायें ही के भितर होकर जो सत्य और नित्य वस्तु अविकारी भाव से अनुस्यूत हैं, उसे समझाने के लिये ही इस मन्त्र में सनातनी शब्द का प्रयोग हुआ है।

राजोवाच ।

भगवान् का हि सा देवी महामायेति यां भवान् ।
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्म्मास्याश्च किं द्विज ॥४३॥
यत्स्वभावा च सा देवी यत्स्वरूपा यदुद्भवा ।
तत्सर्व्वं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तोब्रह्मविदांवर ॥ ४४ ॥

अनुवाद—राजा ने कहा—हे भगवान्! हे द्विज! आप जिसे देवी महामाया कहते हैं वह कौन है? वह क्यों उत्पन्न होते हैं? और उसका कर्म्म क्या है? उसका जिस प्रकार का स्वभाव है, जो स्वरूप है और जिससे वह उत्पन्न है; हे ब्रह्मविद्वर! मैं आपसे वह सब तत्व श्रवण करना चाहता हूँ।

व्याख्या—इतनी देर तक राजा मनोयोग पूर्वक गुरु मेधस् के बचन सुनते सुनते इतना तन्मय हो गया था और महामाया का किञ्चित् आभास पाकर, उसका स्वरूप जानने के लिये इतना उद्विग्न हो गया था कि—'सर्वं श्रोतुमिच्छामि' कहकर मन का प्रबल आग्रह बाहिर प्रकाश कर डाला। उसको जानने के लिये ऐसा आग्रह देखने से ही गुरु प्रसन्न होते हैं। यहां पर सुरथ की व्याकुलता गुरु में भगवद् बुद्धि को अस्वीकार करने में नहीं थी; इसीसे, प्रथम 'भगवन्' सम्बोधन है। भगवान्, न होने से भगवत्तत्व कौन कहेगा? उसकी बात, उसका स्वरूप उसके सिवाय अन्य कोई भी कहने का अधिकार वा सामर्थ्य नहीं रखता; इस बात को सुरथ भलीभांति समझता था, इसी से प्रथम ऐसा सम्बोधन किया है; इस मन्त्र में और एक शब्द है—"ब्रह्मविद्वर! श्रुति कहती है—ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" जो ब्रह्म को जानता है, वही साकार ब्रह्म है। ब्रह्मज्ञ के बिना ब्रह्मतत्व का विश्लेषण कौन करेगा? सौभाग्य बल से जीव को यदि ब्रह्मज्ञ—गुरु प्राप्त हो, तो सब आशङ्का और सन्देहों का मूल ही उखड़ जाता है।

आध्यात्मिकभाव से भी देखा जाता है कि जीवात्मा समाधिस्थ

होकर शुद्ध-बोध में अवस्थान कर सकने से ही, उसको यह सब तत्व अनुभव करने की योग्यता प्राप्त होती है। शुद्ध-बोध आत्मोपलब्धि का सब से अन्तिम उपाय है। आत्मा—मा हमारे शुद्ध-बोध में ही उज्ज्वल रूप से प्रतिबिम्बित है। इस कारण उसको ब्रह्मविद् कहा जाता है। जीवात्मा ने अबतक समाधि की सहायता से इस बोध में स्थिति करके, केवल महामाया वा अज्ञेया महती शक्तितत्व का कुछ अनुभव किया है। जीव बड़े सौभाग्य बल से इस शक्तितत्व में प्रवेश कर सकता है। ब्राह्मण हुए बिना--ब्रह्मज्ञान का आभास पाये बिना, यह शक्तितत्व का स्फुरन नहीं होता।

एक बार इस शक्ति वा महामाया के समीपस्थ हो सकने से जीव की सब दुश्चिन्ता त्रितापज्वाला संसार के मोहजनित उद्विग्नता सब हो तिरोहित हो जाती हैं। सुरथ इस समय समझ सका है—कि जीव इस संसार में मोह से मुग्ध होता है, यह महामाया की इच्छा वा लीला मात्र है। इसी से महामाया का स्वरूप विशेषरूप से जानने के लिये एक साथ यह छः प्रश्न किये हैं, (१) वह कौन है ? (२) क्यों उत्पन्न होती है ? उसका कर्म्म क्या है ? (४) उसका स्वभाव क्या है ? (५) उसका स्वरूप क्या है ? (६) और कहां से उसका उद्भव है ?।

ऋषिरुवाच।

नित्यैव सा जगन्मूर्त्ति स्तया सर्व्वमिदं ततम्।
तथापि तत् समुत्पत्ति र्वहुधा श्रूयतां मम ॥४५॥
देवानां कार्य्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदालोके सा नित्याप्यभिधीयते ॥४६॥

अनुवाद—ऋषि ने कहा—वह नित्या है; यह जगत् ही उसकी मूर्ति है; वह सर्वत्र परिव्याप्त हो रही है। तथापि उसकी अनेक

प्रकार की उत्पत्ति का विवरण हमसे सुनो। (उसका अपना कोई कार्य्य नहीं है) देवताओं के कार्य्यसिद्धि के लिये जब आविर्भूता होती है, तब नित्या होने पर भी वह उत्पन्ना कही जाती है।

व्याख्या—सुरथ ने पूछा कि—महामाया कौन है? ऋषि ने उसका उत्तर दिया कि वह नित्या है; उसका नाश और उत्पत्ति नहीं है; इस कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं है; कारण, इन्द्रिमग्राह्य पदार्थ-मात्र ही परिच्छिन्नता के कारण ध्वंसोत्पत्तिशील हैं। हम चक्षुआदि इन्द्रियों द्वारा जो ग्रहण करते हैं, ध्वंस और उत्पत्ति उसका धर्म्म है। महामाया में वह धर्म्म नहीं है। इससे वह नित्या-अतीन्द्रिया है।

साधक! तुम्हारे भीतर जो चैतन्य-सत्ता है—सदा जिसका अस्तित्व तुम अनुभव करते हो, वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। तो भी नित्य सत्य है—न उसका नाश है, न उत्पत्ति है, न वृद्धि है, न हानि है, वह अच्छेद्य, अदाह्य, अशोष्य, अक्लेद्य है; वह तुमको अप्राप्य न होने पर भी तुम उसे पकड़ने, समझने वा भोग करने नहीं सकते, तो भी सदा उसको ही सम्भोग करते हो। तुम जन्म मृत्यु बाल्य यौवन वार्द्धक्य आदि परिवर्तन के भीतर से आते हो, परन्तु उसका सङ्ग कभी नहीं छूटा है। तुम्हारे कितने ही परिवर्तन संघटित होते हैं, होंगे; परन्तु उसका कोई परिवर्तन नहीं है। स्थूल बात यह है कि जिसको तुम प्राण कहते हो, वह जो चेतना है—वह जो हंस् है, जो है इससे तुम हो, वह अणु है वा महान् है, यह कहा नहीं जाता है। उसका नाम नहीं है, रूप नहीं है, गुण भी कुछ नहीं है। इस प्रकार साधारण-भाव से उसको जान लीजिये। किन्तु वास्तव में उसको जाना नहीं जाता है; कारण कि वह ज्ञान स्वरूप है, जानने में आने से ही उसके नित्य-स्वरूप में विलक्षणता आती है।

शिष्य जब भगवान् के स्वरूप को जानना चाहे, तब उसको यहांतक कहने से, वह विचार करता है कि फिर इससे लाभ क्या है? और साधन क्या है? यह तो सुलभ होने पर भी अलभ्य है,

साधन के अतीत है; कारण कि साधन एक धर्म्म विशेष है, वह तो सब धर्म्मों से अतीत है; इस कारण साधन-लभ्य वा साध्य नहीं है; परन्तु इससे तो साधक की प्यास नहीं बुझती। वह उसको प्रत्यक्ष कर भोगना चाहता है। जगद्-भोग में अभ्यस्त जीव, जबतक मा को भोग में नहीं ला सकता, जबतक दिल खोल कर सुखदुःखकी बात प्रत्यक्ष-भाव से उसके चरणों में निवेदन नहीं कर सकता, तबतक उसके प्राणों की प्यास कैसे बुझ सकती है? इसी से, व्याकुल होकर शिष्य कहता है, वह नित्या हो, चाहे अज्ञेया हो, हे गुरो! उसे आप सम्भोग के योग्य कर दीजिये। हमारे प्रत्यक्ष के योग्य कर दीजिये। इस प्रकार जब शिष्य का दुःख पूर्ण व्याकुलता में परिणत होता है, तब ही अहैतुक कृपानिधान गुरु शिष्य के अज्ञानान्ध चक्षु उन्मीलित करके, धीर गम्भीर-भाव से कहते हैं कि पुत्र! शिष्य! साधक! क्या तुम सत्य ही मा को—महामाया को देखना चाहते हो? क्या यथार्थ में उसको पाने के लिये तुम्हारे प्राण रोने लगते हैं? तो देखो—तुम जिसको सदा देखते आये हो, जिसे अनेक जन्मों से भोगते आये हो, जिसको नश्वर कहकर, मिथ्या कहकर परित्याग करने के लिये अनेक बार व्यर्थ प्रयास हुये हो, स्वप्न कहकर भ्रान्ति कहकर अपने दिव्य नेत्रों पर अपने आप स्याही लगाली हो, उसको देखो—वह "जगन्मूर्ति है", यह जगत् ही उसकी प्रकट मूर्ति है।

साधन-मार्ग में इसकी अपेक्षा सारवान् उपदेश, श्रेष्ठ शिक्षा और कोई भी समझ में नहीं आती है। इस जगत् को मा कहो। यदि विश्वास न कर सको तो नकल करके कहो, मिथ्या करके कहो, कारण कि वह मिथ्या नहीं है। वायु अदृश्य है; किन्तु प्रवाह रूप से प्रकाशित होने के कारण वह सबको ही भोग्य होती है, उसी प्रकार हमारी मा नित्यस्वरूप में इन्द्रियग्राह्य नहीं है; भोग्य नहीं है; परन्तु हमारे लिये नित्यभोग्य इस स्थूल जगन्मूर्ति में वह नित्य विराजिता है; प्रकट मूर्ति में यदि विश्वास न कर सकोगे, तो अचिन्तनीय तत्त्व

किस प्रकार धारण करोगे? जो यथार्थ में प्यासे हैं उन्हें इसमें किसी प्रकार विचार वितर्क सन्देह कुछ भी नहीं हो सकता। वह समझेंगे कि हाय! मैं इतने दिन तक कैसी भ्रान्ति में था, अबतक इसको जगत् कहकर भोग करता आया हूँ, कभी एक दिन भी तो मा कहकर भोग नहीं किया! अब नहीं, अब गुरु कृपा से समझा हूँ कि यही मा है। आज मुझे मातृ लाभ हुआ है, अब मैं कुछ नहीं चाहता, जिधर देखूं उधर ही मा है, जो वस्तु छुऊंगा वही मा है, तब फिर मुझे अभाव ही क्या? अपनी कातर प्रार्थना, अपना भक्तिहीन प्रणाम, अपनी कृतज्ञता के आंसू ग्रहण कराने के लिये अपनी मा को तलाश नहीं करना होगा, मैं जहां अर्पण करूंगा वहीं वह ग्रहण करेगी। इसकी अपेक्षा सुख और आनन्द की वाणी और क्या होगी? धन्य श्रीगुरु! जो मुझे अपार सागर का तट दिखला दिया। मा कहां है, भगवान् कहां है यह कहकर कितना अन्वेषण किया है; परन्तु कुछ पता नहीं पाया। जितना अन्वेषण किया उतना ही उसे दूर जानने लगा, परन्तु अब समझ में आया कि वह निकट से भी निकट है; अब मुझे भय क्या है? यह कहकर उसके साधन का सूत्रपात करेंगे। नूतन जीवन पाकर नये उत्साह से पूर्ण अध्यवसाय के साथ प्रतिकार्य्य में, प्रति जगद्-व्यापार में मातृयुक्त होने की चेष्टा करेंगे।

साधक! इस स्थान में "महामाया-प्रभावेण इत्यादि द्वितीय मन्त्र की व्याख्या फिर एक बार पढ़ो। ऋषि-वाक्य में गुरु-वाक्य में पूर्ण श्रद्धा, पूर्ण विश्वास लाने का प्रयास करो। फिर देखो कि— तुम्हारे शुभ दिन कितने समीप हैं! साधन की सफलता, जीवन की चरितार्थता, निश्चय ही अनुभव कर सकोगे।

जो लोग गीता के "यो मां पश्यति सर्व्वत्र सर्व्वञ्च मयि पश्यति" इस मन्त्र की साधना से आगे बढ़कर, चण्डीतत्व में प्रवेशपूर्वक समाधि की सहायता से, शुद्ध–बोधरूपी गुरु के निकट सुनेंगे कि—

"नित्यैव सा जगन्मूर्ति," उसकी सब आशायें मिट जायेंगी, प्राण में पूर्ण परितृप्ति आवेगी। और जो लोग यह कहें कि यह तो जानी हुई बात है ! इस में नई बात क्या जानी गई, भगवान् सर्व्वभूतों में विराजमान हैं; इस में फिर नई बात ही क्या है ! यह कहकर जो नूतन रहस्य के तलाश करने में व्यस्त रहेंगे, वह निश्चय नई तलाश करते करते, इस चिरपुरातन सर्वजनविदित सत्य में जाकर पहुँचेंगे। सब शास्त्रों में इस एक ही बात की प्रतिध्वनि है। वैदिक युग की साधन-प्रणाली भी इसी विश्वरूप से आरम्भ होती थी, वह उपनिषदों में विस्तार पूर्वक वर्णित हुई है। साधन व्यापार जबतक अति सहज नहीं जान पड़ता है, तबतक साधक की आध्यात्मिक गति मृदुभाव से रहती है। आजकल ऐसा युग आया है कि साधन को एक कष्ट साध्य व्यापार माना जाता है, कितना त्याग, कितना संयम, कितनी कठोरता करनी होगी ! परन्तु यह ऋृषियुग की बात नहीं है। वह सरल सत्य विश्वास से इस विश्वरूप से उपासना करते थे और उसी के फल से उनको ऋृषित्व प्राप्त होता था। जिस वस्तु को देखते थे उसी को भगवद् जानकर ग्रहण करते थे। वह जल को देख कर कहते थे—"आपः शुद्धन्तु मैनसः" 'आपोहिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्ज्जेदधातन, महेरणाय चक्षषे'। अग्नि देखकर कहते थे—'अग्नि मीड़े पुरोहितम्'। वायु स्पर्श कर कहते थे—'मधुवाता ऋतायते'। सूर्य्य को देखकर कहते थे—"यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि"। पुष्प देखकर कहते थे—'श्री रसि मयि रमस्व'। भूमि देखकर कहते थे—"मधुमत् पार्थिवं रजः" ऐसा कहते कहते सरल प्राण नम्र शिशु की भांति मिट्टी के साथ खेल करते थे। उन पवित्र नाम ऋृषियों का सरल सत्य साधन फिर अब कितने दिनों में भारत के प्रत्येक गृह में प्रतिष्ठित होगा ! सत्य-मन्त्र से दीक्षित होकर, सत्यप्रतिष्ठा से वीर्य्यवान् होकर, सत्य प्राप्ति से कृतार्थ होकर, भारत कब कहेगा कि यह जगत् महा सत्य है ! कब कहेगा कि—भूमि सत्य है, जल सत्य

है, वायु सत्य है, आकाश सत्य है, मन सत्य है प्राण सत्य है! सत्य के उज्ज्वल प्रकाश से कबतक मिथ्या की कलङ्क-कालिमा दूर होगी! परन्तु वह दूसरी बात है।

यह जगन्मूर्ति महामाया का दर्शन वा सत्यप्रतिष्ठा सब से प्रथम जड़ पदार्थों से आरम्भ करने होता हैं। कारण कि चेतना जीव का भावचाञ्चल्य साधन—समर में प्रथम—प्रविष्ट साधक को मातृत्वबोध से—साधन में व्याघात उत्पन्न कराता है। इसी से, प्रथम वृक्षलता फल फूल मिट्टी पत्थर चन्द्र सूर्य्य आकाशादि पदार्थों के अवलम्बन से मातृबोध वा सत्य-ज्ञान जाग्रत करने होता हैं। इस प्रकार साधन अर्थात् सत्यप्रतिष्ठा करते करते चित्त-विक्षेपवशतः मा की बात भूल कर, विषयाभिमुखी होने में भी क्षति नहीं है। मन की चञ्चलता जैसे मा को भुला देगी, वैसे ही अनेक कार्य्यों द्वारा कभी कभी मा का स्मरण भी करा देगी। साधक! तुम केवल उस स्मरण मुहूर्त्त को सद्व्यवहार करने का यत्न करो। जितने दिन भूले रहे उसे जाने दो, उसकी कुछ चिन्ता न करो; कारण कि भ्रान्तिरूप में भी मा ही विराजिता है। जिस मुहूर्त्त में उसकी बात मन में याद आजायगी, उस समय जो सामने पाओगे, वह ही तुम्हारी प्रत्यक्ष मा है, इस सरल सत्य-विश्वास में पूर्णकाम निश्चिन्त पुरुष की भांति खड़ी होगी। कुछ दिन इस प्रकार अभ्यास करने से ही मा इस जगन्मूर्ति से प्रकटिता है, वह अनुभव के योग्य होगा।

सुरथ ने जिज्ञासा की थी कि—उनका स्वरूप क्या है? ऋषि ने उसका उत्तर दिया कि यह जगत् ही उनका स्वरूप है। अब उनका स्वभाव क्या है? उसके विषय में उत्तर देते हैं—"तया सर्वमिदं ततम्"। यह जगत् उनके द्वारा परिव्याप्त है। इसके द्वारा शिष्य हृदय की एक अमूलक आशङ्का भी दूर हुई है। वह आशङ्का यह है कि पूर्व्व कहा गया है कि वह नित्या होने पर भी अनित्य जगदाकार से प्रकटिता है। इस अनित्य स्वरूप की साधना करने से हम को क्या

लाभ होगा? हम नश्वर—अनित्य इसीसे ही तो नित्य वस्तु का सन्धान (पता) करते हैं! अनित्य की साधना से नित्यलाभ तो दूर रहा, अनित्यता और भी घनीभूत क्यों न होगी? कारण, कि जो जिसकी साधना करते हैं वह वही हो जाते हैं, ("जैसे की सेवा करो तैसी आशा पूर। रतनाकर सेवे रतन सर सेवें सालूर" ॥) इस कारण अनित्य जगत् की साधना करने से हम भी तो अनित्य ही रहेंगे! "तया सर्व्वमिदं ततम्" इस बात से यह आशंका भी दूरीभूत हुई। वह अनित्य जगन्मूर्ति में प्रकटित होने पर भी, उसका नित्य-स्वरूप सर्वत्र अखण्डित है—ओतप्रोत भाव से सर्वत्र परिव्याप्त है। वह अपने नित्य स्वरूप से विच्युत होकर, इस नामरूपात्मक अनित्य जगदाकार से प्रकाशित नहीं हुई। जिस प्रकार वस्त्र का प्रत्येक परमाणु ही रुई के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, अथवा बरफ का प्रत्येक परमाणु जल के सिवाय और कुछ नहीं है, उसी प्रकार इस अनित्य जगत् का प्रत्येक कल्पित अणु भी नित्य के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है; इस कारण आशंका होने का कोई कारण नहीं है। अनित्य जगत् को मा कहने से, तुमको नित्य वस्तु से वञ्चित नहीं होना होगा। रुई को ढूँढ़ने वाला यदि वस्त्र का टुकड़ा पावे, अथवा जलपान की इच्छा वाला यदि ओस की बूंद या बरफ का ढेला पावे तो वह क्या अपनी तलाश की हुई वस्तु से वञ्चित हुआ? उसी प्रकार तुम भी जगत् को मा कह कर देखोगे कि मा की जगन्मूर्ति दूर हो जाती है और नित्य स्वरूप प्रकाशित होने लगता है। हमारी मा सर्व्वव्यापी विभु है। वह आत्मस्वरूप से इस समस्त जगत् में परिव्याप्त हो रही है। तुम परिच्छिन्न भौतिक पदार्थों को मा कहने से इसके अनेक प्रमाण पाओगे; देखोगे कि ये जड़ पदार्थ ही तुम्हारे साथ मानो चैतन्यवत् व्यवहार करने को उद्यत हैं। जड़ पदार्थों को मा कहते कहते, सत्य कहते कहते, जिस मुहूर्त्त में तुम्हारा विश्वास स्थिर होगा जड़त्व ज्ञान दूर होगा उसी मुहूर्त्त में यह एक जन

चैतन्यवान् जीव की भाँति तुम्हारे साथ व्यवहार करेगी। जड़ वृक्ष तुम्हारा अभिलाषित वरदान देंगे, जड़ मिट्टी तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करेगी। कण्वमुनि के आश्रम के वृक्षों ने शकुन्तला को वस्त्र-भूषण प्रदान किये थे, यह कविकल्पना नहीं है ध्रुव सत्य है। सत्य-प्रतिष्ठा का ऐसा ही फल है। सत्य-प्रतिष्ठा से सूखे वृक्ष पर फूल आने लगते हैं। वर्तमान-युग में भी सत्य कहकर, मा कहकर अनेक साधक जड़ पदार्थों से चेतनवत् व्यवहार पाकर धन्य हुए हैं और होते हैं।

भगवान् का जो नाम जिसको प्रियतम है, भगवान के साथ जो सम्बन्ध जिसको अभीष्टतम है, उस सम्बन्ध-विशिष्ट नाम लेकर जड़ पदार्थों में सत्य प्रतीति स्थापन करने से, देखोगे कि जड़ बोलकर कुछ नहीं है, वह चैतन्य का ही छद्मवेश मात्र है। सत्यप्रतिष्ठा घनीभूत होने से, सत्यबोध विश्वास में परिणत होने से देखोगे कि—जगन्मूर्ति कहाँ अदृश्य हुया है, महान् चैतन्यमय आकाशवत् सर्वेन्द्रियविवर्जित है, तो भी सर्वेन्द्रिय-धर्म्मयुक्त मा का वह नित्य-स्वरूप सर्वत्र परिव्याप्त हो रहा है। यही "तया सर्व्वमिदं ततम्"। यह हमारी मा का विश्वव्यापी चिन्मयरूप है; अथवा वह रूप भी नहीं है, अरूप भी नहीं है, वह अव्यक्त है; गगन सदृश—केवल ज्ञानमूर्ति है। वही क्षीरोदसमुद्र वा कारणवारि है। असुरोंद्वारा पीड़ित हुए देवतावृन्द इस क्षीरोदकुल में अव्यक्तक्षेत्र में उपस्थित होकर, विशिष्ट मूर्ति में चिन्मयी के आविर्भाव के कारण, कातरप्राण से प्रार्थना करते रहते हैं। और वह भी थोड़े ही समय में उनकी अभीष्ट मूर्ति में आविर्भूत होकर वर-अभय प्रदान करती है। इस प्रकार आविर्भाव को ही उत्पन्ना' कहा जाता है। वस्तुतः महामाया की उत्पत्ति भी नहीं है, कर्म्म भी नहीं है। देवताओं के लिये ही उसका आविर्भाव है। एवं देवकार्य्य-सिद्धि ही उसका कर्म्म है।

तुम्हारे इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य ही देवतावृन्द हैं। वे जब सदा परिवर्तनशील जगद्भावरूप असुरों द्वारा पुनः पुनः उत्पीड़ित होकर,

अपने को अत्यन्त आर्त विपदापन्न मानते हैं, तब ही वह इस अभ्यक्तक्षेत्र में सम्मिलित होकर, महामाया के विशिष्ट आविर्भाव की प्रार्थना करते हैं। सन्तानवत्सला मा हमारी उस आकुल प्रार्थना के प्रबल आकर्षण से बाध्य होकर, विशिष्ट-मूर्ति में प्रकाशित होती है और पीड़ा करने वाले सुरविरोधि भावों को विनाश अथवा अपने में लीन कर लेती है। यही महामाया का आविर्भावतत्व है। यह विषय क्रम से और भी स्पष्ट होगा।

अब सुरथ के सब प्रश्नों का सामाधान हुआ। छठा प्रश्न 'यदुद्भवा' इसका ऋषि ने पृथक् कोई उत्तर नहीं दिया; कारण, प्रथम ही कहा है—'सा नित्या' जो नित्या है, उसका दूसरे से उद्भव असम्भव है। सुरथ अबतक महामाया को ब्रह्म से उत्पन्न मान रहा था; इसी से, 'यदुद्भवा' प्रश्न का आवश्यक था; परन्तु इस समय गुरुपदेश से भली-भांति समझ में आगया कि—महामया और ब्रह्म अभिन्न वस्तु हैं।

योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते।
आस्तीर्य्य शेषमभजत् कल्पान्ते भगवान् प्रभुः ॥४७॥
तदा द्वावसुरौ घोरौ विख्यातौ मधुकैटभौ।
विष्णुकर्णमलोद्भूतौ हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ ॥४८॥

अनुवाद—प्रलयकाल में जब जगत् एकार्णवीकृत हुआ था, तब प्रभु भगवान् विष्णु शेष-शय्या पर योगनिद्रा का भजन करते थे। उस समय मधु और कैटभ नामक घोर दो असुर विष्णु के कर्णमल से उत्पन्न होकर, ब्रह्मा के मारने को उद्यत हुए।

व्याख्या—पूर्व्ववर्ती-मन्त्र में ऋषि ने कहा है, कि महामाया नित्या होकर भी देव-कार्य्य सिद्धि के लिये जब विशिष्ट रूप से आविर्भूता होती है, तब ही वह "उत्पन्ना" रूप से प्रसिद्ध होती है। इस

बार वह देव-कार्य्य-सिद्धि के लिये विशिष्ट आविर्भाव वर्णन करते हैं। यहीं से देवी-माहात्म्य वर्णन आरम्भ हुआ है।

कल्पान्त शब्द का अर्थ प्रलयकाल है। जब सृष्टि के बीज ब्रह्म में लीन होकर स्थित होते हैं तब जगत् नहीं रहता, एकार्णवीकृते होता है। जगत्रूप कार्य्यसमष्टि का ही परम-कारण में लीन होना अर्थात् इस कारणीभाव के प्राप्त होने का नाम ही एकार्णव है। ऋग् वेदोक्त सृष्टितत्व में समुद्र और अर्णव इन दो सृष्टियों का उल्लेख है। वह स्थूलतः एकार्थवाचक होने पर भी एक कार्य्य और दूसरे कारण का बोधक है। वट का बीज जिस प्रकार होने वाले विशाल वटवृक्ष की पूर्व्वावस्था है; उसी प्रकार जब इस जगत् रूप अश्वत्थवृक्ष का बीज वा कर्म्म-संस्कारसमूह ब्रह्मरूप परम-कारण में अवस्थान करता है, तब ही कल्पान्तकाल नाम से प्रसिद्ध होता है। इस समय विशुद्ध चैतन्य के सिवाय और कुछ भी अनुभव नहीं होता; इसी से, इसको एकार्णव वा कारणसमुद्र कहते हैं।

इस कल्पान्तकाल में विष्णु योगनिद्रा की आराधना करते हैं। विष्णु शब्द का अर्थ जगद्व्यापक चित् शक्ति है। जिसमें जगत् अवस्थित है—जो चैतन्य जगत् प्रतीतिविशिष्ट है; उसका नाम विष्णु है। साधन क्षेत्र में यह प्राण नाम से कहा जाता है। श्रुति भी है—यह समस्त जगत् प्राण ही धारण किये हैं, वही भगवान् है। "उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यांच स वाच्यो भगवानिति"॥ प्राणियों की उत्पत्ति नाश आगम निर्गम विद्या और अविद्या ये सब विषय जिसको भलीभांति मालूम हैं, वही भगवान् है। विष्णु का एक और विशेषण है प्रभु। प्रभु शब्द का अर्थ है स्वाधीन जो स्वतन्त्र रूप से इच्छाशक्ति को चलायमान कर सकता है। मा ने इसको इतना उच्च अधिकार दिया है कि इच्छा मात्र से सब संकल्प सिद्ध कर सकता है, इसी से वह प्रभु है। वह कुछ हो, जब जगत् नहीं रहता, तब जगद् व्यापक चैतन्य वा प्राण किस प्रकार अवस्थान

करते हैं? वह कहते हैं—"शेषमास्तीर्य्य" तब प्राण अवशेषामृत आस्तरण करके अर्थात् भविष्य में होने वाले जगत् के बीजों को शय्यारूप से कल्पित करके—अधः कृत करके वा अपने में प्रलीन करके योग निद्रा का भजन करते हैं।

यहां योग शब्द का अर्थ परमात्ममिलनी भाव है। उस समय जगद्भाव सुप्त रहता है, इसीसे जगत्-व्यवहार के पक्ष में यह निद्रा के तुल्य है। जो विष्णु जगद्व्यापक स्वरूप से सदा स्थित है, वह भी जगत् के अभाव से अपनी व्यापकता प्रभुत्व भगवत्व आदि विस्मृति के गर्भ में निमज्जित करके, तामसी निद्रारूपिणी महामाया के क्रोड़ (गोद) में सोता है। किस उपाय से वह हो सकता है? एक मात्र योग के द्वारा ही यह सम्भव है। परमात्मभाव में अपना विशिष्ट भाव मिला देना ही योग है। यह योग सुसिद्ध होने से ही जगद् व्यापार में निद्रा वा सुप्तभाव होवेगा ही। यह एक अपूर्व मधुमयी अवस्था है। प्रलयकाल में भगवान् विष्णु इस योग निद्रा रूपिणी महामाया का भजन करते रहते हैं। जो जिसका भजन करता है, वह उसका सारूप्य प्राप्त करता है; यह सर्व विज्ञानसम्मत तत्व है; इस कारण इस अवस्था में विष्णु की फिर स्वतन्त्रता नहीं रहती। "मैं विष्णु हू" ऐसी प्रतीति भी नहीं रहती, उस समय केवल योगनिद्रारूपिणी मातृ सत्ता विद्यमान रहती है।

विष्णुकर्ण शब्द का अर्थ—व्यापक चिदाकाश है। शब्द गुणात्मक आकाश को समझाने ही के लिये कर्ण और व्यापकता समझाने के लिये ही विष्णु शब्द का प्रयोग हुआ है। मल शब्द का अर्थ आवरक है। निर्मल शुद्ध चिदाकाश का आवरण-स्वरूप बोल कर मधु कैटभ को विष्णु कर्णमलोद्भूत कहते हैं। मधु शब्द का अर्थ आनन्द और कैटभ शब्द का अर्थ बहुत्व है। "कीटवत् भांति इति कीटभः, तस्य भाव इति कैटभः" छोटे छोटे कीड़े जिस प्रकार एक स्थान में इकट्ठे होकर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार स्पन्दनधर्म्म-

प्रकाशपूर्वक एकत्र बहुत्व का परिचय देते हैं, उसी प्रकार सञ्चित कर्म्मबीज-समूह एक साथ अनेक भावों का परिज्ञापन करते हैं; इसी से, बहुत्व का बीज ही कैटभ-नाम से प्रसिद्ध है। स्थूल बात यह है कि—"एकोऽहं बहुस्याम" इन दो संस्कारों का नाम ही मधुकैटभ है।

इस बार हम यथार्थ साधन-समर क्षेत्र में उपस्थित हुए हैं। यहां से ही देवी महात्म्य, देवी का आविर्भाव, देवकार्य्यसिद्धि और असुर-निधन आदि लोकातीत घटनाओं की विचित्रता में पड़ना होगा। साधक! आओ, धीरभाव से आगे बढ़ो, अतिगहन रहस्य है। मा! हृदय में बल दो, तुम सन्मुख में विज्ञानमय गुरु-मूर्ति से खड़े हो, अति गम्भीर रहस्यावृत यह साधन-तत्व-समूह प्रकाशित कर दो, हम धन्य हों। तुम्हारा जगत्, तुम्हारे प्रियतम सन्तानवृन्द इस प्रहेलिका में ढके हुए अमृत पात्र को पाकर अमर हों। ब्रह्मर्षि के देश में फिर गृह गृह में ब्रह्मर्षि विराजमान हों।

जीवात्मा समाधि की सहायता से शुद्धबोध रूपी गुरु के निकट से महामाया का स्वरूप और स्वभाव जानकर, उसका विशिष्ट आविर्भाव और कार्य्य प्रत्यक्ष करने के लिये आकुलभाव से अपेक्षा करते रहें। समाधिस्थ होकर, ये सब तत्व जान जाव। साधक! याद रक्खो कि—यह सविकल्प समाधि है। हमने कालक की व्याख्या में कहा है—कृष्णाष्टमी वा मन की अर्द्ध-लय-अवस्था से कृष्णा-चतुर्दशी वा एक कला अवशिष्ट मन के लय होने पर्य्यन्त जो समाहित अवस्था होती है, उसी अवस्था में ये सब तत्व विकसित होते रहते हैं। साधक जब इस प्रकार समाधिस्थ होकर कातर प्राण से आकुल हृदय में मातृ-आविर्भाव, मा का विशिष्ट, कार्य्य विशिष्ट स्नेह प्रत्यक्ष करने के लिये अपेक्षा करता रहता है, तब मा की कृपा से देखते हैं कि दिन रात जो जगद्भाव उसको चञ्चल करता रहता है, वह जगद्भाव फिर जाग्रत नहीं होता; इस कारण प्राण सुप्त होने पर भी आत्मबोध अच्छी तरह जाग्रत रहता है। जगत् का

बीज वा संसार का अस्तित्व किञ्चितमात्र प्रतीत होता है; परन्तु उसका विशिष्ट स्वरूप क्या है, उसका अनुभव नहीं होता। सन्मुख अति घन अति शुभ्र स्वप्रकाश महाव्योम मात्र प्रत्यक्षीभूत होता है; इसी का नाम कल्पान्त काल, जगत् का एकार्णवीभाव और शेष-शय्या पर विष्णु की योग निद्रा है। इस अवस्था में उपस्थित होने पर, जिस अपरिसीम आनन्द का सम्भोग होता है, साधक प्रथमतः कुछ दिन उसी में मुग्ध रहते हैं। किसी प्रकार की विशिष्ट इच्छा जाग्रत नहीं कर सकते। क्षणभर अवस्थान करके उस अवस्था से विच्युत होता है। फिर जगत्भाव में उतर आते हैं। तब बड़ा दुःख होता है; उस आनन्द की स्मृति उसको व्यथित करती है; तब और भी कातर होकर मा मा कहकर पुकारता रहता है। श्री गुरु के चरण कमल और भी ज़ोर से पकड़ता है। उसीके फल से सौभाग्यवान् जीव माता की कृपा से पूर्वोक्त अवस्था में कुछ काल अवस्थान करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है, तब वह जानना चाहता है कि क्यों मैं इस मधुमय क्षेत्र—आनन्दमय मातृअङ्क से विच्युत हुआ? इसी से, प्रार्थना करता है—"मा हमको दिखाओ—कौन मुझको यहां से खींचकर फिर जगत्भाव में मुग्ध करता है"? तब मा की कृपा से वह देख पाता है कि उस निर्म्मल शुभ्र चिद्व्योम क्षेत्र में मल वा आवरक स्वरूप दो संस्कार फूट उठे हैं—एक विशिष्ट आनन्द दूसरी बहुभावेच्छा। यही विष्णुकर्णमलोद्भूत (विष्णु के कान के मैल) मधु और कैटभ हैं। यही बहुभावेच्छामूलक आनन्द परमात्मा के स्वरूपानन्द से अन्य प्रकार है; इसी से; इसको विशिष्ट आनन्द कहा जाता है। अस्तु, अहंबोधात्मक आनन्द और बहुभावेच्छा यह दोनों अति कठिनता से दूर करने योग्य संस्कार हैं। वही साधक के कैवल्य के विरोधी हैं; इसी से, यह घोर असुर कहे जाते हैं। यह ब्रह्मा की हत्या करने को उद्यत हुए। कारण कि जिस अवस्था में इनका दर्शन होता है, उसी अवस्था में ब्रह्मा—सृष्टि शक्ति वा मन विष्णु के

नाभिकमल में वा प्राणशक्ति की गोद में निश्चल है, प्रायः निष्क्रिय अवस्था में अवस्थान करती है। परमात्मयुक्ता ही जीवन है, और उससे विमुख होना ही हनन है। यद्यपि उस समय मन सामयिक भाव से निष्क्रिय हुआ है, तथापि उस समय भी तो मन नाभि वा मणिपुर चक्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण परित्याग नहीं कर सका, इसलिये उक्त दोनों संस्कार मन को पुनः क्रियाशील होने के कारण फिर जगदाकार में आकारित होने के लिये उछलते रहते हैं। यही मधुकैटभ का "हन्तुं ब्रह्माण मुद्यतौ" है।

मा की कृपा से साधक इस मूल संस्कार का साक्षात् पाते हैं। मुख से सहस्रबार कहने पर भी उसका अनुभव नहीं होता। माया का केन्द्र कहां है—वह इस स्थान में मधुकैटभ के दर्शन से समझ सकते हैं। पूर्व कहा गया है कि "बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति"। वह बल पूर्वक आकर्षण इसी केन्द्र से आरम्भ होता है। यही अजेय असुर हैं। यही हमारी माता की गोद में नित्य अवस्थान के सबसे प्रधान विघ्न हैं। मैंने चाहा था कि अनेक होऊं, अनेक भाव का आनन्द उपभोग करूं। वह चाह, वह इच्छा परमेश्वरभाव की है; इस कारण अमोघ है। उस इच्छा को हृदय में धारण कर मा अपनी स्वाधीन इच्छा से, स्वाधीन आनन्द से असंख्य योनि भ्रमण करती थी, बहुत दिन अनेक जन्म इस प्रकार भ्रमण करके, एक बार माता की गोद का सन्धान (पता) पा लेने से—निर्म्मल परमात्मस्वरूप का आभास पा लेने से, फिर वह बहुत्व और तन्मूलक आनन्द प्रीतिकारक नहीं होता है; बल्कि अति कटु जान पड़ता है; तब ही मधुकैटभ-बध का सूत्रपात होता है।

स नाभि कमले विष्णोः स्थितो ब्रह्मा प्रजापतिः।
दृष्ट्वा तावसुरौ चोग्रौ प्रसुप्तञ्च जनार्द्दनम्॥ ४६॥

तुष्टाव योगनिद्रां तामेकाग्रहृदयस्थितः ।
विबोधनार्थाय हरेर्हरीनेत्रकृतालयाम् ॥ ५० ॥
विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थिति—संहार—कारिणीम् ।
निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलां तेजसः प्रभुः ॥ ५१ ॥

अनुवाद—विष्णु के नाभिकमल में अवस्थित प्रजापति तेजः पति ब्रह्मा ने उन दोनों अति उग्र असुरों को एवं जनार्दन विष्णु को निद्रित देखकर, हरि की निद्राभङ्ग करने के लिये—हरिनेत्रकृतालया विश्वेश्वरी जगद्धात्री स्थिति संहार कारिणी भगवती अतुलनीया विष्णु की निद्रारूपिणी उस योगनिद्रा की एकाग्रहृदय से स्तुति करने लगे।

व्याख्या—मधुकैटभ जब विष्णु के नाभिकमल में अवस्थित ब्रह्मा की हत्या करने को उद्यत हुए, अर्थात् पूर्वोक्त प्रधान दोनों संस्कार जब प्राणशक्ति की गोद में स्थित सोते हुए मन को पुनः जगद्-व्यापार में उन्मुख करने को उद्यत होते हैं; जब मन उक्त दोनों संस्कारों को उच्छेद करने की इच्छा से प्राणशक्ति के शरणागत होकर देखता है कि प्राण योगनिद्रा से आच्छन्न हैं; जगद्व्यापार से बहिर्मुख हैं। तब उस अवस्था में प्राण को पुनः जाग्रत करने के लिये वह योगनिद्रा के शरणागत होता है। योगनिद्रा रूपिणी जिस महतीशक्ति ने प्राण को जगद् व्यापार से विमुख कर रक्खा है, जगत्-सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी उस महामाया का विशिष्ट आविर्भाव होने के लिये कातरभाव से प्रार्थना करते हैं। यही यहां पर आध्यात्मिक रहस्य है।

इस मन्त्र में योगनिद्रा का एक विशेषण है—हरिनेत्रकृतालया। हरि शब्द का अर्थ विष्णु वा प्राण। सर्वभाव को हरण कर लेते हैं तो इसका नाम हरि है। छान्दोग्य-उपनिषद् में जहां प्राण की उपासनाका प्रस्ताव है वहां प्राण को ही जगद्ग्रासकारी वा सर्वभाव का विलय-

कारक कहा गया है, वास्तव में यह प्रत्यक्ष भी होता है, क्या ज्ञानेन्द्रिय शक्ति प्रवाह, क्या कर्मेन्द्रिय शक्तिप्रवाह, क्या प्राणादि पञ्चवायु-प्रवाह, क्या जन्म-मरणादि परिवर्तन-प्रवाह, सब ही प्राणशक्ति के आश्रय में प्रकटित और प्रलीन होते हैं। इस कारण प्राण ही हरि है। जीव जबतक इस प्राण का सन्धान नहीं पाता है, जबतक प्राण को हरि कहकर, अथवा हरि को प्राण कहकर नहीं समझ सकता, जब तक अपने प्राण में प्रतिष्ठित नहीं हो सकते, जबतक गुरु के प्राण में अपने प्राण नहीं मिलाये जा सकते, तबतक आकाशभेदीशब्द से हरि नाम उच्चारित होने पर भी, जीव अमरत्व वा अभयपद का सन्धान नहीं पाता। महाप्रभु गौराङ्गदेव इस सर्वाश्रय प्राण का सन्धान पाकर ही हरिनाम से अपने को भूल गये थे। प्राणहीन नाम मृत शब्द मात्र है; किन्तु प्राणमय नाम नामी से श्रेष्ठ है। जिस नाम का उच्चारण करते ही प्राण की अनुभूति से साधक अपने को भूल जाते हैं, वह नाम अब कोटि कण्ठ से उच्चारित होता है; परन्तु कितने जनों ने यथार्थ प्राण का सन्धान पाकर अमरत्व पाकर सफलता प्राप्त की है? नाम करते करते अश्रु विसर्जन (आँसू त्यागना) पृथ्वी पर लोटना, अथवा संस्कारगठित प्राणहीन किसी भी देवमूर्ति के दर्शन, ये सब साधारण मनुष्य के पक्ष में उच्च अवस्था होने पर भी, यथार्थ में कृतार्थ होने का परिचय देने वाले नहीं हैं।

अस्तु हरिनेत्रकृतालया शब्द से—प्राण के बहिर्मुखी प्रकाश भाव को समझा जाता है। नेत्र प्राण का बाहिर का प्रकाश स्थान है। मृत और जीवित का विशेषभाव नेत्रोंद्वारा ही विशेषभाव से प्रकट होता है। हम जिस नित्य प्राणमयी की गोद में स्थित हैं, वह चक्षु में ही प्रधान रूप से प्रकाशित है। यह अक्षिगत पुरुष की साधना का विषय उपनिषद् में विशेषभाव से वर्णित है। प्रतिमा-पूजादि में चक्षुर्दान कहकर जो एक अनुष्ठान है, वह प्राण के ही बहिर्मुखी प्रकाश की प्रथम क्रिया विशेष है। प्राणप्रतिष्ठावान् साधन जानते हैं

कि—किस उपाय से मृन्मय जड़चक्षु से चैतन्य का विकाश प्रकट होता है। आज कल भी घर घर में प्रतिमा पूजा होती है; परन्तु हाय! "तच्चक्षुर्देवहितं" इत्यादि चक्षुर्दान का मन्त्र केवल पठित मात्र रह गया है; वह किस कार्य्य के लिये है! किस उपाय से मृन्मयचक्षु चिन्मयी के बहिर्विकाशरूप से प्रकाशित होते हैं, उसे अति अल्प लोग ही जानते हैं।

हमारी सब प्रकार की विधि क्रिया के आरम्भ में भी आचमन मन्त्र में "दिवीवचक्षुराततम्" कहकर विश्वव्यापी प्रकाश-शक्ति का अन्ततः आंशिक अनुभव का विधान है। सब ही आचमन करते हैं; परन्तु कितने लोगों ने उस जगद्व्यापी विष्णु का परमपद जो आकाश में विस्तृत चक्षुवत् प्रकाशित है, उस सर्वतोभेदी दृक्शक्ति को प्रत्यक्ष किया है! कितने लोग मा के चक्षु से चक्षु मिलाकर प्रकृत चक्षुष्मान् हुए हैं! परन्तु वह और बात है—

चक्षु में ही हमारी मा विशेषभाव से प्रकाशिता है। नेत्ररूप द्वार से ही चैतन्य का बहिर्मुख विकाश देखा जाता है। फिर ये प्राण जब अन्तर्मुखी होते हैं—जब जगद् व्यापार से विरत होते हैं; तब चक्षु से ही उसका प्रथम प्रकाश होता है। इसीसे हमारी मा "हरिनेत्र कृतालया" है। योगनिद्रारूपिणी महामाया ने प्राण के जगन्मुखी विकाश को निरुद्ध कर रक्खा है, प्राण सामयिक मातृयोगजनित आनन्द से आत्महारा है, संसार की आसक्ति वा उच्छेद दोनों से निस्पृह हैं। यह अवस्था विष्णु की योगनिद्रा है। महामाया मा ने प्राण को ऐसी एक अवस्था में लाकर स्थापित किया है कि वह फिर जगत् का भला बुरा कुछ में भी नहीं है। परन्तु मा ऐसे भाव में भी उसको रखना नहीं चाहती। उसके द्वारा ही जगत्-उद्धार-व्रत सम्पादन करावेगी। इसी से, विष्णु की निद्राभङ्ग करने के लिये यह आयोजन है। इसी से ब्रह्मा वा मन मातृ चरणों में लुण्ठित होकर स्तुति करने लगा।

यह योगनिद्रा रूपिणी महामाया ही विश्वेश्वरी जगद्धात्री और स्थितिसंहारकारिणी है; इस कारण अतुलनीया; अचिन्त्य ऐश्वर्य-शालिनी, भगवती है। महामाया की सृष्टि स्थिति प्रलय शक्ति बोधक शब्द पूर्व अनेक बार कहे गये हैं, आगे और भी अनेक बार कहे जायंगे। देवीमहात्म्य में ऐसा कहनेसे पुनरुक्ति-दोष नहीं है; कारण कि, वहीं साधना का बीज है, वेदान्तदर्शन का "जन्माद्यस्य यतः" यह ब्रह्मनिरूपण सूत्र भी उस एक ही अर्थ का बोधक है। जिससे इस जगत् का जन्म स्थिति और भङ्ग होता है वही ब्रह्म है। उसको जानो, उसका साधन करो। जो कुछ योग तपस्या, जो कुछ साम्प्रदायिक भिन्न भिन्न अनुष्ठान हैं उन सब का उद्देश्य इतना ही है। यह "जन्माद्यस्ययतः" का अनुभव कर सकने से ही जीवत्व का अन्त होता है। हम जीव हैं, चारों दिशायें जीवत्व की सीमा हैं। उसके बीच में निवास करके हम दीन हीन बन बैठे हैं। जिससे यह जगत् सृष्ट हुआ है, जिसमें यह जगत् स्थित है और जिसमें यह जगत् विलीन होता है, किसी प्रकार से उसे जान सकने ही, से, जीवत्व का अवसान होता है; कारण कि वही जीव का यथार्थ स्वरूप है। इस सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर्तृत्वरूप महत्व की बात दो एक बार सुन लेने से ही हमारा आत्म-स्वरूप जाग्रत नहीं होता है; इसी से साधकवरेण्य ऋषिपादगण पुनः पुनः आत्मा के ये तीन गुण—यह ईश्वर-भाव स्मरण कराने के लिये गम्भीर ध्वनि से गम्भीर वेदी* हाथी की निद्रा भङ्ग करने का प्रयास किया है। हम गम्भीर वेदी हाथी हैं किसी प्रकार हमारे जीवत्व की निद्राभङ्ग नहीं होती; इस कारण साधन-जगत् की बात, मा का महत्व जितना पुनरुक्ति

* (चमड़ा छेदने और मांस काटने और रक्तपात होने पर भी जिसकी निद्राभङ्ग न हो उसे गम्भीर वेदी हाथी कहते हैं)। "तू ही ब्रह्म है" यह सहस्र बार समझा देने पर भी जीव उसका अनुभव नहीं कर सकता; इस कारण जीव को गम्भीरवेदी हाथी की तुलना दी गई है।

दोष-युक्त होगा, उतना ही मङ्गल है। जो जितनी अधिक मातृ महत्व की पुनरुक्ति करेंगे वह हम पर उतने ही कृपावान् हैं; हम तो पुनरुक्ति दोष देखेंगे ही, मलिनता देखना ही हमारा स्वभाव है; परन्तु जो हमारी की हुई यह अवज्ञा और उपेक्षा सह्य करके भी बारम्बार हमारे नेत्रों के समीप मातृमहत्व चित्रित करते हैं, धन्य उनकी अहैतुक कृपा है !

सुनिये, और भी कुछ खुलासा कहते हैं। नाभिकमल वा मणिपुरचक्र तेजस्तत्व का केन्द्र है। मन्त्र में भी 'तेजसः प्रभुः' शब्द ब्रह्मा के विशेषण रूप से कहा गया है। इसी नाभिचक्र से ही जागतिक सब भावों का विकाश होता है, तेजस्तत्व से ही रूप-जगत् का आरम्भ है; जबतक जगत्-संस्कार का बीज रहता है, तबतक मन वा सृष्टिशक्ति इस नाभिकमल का सम्बन्ध परित्याग नहीं कर सकती; दूसरी ओर हरिनेत्रकृतालया की, वा आज्ञाचक्रस्थित चित् प्रतिबिम्ब की मोहिनी शक्ति में अत्यन्त मुग्ध रहता है। इस अवस्था में उसको फिर अनेक भावों से स्पन्दित होने के लिये उछालने पर भी, मन फिर उस शान्त अवस्था का परित्याग नहीं करना चाहता। तब जिस योगनिद्रा-रूपिणी चित्शक्ति के अङ्क में प्राण निष्कृय अवस्था में स्थित रहते हैं उस शक्ति के शरणागत होते हैं। अभिप्राय यह है कि प्राण सक्रिय होने से ही आगामि कर्म्मों के बीज स्वरूप मूल संस्कार वा मधुकैटभ विनष्ट होगा। फिर उसको अनेक भावों में स्पन्दित नहीं होना पड़ेगा।

ब्रह्मोवाच।

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधामात्रात्मिका स्थिता ॥५२॥

अनुवाद—ब्रह्माजी स्तुति करते हैं—हे मा! तुम स्वाहा, तुम स्वधा, तुम ही वषट्कारादि मन्त्र और उदात्तादि स्वर, तुम ही सुधा हो, हे अक्षरे! हे नित्ये! तुम ही त्रिमात्रा स्वरूपा हो।

व्याख्या—त्वम् वा तुम शब्द सम्मुखस्थ व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है। अप्रत्यक्ष व्यक्ति के लिये तुम नहीं कहा जाता। जिसको साक्षात् देखा जाता है, उसीमें ही त्वम् शब्द का प्रयोग होता है। यहां पर ब्रह्मा वा मन हरिनेत्रकृतालया योगनिद्रारूपिणो महामाया को प्रत्यक्ष करते हैं, इसी से 'त्वं' शब्द का प्रयोग हुआ है। साधक मात्र ही ऐसा करते हैं। स्तव स्तुति आवेदन निवेदन कातर-प्रार्थना, करुण से रोना जो कुछ करो, कभी मा को अप्रत्यक्ष रखकर न करो। मा कहां है—अलक्ष्य-स्थान में अवस्थान करती है, तुम उसके उद्देश्य से, कल्पना की सहायता से इस स्थान में बैठकर स्तुति पाठ वा साधन करते हो; ऐसा भाव जबतक रहेगा, तबतक साधन-मार्ग में शीघ्रता पूर्वक आगे न बढ़ सकेगा। साधना राज्य में कल्पना वा अनुमान को स्थान नहीं है, अप्रत्यक्ष के उद्देश्य से कोई साधना होती नहीं। साधना के पद-पद पर प्रत्यक्षता का अनुभव होगा; प्रत्यक्षता ही साधना का प्राण है। इसी कारण यहां पर हम इस ब्रह्माकृत स्तुति की व्याख्या करने के पूर्व एक बार मन्त्र-चैतन्य-विषय में संक्षिप्त आलोचना कर लेवें कारण कि मन्त्रचैतन्य होने ही से देवता प्रत्यक्ष होते हैं। चैतन्यहीन मन्त्रादि उच्चारण करने से अर्थात् देवता अप्रत्यक्ष रहने से, बहुवर्षव्यापी कठोर साधन भी प्रायः निष्फल होता है। यही ऋषियों का आदेश है।

मन्त्र—शब्दविशेष है। जिस शब्द के मनन करने से परित्राण पाया जाय, वही मन्त्र है। मन्त्र में प्रतिपादन किया हुआ उत्तम अर्थ ही गुरु है। एवं ऐसे अर्थमूलक अनुभव वा वेदन का नाम चैतन्य अर्थात् इष्टदेव है। इस प्रकार मन्त्र, गुरु और देवता यह तीनों का एकीकरण होने ही से मन्त्र-चैतन्य होता है। एक दृष्टान्त-द्वारा इस

विषय को सुगम करते हैं। मानलो कि तेंतुल (इमली) एक शब्द है। यह शब्द मन्त्र स्थानीय है; जबतक इमली शब्द का अर्थ नहीं जाना जाता है, इमली क्या है इसे नहीं जानते, तबतक वह मृतशब्द-मात्र है। मुख से लाख बार इमली कहने पर भी इस विषय का ज्ञान नहीं होगा। उसके बाद एक मनुष्य ने आकर इमली का आकार आस्वाद इत्यादि अच्छी तरह समझा दिया, तब इमली का अर्थ ज्ञान हुआ; इस अर्थ का नाम ही गुरु है। तब इमली शब्द-उच्चारण के साथ ही साथ उसका अलमता-विषयक ज्ञान फूटने लगा। उसके बाद फिर जब देखोगे—तेंतुल (इमली) शब्द उच्चारण करते ही उस अलमता-विषयक ज्ञान, तुम्हारे अनुभव पर्य्यन्त विकाश कर सकता है, अर्थात् जब देखो—कि इमली कहते ही जिह्वा रसार्द्र हो जाती है, तब ही समझलो कि वह चैतन्यमय हो गया है। ऐसा ही सर्वत्र समझ लीजिये। तुम कहा कि "दयामयी मा"। उसी समय दया के अनुभव से तुम्हारा हृदय पूर्ण हो जाय, तब ही समझलो कि तुम्हारा दयामयी शब्द यथार्थ उच्चारित हुआ है। तुम मा कहते हो, परन्तु मा कौन है उसे जानते नहीं, मा शब्द का अर्थ भी नहीं समझते; ऐसी अवस्था में जबतक तुम मा कहोगे, तबतक वह मृतमन्त्र मात्र है। फिर किसी आदमी ने तुमको समझा दिया कि मा शब्द का अर्थ "परिपूर्ण स्नेह का आधार जगद्व्यापी चैतन्य है, वही तुम्हारी आत्मा है"। गुरु कृपा से जिस दिन यह बात समझ सकोगे, जिस दिन मा कहते ही एक स्नेहघन जगद्व्यापी चैतन्यमय आत्मानुभव फूट उठेगा उसी दिन समझोगे, कि तुम्हारा 'मा' मन्त्र चैतन्यमय हुआ है। अर्थ न समझकर एवं अर्थानुयायी रस से और भाव से स्वयं रसिक और भावुक न होकर, मन्त्रादि उच्चारण करने से, उसका यथार्थ फल प्राप्त नहीं किया जाता। केवल मन्त्र चैतन्यरूप एक वस्तु के अभाव से ही साधन मार्ग दुर्गम और अन्धकारमय माना जाता है; इस कारण किसी स्तोत्रादि पाठ अथवा विशिष्ट कोई मन्त्र जप,

अथवा नाम कीर्तनकाल में उसका सदर्थ जानकर, अर्थानुरूप भाव से स्वयं सम्वेदित होने की चेष्टा करो, तब ही उसका यथार्थ फल शीघ्र प्रत्यक्ष होगा।

ब्रह्मा वा मन आगामि कर्म्मों के बीज स्वरूप मधुकैटभ का समूल नाश करने के लिये महाशक्ति के शरणगत हुआ; कारण कि उसने समझ लिया है कि शक्ति ही एकमात्र तत्व है—शक्ति ही एकमात्र साध्य है, शक्ति ही सर्व-कारण-कारण है; अवाङ्मनसोगोचर परमात्मा है। उसकी कृपा—इच्छा न होने से, इस असुर का निधन नहीं होता। इसी से, महामाया की स्तुति करना आरम्भ किया। यदि कोई कहें कि समाधि अवस्था में यह सब व्यापार किस प्रकार सिद्ध हुआ? तो उन्होंने पुस्तक पढ़कर समाधि शब्द मुखस्थ किया है। जिस समाधि में सब भावों का पूर्ण विलय होता है, वह एक दिन केवल एकबार होता है। वह समाधि होने से फिर व्युत्थित नहीं हुआ जाता; इसी से; गीता में कहा है:—"यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"। और यह उस समाधि में उपस्थित होने की पूर्ववर्ती अवस्थामात्र है। तो यह भी समाधि है; कारण कि इस अवस्था में जागतिक व्यापार, इन्द्रिय-वृत्ति-प्रवाह, प्राणवायु-स्पन्दन; देहबोध आदि प्रायः विलुप्त हो जाते हैं। कलामात्र अवशिष्ट मन आत्मबोधमय महाचिद्व्योम-क्षेत्र में अवस्थान करके, जीव-भावापन्न कार्य्यकारण—श्रृङ्खलादि प्रत्यक्ष करते रहते हैं, एवं विशिष्ट प्रार्थना वा किसी उपाय की सहायता से शुद्ध आत्मबोध में—असम्प्रज्ञात अवस्था में अग्रसर होने को सचेष्ट होते हैं। उस अवस्था में प्रार्थना, स्तुति अथवा प्रक्रियाविशेष स्थूल में प्रकाशित नहीं होती। शब्दहीन होने पर भी पूर्ण शब्दमय, क्रियाहीन होने पर भी पूर्ण क्रियामय वह नीरवता की ध्वनि वह क्रियाहीन सक्रिय अवस्था जिसने बिलकुल अनुभव नहीं की है, उसके पक्ष में यह सुगमता से समझ में आने की सम्भावना नहीं है। अस्तु, स्थूल रीति से इतना

जानलेना होगा कि—समाधि की प्राथमिक अवस्था में मन बुद्धि चित्त अहङ्कारादि सूक्ष्म करणसमूह प्रत्यक्षीभूत होते हैं और उनकी विशिष्ट कार्य्य-प्रणाली-समूह देखी जाती है।

अब हम स्तव का अर्थ समझाने की चेष्टा करेंगे। ब्रह्मा ने कहा मा तुम स्वाहा हो। स्वाहा यह देवहविर्दान मन्त्र है; परन्तु यहां पर सब देवकृत्यों का उपलक्षण है। तुम स्वधा हो—यह पितृदान मन्त्र है; परन्तु इस स्थल में पितृकृत्य का एवं वषट्कार—यह सब मन्त्रों का उपलक्षण है। हमको मा को विचारने में, सब से प्रथम कर्म्म-काण्ड चक्षु के ऊपर भासित होता है; कारण कि यह सब ही मातृ आविर्भाव की पूर्व सूचना है। कर्म्मकाण्ड देव और पितृकार्य्यभेद से दो भागों में विभक्त है। ये दोनों ही कुछ मन्त्रसाध्य अनुष्ठान विशेष है।

मा! तुम स्वाहा, स्वधा और वषट्कार हो। पूजा होम व्रत जप पुरश्चरणादि देवकार्य्य, श्राद्धतर्पणादि पितृकार्य्य और इन दोनों प्रकार के कार्य्यों में जो मन्त्र व्यवहृत होते हैं, वह तुम हो। उन मन्त्रों के पाठ करने में जो तीन प्रकार के स्वर उच्चारित होते हैं, जिन्हें उदात्त' अनुदात्त, और स्वरित् कहते हैं, जिन स्वरों के उच्चारण के तारतम्य के अनुसार काम्य-कर्म्मों का फलगत तारतम्य होता है; वह स्वर-स्वरूपा भी तुम हो। इसी से तुम स्वरात्मिका हो। इन्द्र की निधन कामना से वृत्तासुर की उत्पत्ति के लिये, ऋषियों ने जब ऊँचे स्वर से मन्त्रपाठपूर्वक आहुति प्रदान की थी, तब मा! तुम ही तो उन सत्यदर्शी ऋषियों के कण्ठ में विराजमान होकर "इन्द्रशत्रु" पद के उच्चारण-काल में अनुदात्त स्वर के बदले उदात्त स्वर रूप से निर्गत हुई थी! उसी के फल से इन्द्र के द्वारा वृत्तासुर मारा गया था; इस कारण तुम ही तो स्वरात्मिका हो। इसके सिवाय जीवों के कण्ठ में नाद रूप से जो स्वर निकलता है; जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम से प्रसिद्ध है, उस स्वररूप से भी मा तुम हो!

पूर्वोक्त देव और पितृ कार्य्यादि अनुष्ठान का जो फल वा अपूर्व है, वह कर्म्मफल वा अदृष्टरूप से भी मा तुम हो। कर्म्मफल ही अमृत है, इसी से, तुम सुधा स्वरूपिणी हो। उपनिषद् में लिखा है—"अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्म्मसुचामृतम्"। आचार्य्य शङ्कर ने अमृत शब्द का अर्थ 'कर्म्मफल' किया है। जब तक देव और पितृ कार्य्य को केवल कर्म्मरूप से, वैधकार्य्यों में उच्चारित शब्दों को केवल मन्त्र रूप से और वैधकार्य्य से उत्पन्न फलों को केवल कर्म्मफलरूप से देखते हो, तब तक ही वह क्षर-धर्म्मी हैं; परन्तु जब यह देखो कि अक्षरा नित्या हमारी मा, देव और पितृकार्य्यरूप से प्रकटिता है जब देख पाते हैं कि—उदात्तादि स्वरभेद से एवं मन्त्र रूप से मा तुम ही उच्चारिता हो, तब फिर कर्म्म फलों को सुधा वा अमृत न कहकर किस प्रकार अज्ञान वा क्षरधर्म्मी कहेंगे?

कर्म्ममात्र का ही एक साधारण फल है, उसका नाम ज्ञान है ज्ञान का प्रकाश करना ही कर्म्मरूपिणी मा का प्रधान उद्देश्य है। ज्ञान नित्य है; इस कारण अमृत है, इसी से कर्म्मफल को ही अमृत वा सुधा कहा जाता है।

उसके बाद सब मन्त्रों का सार जो त्रिधामात्रा—ॐकार है। जिससे यह जगत्, जिससे ब्रह्मा विष्णु महेश्वर हैं, जो अकार उकार और मकार रूपसे जगदाकार से प्रकटित है, वह त्रिमात्रा भी तुम हो।

यहां पर त्रिमात्रा के स्वरूपसम्बन्ध में कुछ आलोचना की जाती है। मात्रा शब्द का अर्थ स्पन्दन है। स्पन्दन—शक्ति प्रवाहमात्र है। चिन्मयी महाशक्ति स्थूल जगदाकार में प्रकटिता होकर, जड़शक्ति नाम से प्रसिद्ध होती है। वह शक्ति प्रवाह तीन प्रकार की क्रिया का प्रकाश करता है। प्रथम—उत्पत्ति वा नामरूप विशिष्ट एक घनीभूत शक्तिकेन्द्र है। यही सृष्टि वा अकारमात्रा है। द्वितीय—स्थिति है। उस विशिष्टरूप से आविर्भूत शक्तिकेन्द्र जबतक लयशक्ति के साथ प्रतियोगिता करके आत्मस्वरूप स्थिर रखने में समर्थ है, तबतक वह

स्थिति वा उकारमात्रा नाम से प्रसिद्ध होता है। तृतीय—लय है जब उक्त शक्तिकेन्द्र फिर महाशक्ति के अङ्क में अदृश्य हो जाता है, तब ही लय वा मकारमात्रा नाम से कहा जाता है। किसी फल को हाथ में लेकर देखिये कि मानो एक शक्ति अदृश्य परमाणुओं को भलीभांति बांधकर फल के आकार में प्रकाशित हुई है। वही प्रथम स्पन्दन वा अकार मात्रा है। साधना की भाषा में वही ब्रह्मा है। योगीजन इसको मनरूप से दर्शन करते हैं। फिर देखिये, उस फल रूप से स्थूल में प्रकटित शक्तिप्रवाह जबतक लय वा विरोधी शक्ति के साथ विरोध करके, आत्मस्वरूप विशिष्ट भाव में प्रकाशित रखता है, तबतक ही वह द्वितीय स्पदन वा उकारमात्रा है। साधना की भाषा में उसे विष्णु कहते हैं। योगीजन इसको प्राणरूप से दर्शन करते हैं। अनन्तर कुछ दिन बाद देखोगे कि वह फल सड़ना आरंभ होता है। वह जो नाश वा प्रलय है, उसी का काम तृतीय स्पन्दन वा मकार मात्रा है। साधना की भाषा में उसको शिव कहते हैं। योगीजन उसको ज्ञानरूप से दर्शन करते हैं। यह प्रलय कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं है। प्रत्येक परमाणु के प्रति मुहूर्त्त के परिवर्तन का फल है। प्रति मुहूर्त्त में प्रति परमाणु में पूर्वकथित जायते, अस्ति, वर्द्धते आदि छः परिवर्तन इस त्रिविध स्पन्दन के भीतर होते चले जाते हैं। जीव जिस दिन भूमिष्ट होता है, उसी दिन से मृत्यु की ओर अग्रसर होता रहता है। एक दिन में मृत्यु नहीं होती। जन्म शब्द का अर्थ ही मृत्यु का आरम्भ है। तो जबतक तृतीय स्पन्दन वा मकारमात्रा की अपेक्षा द्वितीय स्पदन वा उकार मात्रा प्रबल रहती है, तब तक मृत्यु कहकर विशिष्ट घटना प्रत्यक्ष नहीं होती।

जगत् के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिमुहूर्त्त में यह तीन प्रकार का स्पन्दन वा त्रिशक्तिप्रवाह चलता है। जब जो स्पन्दन प्रबलभाव से क्रिया करता है, तब केवल वही प्रत्यक्ष होता है। योग-चक्षुष्मान् व्यक्ति इस जगत् को तीन प्रकार के स्पदन के सिवाय और कुछ नहीं देखते।

यही श्यामापूजा का त्रिकोण यन्त्र है। पांच त्रिकोण खींच कर उस पर श्यामा पूजा करने का विधान तन्त्र में देखा जाता है। पञ्चभूत इन तीन प्रकार की शक्ति का प्रवाह मात्र हैं। कर्पूरादि स्तव के त्रिपञ्चार शब्द का भी यही तात्पर्य है। तन्त्र में जो सकल यन्त्र पूजा का विधान है, वह उस महती शक्ति प्रवाह के अनुभव करने की योग्यता उत्पन्न कराता है।

अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्य्या विशेषतः।
त्वमेव सा त्वं सावित्री त्वं देवी जननी परा ॥५३॥

अनुवाद—मा! जो विशेषरूप से उच्चारण के अयोग्य है वही नित्य अर्द्धमात्रा तुम हो। तुम ही सावित्री हो। हे देवि! तुमही परा जननी हो।

व्याख्या—मा! यहांतक तुम्हारा जो त्रिमात्रास्वरूप का अभ्यास पाया है, वह ही उपनिषत् प्रतिपाद्य—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अभिमानी विश्व, तैजस् और प्राज्ञ पुरुष है। बहुत दिन से तुम्हारे इस त्रिविध स्वरूप का दर्शन करने पर समझ में आया है—कि तुम ही जगत्रूप से प्रकाशित हुई हो। मा! तुम्हारा यह स्वरूप अति मनोहर होने पर भी उससे उत्कृष्टतर और एक स्वरूप है, जिसका अनुच्चार्य विशेष भाव से उच्चारण नहीं किया जाता; वही तुम्हारा नित्यस्वरूप है। उसी को अर्द्धमात्रा नाम से कहते हैं। वह वाक्य द्वारा प्रकाश नहीं किया जाता। मा! तुम्हारे त्रिमात्रा स्वरूप से बल्कि विशेषण देख कर जैसे विशेष्य की प्रतीति होती है, वैसे ही जगत् देखकर शक्ति का अनुमान होता है; परन्तु वहां उस अर्द्धमात्रा स्वरूप से तुरीय अवस्था में तुम अचिन्त्य-अनिर्देश्य सर्वेन्द्रियागम्य सत्य हो। बात यह है कि जब तुम में त्रिमात्रा का पूर्ण भाव से लय होता है, तब ही तुम अनुच्चार्यरूप में बिन्दु रूप से प्रकटिता होती हो।

तृतीय मात्रा वा मकार व्यञ्जन है, वह अर्द्धमात्रा है, उकार के मस्तक पर यह अर्द्धमात्रा ही नाद और विन्दुरूप से प्रकाशित है। जिसकी अवस्थिति है, किन्तु विस्तार नहीं है, विन्दु वह है। यह ज्यामिति के अनुशासन है, वह स्थित-अंश निर्गुण ब्रह्म का द्योतक है और विस्तार अंश सगुण ब्रह्म वा शक्ति का प्रकाशक है। यही नाद है। जो निर्गुण का गुण वा शक्ति स्वीकार नहीं करते हैं, वही ब्रह्म से माया को पृथक् रूप से देखते हैं। जिसकी अवस्थिति है, उसमें कुछ न कुछ विस्तार अवश्य ही है, कारण कि विन्दुसमष्टि ही पदार्थ है। विन्दु को केवल चैतन्य और नाद को केवल जड़शक्ति रूप से ग्रहण करने से, विन्दु की शक्तिहीनता आपड़ती है। इस मत से शक्तिहीन की शक्ति-परिचालकता असम्भव होने से ब्रह्म को शक्तिहीन कहते हैं। यह वेद और युक्ति-विरुद्ध है।

परन्तु हमारी समझ में मा ! तुम विन्दुरूप से निर्गुण, नादरूप से सगुण एवं त्रिमात्रास्वरूप से जगत् रूप से व्याप्त हो रही हो। तो भी तुम्हारा यह अर्द्धमात्रास्वरूप नित्य—परिवर्तनहीन और अनुच्चार्य्य—वाणी के अगोचर है। अतएव हे देवि ! प्रकाशात्मिके द्योतनशीले मातः ! तुम ही सावित्री—जगत् प्रसवकर्त्री हो, फिर तुम ही परा जननी हो। त्रिमात्रारूप से तुम जगज्जननी और अर्द्धमात्रारूप से तुम ही पराजननी हो।

जो त्रिमात्रा और अर्द्धमात्रा शब्द का अर्थ यथा क्रम से स्वर और व्यञ्जन करते हैं, उनके साथ भी हमारी आपत्ति नहीं है; कारण कि स्वर की सहायता से ही व्यञ्जन उच्चारित होते और प्रकाशित होते हैं। स्वर वा शक्ति का आश्रय करके ही निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप से प्रकाशित होता है।

त्वयैव धार्यते विश्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्।
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्व्वदा ॥ ५४ ॥

अनुवाद—हे मा ! यह विश्व तुम्हारे द्वारा सदा धारण किया हुआ है; तुम ही इस जगत् की सृष्टि और पालन करती हो। हे देवि ! फिर अन्तकाल में तुम ही इसको भक्षण वा ग्रास करती हो।

व्याख्या—मा ! सृष्टि के पूर्व बीज रूप से यह विश्व तुम्हारे ही गर्भ में धारण रहता है; फिर तुम ही उक्त बीज को परिवर्तनशील जगत् रूप से प्रसव करती हो। फिर तुम ही इसको परिपालन करके अन्त-काल में भक्षण वा संहरण करती हो। यही तुम्हारा मातृत्व है। गर्भ में धारण, प्रसव, हृदय में धारण और ज्ञान स्तन्य से परिपोषण एवं अन्त में पूर्ण ज्ञानमय अवस्था में तुम से अभिन्नभाव में मिलन-सम्पादन, यही तुम्हारा महामायात्व वा मातृत्व है। जबतक मैंने जगद्भोग की योग्यता प्राप्त नहीं की थी, तबतक बीज रूप से मुझको गर्भ में धारण करके तुम्हारा ही रक्त अर्थात् उपाञ्जनशक्ति के द्वारा अपनी भोग-योग्यता सम्पादन की थी। उसके बाद जब देखा कि जगद्भोग की सामर्थ्य प्राप्त की है, त्यों ही प्रसव वा सृष्टि करके मुझको गोदी में लेलिया है। अपने स्तन्य से—अमृत से—विषयज्ञान से मुझको परिपुष्ट करती हो। विन्दु विन्दु ज्ञानसञ्चयरूप से अमरत्व प्राप्ति की योग्यता-सम्पादन के लिये असंख्य जन्म मृत्यु आदि परि-वर्तन में होकर ले जाती हो। जब देखोगे-मैं मातृस्नेह से मुग्ध हुआ हूँ, मा कहकर तन्मय होना सीखा है, अखण्ड ज्ञान का सन्धान पाया है, पूर्ण ज्ञानमय अवस्था में आकर उपस्थित हुआ हूँ, तब ही मैं अमृत वा तुम्हारा अन्न होऊंगा। तब तुम मुझको अशन वा संहरण करके अपना अन्नपूर्णा नाम सार्थक करोगी।

हम जो तुम्हारे अन्न हैं। "सर्वग्रासिनी मा एक दिन हमको ग्रास करेगी"। जबतक यह बात न समझ सकेंगे, तबतक तुम ही हमारे अन्न हो। हम तुम्हारे ही स्तन्य पान करके पुष्ट होते हैं। मा ! तुमको कितने रूप से भोग करते हैं, उसे विचार करने में भी चकित होजाना पड़ता है। जब जो जिस भाव से चाहते हैं, तब उसी भाव

से रूप धारण कर लेती हो। तुम ही तो विषयाकार में आकर हमारी इन्द्रिय के भोग पूर्ण करती हो, हमारी इच्छानुसार लालसा का आहार देती हो। इस प्रकार एक दिन नहीं दो दिन नहीं, अनेक जन्म जन्मान्तर ऐसी उच्छृङ्खल वासनायें हृदय में लेकर दौरते हैं। फिर तुम हमारी ऐसी स्नेहविमूढ़ा मा हो कि हमारी भोग वासना चरितार्थ करने के लिये—वासनानुसार क्षुद्र-क्षुद्र विषयों की मूर्ति से अपना प्रकाश करती हो कि फिर मेरे स्वाधीन भोग में विन्दुमात्र भी अतृप्ति हो, मेरे उन्नत आमित्य को विन्दुमात्र असम्मान हो इसीसे, इतना करके भी अपनी सत्ता, अपने कर्त्तृत्व छिपा रक्खो है। हमको समझने नहीं देती कि तुम ही हमारी वासना हो, तुम ही हमारे भोग हो, तुम ही हमारे अन्न हो, तुम ही हमारी तृप्ति हो। इतना स्नेह, इतना प्रेम तुम्हारे हृदय में है! रोग शोक दारिद्र्य दुर्गति आशाभङ्ग सब अवस्थाओं में होकर तुम्हारा पुत्रस्नेह प्रवाहित है! यह स्नेह हम कब समझ सकेंगे! मा! इतने दिन तक तुमको खाया है—अज्ञान से तुम्हारा भोग किया है, अब तुम हमको खाओ। क्यों अब एक पृथक् मैंपन की सीमा से अपने से पृथक् कर रक्खा है? मैं और तुम एक हों! फिर सर्वरूप से मा कौन है? सर्व ग्रासिनीरूप से खड़ी हो! एकबार आकुल नयन से आत्महाराभाव से पुत्र के मुखपान की ओर देखो मा! अपने दिव्य नयनों में हमारे क्षीण-ज्योति मलिन नयन स्थापित करके, हम मा मा कहकर अपने को भूल जावें! और तुम—आओ पुत्र! आओ वत्स! ऐसा कहकर मुझको ग्रास करो। मैं मरकर अमर होऊं।

क्या कहती हो मा! तुम ही सुधा हो; अमृत ही तुम्हारा आहार! हम अब भी अमरत्व प्राप्त नहीं कर सके हैं—सुधा नहीं हुए; इसी से, तुम आहार नहीं कर सकती हो! क्यों, किसका दोष है? हमारा या तुम्हारा! मैं अब भी अयोग्य सन्तान किस कारण हूँ! तुम विज्ञानेश्वरी मा, और मैं अज्ञानान्ध पुत्र! तुम अमृत हो और मैं मृत्यु

के ग्रास में स्थित हूँ। क्यों मा! किसका दोष है? मैं चाहा था! यह है? चाहनारूप से वासनारूप से कौन मेरे हृदय में फूट निकला है? लीला! मा अब मुझे नहीं चाहिये! आनन्दमय जगत्लीला करना हो, तो पूर्णरूप से तुम्हारे साथ मिलकर करूं। फिर पृथक भाव क्यों है? मा मा मा!

इस मन्त्र में धार्यते सृज्यते पाल्यते एवं अत्सि, इन चार क्रिया पदों द्वारा सगुण ब्रह्म का महामायात्व वा मातृत्व पूर्णभाव से प्रकटित हुआ है।

विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये॥ ५५॥

अनुवाद—हे जगन्मये! सृष्टिकाल में तुम ही सृष्टिरूपा हो। पालन में तुम ही स्थितिरूपा हो, फिर प्रलयकाल में तुम ही इस जगत् की संहर्त्रीरूपा हो।

व्याख्या—मा! पूर्व्व कहा है कि तुम ही इस जगत् का उत्पादन, परिपालन और संहरण करती हो; परन्तु वह भी ठीक ठीक नहीं कहा गया; कारण कि ऐसा कहने से तो जगत् तुमसे पृथक् माना जाता है; वास्तव में तुम ही जगन्मयी हो, तुम्हारे सिवाय जगत् में और कहीं भी कुछ नहीं है। यद्यपि साधारणतः हम देख पाते हैं कि प्रत्येक कार्य्य में ही तीन वस्तुओं की आवश्यकता है। एक निमित्त-कारण वा कर्त्ता, दूसरा उपादान-कारण वा उपकरण और तीसरा कार्य्य वा विशिष्ट फल; परन्तु मा! तुम्हारे इस जगद्-व्यापार में तुम ही निमित्त, तुम ही उपादान और तुम ही कार्य्य हो। जल जमकर बरफ होता है, उसमें भी शैत्यरूप एक आगन्तुक हेतु विद्यमान रहता है; परन्तु तुम्हारे इस जगद्-व्यापार में वह सब कुछ भी नहीं है। तुम ही कार्य्य, तुम ही कारण और फिर तुम ही कर्त्ता हो।

मैंने एक फल चाहा। यह चाहना वा वासना ही फल का बीज है। (अव्यक्ता मा ने वासना रूप से फल के बीज-आकार में प्रकाश पाया)। फिर उक्त वासना घनीभूत होकर फल रूप से बाहिर प्रगट हुई; कारण कि वासना की घनीभूत अवस्था ही फल है। वह फल हमारे भोग के अन्त में फिर अव्यक्त में मिल जाता है। सदा ऐसी घटना होती रहती है। किसी एक अव्यक्त क्षेत्र से एक एक वासना फूट उठती हैं। पुनः पुनः वह वासना जाग्रत होकर अभिलषित विषय रूप से—इन्द्रिय भोग्यरूप से उपस्थित होती रहती हैं। भोग के अन्त में फिर अव्यक्त में मिल जाती हैं। यह जो तीन प्रकार का प्रकाश है; यही सृष्टि स्थिति और संहृति नाम से प्रसिद्ध है। सदा प्रत्येक जीव में सम्यक्भाव से ये तीन शक्तियां प्रकाशित होती हैं। हे जगन्मयि मा! तुमको क्षणभर भी विश्राम नहीं है। हमारे ही लिये तुम अज्ञेया होकर ज्ञानरूपा हो, शक्तित्रयातीता होकर भी शक्तिरूपिणी हो, क्रियातीता होकर भी क्रियाशीला हो। इसी से देखने में आता है कि सृष्टिकाल में तुम ही सृष्टिरूपा हो, पालन काल में तुम ही स्थितिरूपा हो, फिर प्रलयकाल में तुम ही संहृतिरूपा हो। इन तीन प्रकार क्रियाशक्तिरूप से तुम ही अपना प्रकाश करती हो।

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी ॥५६॥

अनुवाद—मा! तुम महाविद्या और महामाया, महामेधा और महा-अस्मृति हो, इस कारण तुम महामोहरूपिणी हो; अतएव तुम ही महादेवी और महा-आसुरी हो।

व्याख्या—मा! सब असम्भव व्यापार तुम ही में सम्भव हैं। प्रकाश और अन्धकार अति विरुद्ध पदार्थ होने पर भी तुम में साथ साथ निवास करते हैं। महती दैवी प्रकृति और महती आसुरी

प्रकृतिरूप से तुम ही विराजिता हो; इसी से, तुम महादेवी होकर भी महासुरी हो; कारण कि तुम महाविद्या होकर भी महामाया हो। महती ब्रह्मविद्यारूप से नित्य प्रतिष्ठित होकर भी जीवजगत्रूप से महामाया-मूर्ति से विराजिता हो। फिर महामेधा होकर भी महती अस्मृति हो। आत्मज्ञान-धारणोपयोगिनी महती धीस्वरूपा महामेधा तुम हो, फिर तुमको भूले रहना, तुम्हारा, अस्तित्व विस्मृत होजाना, यह भी तुम्हारा ही प्रभाव है। तुम ही महती विस्मृतिरूप से जीव हृदय में विराजिता हो; इस कारण महामोहरूपिणी भी तुम ही हो। तुम्हारे सब प्रकार के कार्य्य, जगत्-सम्बन्धी कार्य्य कारण-शृङ्खला-ज्ञान के अतीत हैं। मानवबुद्धि तुमको समझ नहीं सकती। मनुष्य मानते हैं कि प्रकाश और अन्धकार एक जगह रह नहीं सकते। ज्ञान अज्ञान, मेधा विस्मृति ये एक जगह नहीं रह सकते; परन्तु मा! तुममें सबही सम्भव है। दैवी और आसुरी प्रकृति परस्पर अत्यन्त विरुद्ध होने पर भी तुम में सदा अवस्थित हैं। हे मा! तुम ही ने तो हमको समझा दिया है कि प्रकाश की अल्पता ही अन्धकार है, और ज्ञान की अल्पता ही अज्ञान है। इसी से मा तुम्हारे रचे हुए जीव जगत् में भी देखते हैं कि तुम्हारी इन दोनों प्रकार की विरुद्ध मूर्तियों का युगपत् अभूतपूर्व एक साथ समावेश है। (१)

---

(१) हम बचपन से सुनते आये हैं कि—ज्ञान अज्ञान, विद्या अविद्या, सत् असत् ये परस्पर अत्यन्त विरुद्ध पदार्थ हैं, परन्तु क्या यह सच है कि वह अत्यन्त विरुद्ध हैं? परस्पर-विरोधी दो पदार्थों का एक आधार पर साथ होना मानव-बुद्धि के अतीत होनेपर भी, 'परमेश्वर में सब ही सम्भव है" ऐसा कह कर, युक्ति विरुद्ध बात को स्वीकार कर लेने होता है। अनुभव भी होता है कि ज्ञान के उदय में अज्ञान नहीं रहता और अज्ञान रहने तक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। तथापि वह अज्ञान जब ज्ञान में ही अवस्थान करता है, तब अज्ञान को ज्ञान का विरोधी न कहकर, ईषत् ज्ञान कहने में किसी प्रकार युक्तिविरुद्ध बात स्वीकार नहीं की जाती; कारण कि, अखण्ड पूर्णज्ञान और

जो महाविद्या-शब्द से काली तारा आदि दश महाविद्यारूप अर्थ करते हैं, उनके साथ पूर्णरूप से एक मत नहीं हो सकता; कारण कि इस मन्त्र में मा की दो महती प्रकृतियों का विषय वर्णन हुआ है। एक दैवी दूसरी आसुरी। इन दो प्रकृतियों का स्वरूप प्रगट करने के लिये महाविद्या और महामाया, महामेधा और महती अस्मृतिरूप परस्पर अत्यन्त विरुद्ध दो स्वरूप कहे गये हैं; इस कारण महाविद्या शब्द का अर्थ यहां पर ब्रह्मविद्या करना ही सङ्गत है।

प्रकृतिस्त्वञ्च सर्व्वस्य गुणत्रयविभाविनी।
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा ॥५७॥

अनुवाद—मा तुम सबकी प्रकृति हो। सत्व रजः तमः इन तीन गुणों द्वारा तुम्हारा प्रकृति-स्वरूप प्रकाशित होता है। फिर इस त्रिगुणलय के लिये तुम ही दारुणा (भयङ्करी) कालरात्रि, महारात्रि और मोहरात्रिरूप से प्रकटिता हो।

व्याख्या—मा! तुम केवल समष्टिरूपा महती प्रकृति ही नहीं हो, बलिक व्यष्टि प्रकृतिरूप से भी तुम हो। प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र प्रकृतिरूप से तुम अधिष्ठाता हो। प्रकृति-शब्द का स्थूल अर्थ—स्वभाव है। जिस जीव का जैसा स्वभाव है, वही उसकी प्रकृति है। मा! समष्टि में तुम्हारी महादेवी और महा-आसुरी ये दोनों प्रकृति दिखाई देती हैं। और यहां व्यष्टि में भी फिर वही देखते हैं। किसी की दैवी प्रकृति है, किसी की आसुरी प्रकृति है। कोई साधु है, कोई असाधु

ईषत् ज्ञान का एक स्थान में रहना असम्भव नहीं है। इसी प्रकार अविद्या असत् आदि शब्दों में भी नञ् का ईषत् अर्थ स्वीकार कर लेने से ही सब प्रकार के तर्कों की समाप्ति हो जाती है। विरोध और ईषत् ये दोनों अर्थ ही जब लाक्षणिक हैं तब ईषदर्थ स्वीकार करने में आपत्ति ही क्या है? न्याय मत से किन्तु नञ् की लाक्षणिकता भी स्वीकृत नहीं हुई है।

है। ये जो साधक मा मा कहकर अपने को भूलकर मुक्ति मार्ग पर चलते हैं, उनके भीतर साधना रूप से जो दैवी प्रकृति फूट निकली है, वह तुम हो; फिर वह जो पाप के निम्नतम सोपान पर उतर कर कोई कोई नरक के चित्र खोलते हुए जगत् में घृणा के पात्र होते हैं, उस निन्दित आसुरी प्रकृति रूप में भी तुम हो। तुम जब जिस जीव को जिस मूर्ति से गोद में लेकर बैठती हो, तब वह उसी प्रकार के स्वभाव का परिचय देता है। इससे अधिक श्रेष्ठ आश्वास बाणी और क्या है! किसी की चाहे जैसी प्रकृति क्यों न रहे, वही उसकी मा है।

मा! पूर्व तुम्हारी महती मूर्ति देखकर आतङ्कित हुआ था,—समझ में आया कि मेरे क्षीणकण्ठ का कातर आह्वान कैलाश के हेम सिंहासन तक नहीं पहुँचेगा; सो तुमने यह नित्य-सन्निहित अभयामूर्ति दिखाई। तुम ब्रह्माण्ड की जननी हो, ब्रह्मा, विष्णु महेश्वर की प्रसूति होकर भी हमारी प्रकृतिरूप से एका हमारी मा-तुम केवल हमारी प्रीति-साधन, हमारे भोगापवर्ग-साधन के लिये हमको हृदय से लगा रक्खा है! हमारा प्रत्येक अभाव अभियोग, हमारी प्रत्येक क्षुद्रवासना तक पूर्ण करने के लिये तुम प्रकृतिरूप से हमारी मा हो! इस प्रकार प्रतिजीव के—क्षुद्र कीटाणु से लेकर ब्रह्मा विष्णु पर्यन्त प्रत्येक की जो भिन्न भिन्न प्रकृति है, वह तुम हो; इसी से "प्रकृतिस्त्वञ्च सर्वस्य"। तुम समष्टि से सब की मा हो, और फिर व्यष्टि से प्रत्येक की मा हो। चाहे तुम्हारे छिन्न वस्त्र हों, चाहे तुम्हारे रूक्ष केश हों, चाहे तुम्हारा मलिन गात्र हो, चाहे तुम्हारा रुग्ण देह हो; तथापि तुम हमारी मा हो! केवल हमारी! और किसी की भी नहीं!

अपनी-अपनी प्रकृतिरूपिणी तुम्हारी अवज्ञा करने से ही जीवों की अनेक प्रकार की दुर्दशा, साधन-जगत् का असम्भव विपर्य्यय, साम्प्रदायिक-दुष्टभाव आदि घटनायें होती हैं! घर की मा की

अवज्ञा करके, कहीं किसी से मा कहने जाना जीव की कैसी मूढ़ता है! अपनी मा को परित्याग करके दूसरे के द्वार पर स्नेह प्रार्थी होने से जो अविधिपूर्वक तुम्हारी ही कृपा की प्रार्थना करता है, यह गीता के राजगुह्य—योग में तुमने विशेषभाव से कहा है! मा! मैंने भी एक दिन तुमको न पहचाननेके कारण, तुम्हारा दीनता का मलिन वेश देखकर, घृणा से दूर कर देने को उद्यत हुआ था। उस दिन का तुम्हारा वह अभिमान पूर्ण और अश्रुभाराक्रान्त मुख याद आने से, अब भी हृदय विदीर्ण होता है! तुम जो हमारी राजराजेश्वरी मा! अनन्त जगत् की अधीश्वरी मा हो, यह बात क्या उसी दिन मैं समझ सका था! कितनी अवज्ञा की है! अब भी करता हूँ, और प्रति मुहूर्त्त में तुम अभिमान पूर्वक कहती हो—"अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्"। (गीता ६। ११)। सत्य ही मा! हम मनुष्य तुम्हारी बड़ी ही अवज्ञा करते हैं। तुम्हारी तिर्य्यक् सन्तान तुम को जानती नहीं, उनकी कृतज्ञता—वृत्ति का विकाश नहीं हुआ है; इस कारण उनकी अवज्ञा सम्भव नहीं। उसके बाद तुम्हारी प्रियतम सन्तान देवता लोग हैं—वह तुम में नित्ययुक्त हैं। नित्य अपनी-अपनी प्रकृति-रूपिणी महामाया की पूजा में लीन हैं; परन्तु हम मनुष्य मानुषी-तनु-आश्रिता प्रकृतिरूपिणी तुम्हारी सदा पद-पद पर अवज्ञा करते हैं। मा! हमारा कोई भी कार्य्य तुम्हारे बिना नहीं होता! निश्वास से मोक्ष पर्य्यन्त, कोई भी कार्य्य तुमको परित्याग करने से सम्भव है! अजी! भोग रूप से तुम हो; अपवर्गरूप से भी तुम हो, सुखरूप से तुम और असुखरूप से भी तुम हो, हँसी रूप से तुम हो, रुदनरूप से भी तुम हो, जन्म—मृत्युरूप से तुम हो, फिर बन्धन मुक्ति रूप से भी तुम हो। प्रति जीव में भिन्न-भिन्न आकार में भिन्न-भिन्न अनुष्ठान में, भिन्न-भिन्न साज से एक मात्र तुम ही विराजिता हो।

क्या केवल इसी से मा! मैं बहुत्व प्रिय हूँ, मैं नित्य नूतन

साज से सजाना चाहता हूँ, इसी से तुम मेरे ही लिये नित्य नूतन वेश धारण कर एक ही तुम भिन्न-भिन्न मूर्ति से प्रगट होते हो। कभी साधु बनने चहा हूँ, तभी तुमने साधु भेष में मुझे गोद में ले रक्खा है। कभी तस्कर बनने चहा हूँ, तभी तुम तस्कर का मलिन साज पहन कर मुझे गोद में लिये बैठी हो। इस प्रकार क्या स्वर्ग में, क्या नरक में तुमने तो मुझे कभी क्षणभर के लिये भी गोदी से अलग नहीं किया है। केवल मेरी मा होकर मेरी प्रत्येक प्रतिक्षा पूर्ण करने को विश्वस्त अनुचर की भाँति, प्रियतम सखा की भाँति साथ ही साथ रहती हो! जिस दिन मैं तुम्हारी महती मूर्ति के सुधामय अङ्क से बहुत्व के उल्लास में उछल पड़ा था, उस दिन से तुम मेरी अकेले की मा बनी हो! उस दिन से तुम सदा मेरे साथ हो! इतना स्नेह! इतना आदर! परन्तु मैंने एक दिन भी कभी इसको ध्यान पूर्वक नहीं देखा! तुमने मेरे लिये इतना किया है, कररही हो, तो भी बिन्दुमात्र बदला पाने की इच्छा नहीं रखती हो। कृतज्ञता, बदला पाना तो दूर की बात है, सदा तुम्हारी गोदी में बैठकर तुम्हारी अवज्ञा करता आता हूँ; तो भी तुम जैसी स्नेहशीला हो, जैसी पुत्र स्नेह से अन्धी हो, वैसी ही बनी हो। मेरा दोष देखने के चक्षु तुम्हारे नहीं हैं, अवज्ञा देखने का अवसर तुमको नहीं है; तुम ऐसी मा हो, परन्तु मैं कब तुमको मा कहूंगा! अधिक नहीं, केवल एक बार मा कहूंगा! केवल इसकी अपेक्षा करके निर्निमेष नेत्र से दिनरात मेरी ओर देख रही हो कि—कब मेरे मुख से यथार्थ मातृनाम निकलेगा यह केवल तुम्हारे अपरिसीम स्नेह का बदला है। वह भी तो नहीं हो सकता! तुम्हारे चरणों पर पुष्पाञ्जलि देने से ही जो तुम राजराजेश्वरी मूर्ति से आविर्भूत होओगी, यह तो कुछ समझ नहीं सकता! इसीसे, तुमको टूटे फूटे मन्दिर में उपेक्षिता परिचारिका (तिरस्कृत सेविका) बना रक्खा है। अजी! अपने प्रियतम पुत्रों से कह दीजिये कि—अपनी अपनी प्रकृति ही मा है! जो मा का अनुसन्धान कर

नहीं पाते हैं, उनको भी कह दो कि—अपनी अपनी प्रकृति ही मा है! जो साधना करके हताश हो गये हैं, उनको कह दो कि अपनी अपनी प्रकृति ही साधना का आधार है। जो गुरु का सन्धान कर नहीं पाते हैं, उन से कह दो कि अपनी अपनी प्रकृति ही गुरु है।

मा! तुम तीनों गुण की प्रकाशक हो; सत्त्व, रजः और तमः इन तीन गुणों से तुम्हारी व्यष्टि और समष्टि प्रकृति प्रकाशित हुई है। निर्गुण मा! तुम जब सब से प्रथम एकत्व बोध से सम्बुद्ध हुई थीं, तब एक से गुणा हुआ–वही सत्त्व गुण है। फिर जब बहुत होने के लिये क्रियाशक्ति प्रकाशित की, तब द्विगुणित हुई—वही रजोगुण है। और जब बहु होते हुए तुम्हारा चैतन्यमय स्वरूप जड़ाकार में परिणत हुआ, तब तृतीय बार गुणित हुई–यही तमोगुण है। सत्त्वगुण में तुम्हारा सत्, रजोगुण में चित् एवं तमोगुण में आनन्द का प्रकाश होता है। सच्चिदानन्दमयी मा! तुमने अपने को विशिष्ट-भाव से त्रिधा विभक्त करके, तीन गुणों से गुणित होकर, समष्टि से महती, दैवी और आसुरी प्रकृति रूप से एवं व्यष्टि से जीव-प्रकृति रूप से प्रकाशित हुई हो। तुम अनिर्देश्या अव्यक्तरूपा होकर भी पुत्र स्नेह की प्रेरणा से, गुणत्रय-विभाविनी—प्रकृति हो। दर्शनकार लोग कहते हैं कि—तीनोंगुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। वह अव्यक्त है; इस कारण असाध्य है। हमको चाहिये कि तुमको इस स्थूल इन्द्रियों द्वारा भोग करें। हम स्थूल हो पड़े हैं; इसी से तुम्हारे स्थूल भाव की सेवा करके अपनी तृप्ति का सन्धान करते हैं, इस कारण त्रिगुणात्मिका व्यष्टिमूर्ति ही हमारी आराध्य है। जिन्होंने समष्टि का पता पाया है—हिरण्यगर्भ हुए हैं, वह उच्च अधिकारी हैं—वह तुम्हारी समष्टि-प्रकृति महादेवी मूर्ति की पूजा करें। हम क्षुद्र अबोध शिशु हैं, खेल की मूर्तियों से प्रेम है; इसी से, तुम्हारी सर्वभावमयी सर्वेन्द्रिययुक्त व्यष्टि प्रकृतिरूपा मूर्ति ही हमको प्रिय है। इसी से, हमारे समीप तुम गुणत्रयप्रकाशिनी हो। हम जानते हैं

कि—तुम्हारी इस मूर्ति की पूजा कर सकने से ही, महती मूर्ति का पता मिलेगा; कारण कि, इन तीन गुणों को पूर्ण रूप से लय करने के लिये, तुम ही कालरात्रि हो, महारात्रि और मोहरात्रि रूप से प्रगट होती हो।

काल भी जिस स्थान में प्रकाशित नहीं होता, वही कालरात्रि है। सत्वगुण के लयस्थान को कालरात्रि कहते हैं। इसी प्रकार रजोगुण के लयस्थान को महारात्रि और तमोगुण के लयस्थान को मोहरात्रि कहते हैं। मोह तमोगुण का बाहिरी प्रकाश है; उसकी रात्रि—अप्रकाश अर्थात् लयस्थान है।

गुणत्रयप्रकाशिनी मा! व्यष्टि प्रकृतिरूप से तुम केवल हमारी मा हो—और किसी की नहीं, केवल हमारी मा हो। इस प्रकार केवल अपनी मा की (तुम्हारी) पूजा करने में, क्रम से तुम्हारे जो तीन स्वरूप देखेंगे, इस स्थान में तुम उसी का पूर्वाभास दिये हो। तुम कालरात्रि रूप से आविर्भूत होकर हमारा कालज्ञान दूर कर दो। भूत भविष्यत् और वर्तमानरूप तीन प्रकार काल की प्रतीति, गभीर अन्धकारमय क्षेत्र में—अप्रकाशयोग्य स्थान में विलीन हो जाय। सब ही वर्तमानवत् प्रतीत हो। तब मैं काल के अतीत होकर मृत्युञ्जय होऊं, तुम्हारे रक्तचरण हृदय पर रखकर शिव होऊं। जीवत्व सदा के लिये छूट जावेंगे। यही सत्वगुण का प्रलय है। फिर महारात्रि रूप से आविर्भूत होकर, तुम मुझको महत्तत्व पर्य्यन्त विलीन करो। तब मेरे क्रिया शीलता वा रजोगुण से उत्पन्न चञ्चलता सदा के लिये विलुप्त हो, मुझको नैष्कर्म्य लाभ हो; तब मैं केवल चैतन्यमय आत्मबोध में जागृत रहूं। फिर मोहरात्रिरूप से प्रकटित होकर, मेरा जगत् मोह संसारभ्रम, सदाके लिये विलुप्त कर दो। तब मैं अजेय मोह का जय करके नित्य चिन्मयीमूर्ति में सदा मोहित रहूं।

मा! तुम्हारी यह तीनों मूर्ति दारुणा—अतीव भयङ्करी हैं। जहां कालशक्ति रुद्ध, जगत् प्रकाश सुप्त, मोहशक्ति विमुग्ध हैं, तुम्हारी

उस कृष्णारात्रिमूर्ति का स्मरण करके भी जीव को भय उपस्थित होता है। अमावस्या की घोर कृष्ण मेघ से छायी हुई रात्रि के सूची-भेद्य अन्धकार में भी वरन् एक प्रकाश होता है, परन्तु मा! तुम उस कृष्णामूर्ति में वह भी नहीं हो। सब प्रकार का विकाश वहाँ लुप्त प्रायः है। "न तत्र सूर्य्योभाति न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतोभान्ति कुतोऽयमग्निः" ॥ वह कैसी दारुण मूर्ति है! तो भी स्वप्रकाश अनन्त-शान्तिमयी है। मैंत्व के शरीर से लगे हुए सब प्रकार के जञ्जाल दूरीभूत करके, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार का राजत्व छोड़ कर, केवल आत्मबोध लेकर उस स्थान में अवस्थान किया जाता है, रात्रिरूपिणी मा! तुम्हारा वह मधुमय अङ्क कितना लुभाने वाला है, वह भाषा द्वारा कैसे वर्णन करें! वह देवी पुराण के एक श्लोक में देखा था—"ब्रह्ममायात्मिका रात्रिः परमेश-लयात्मिका" जहाँ जीव तो दूर की बात है परमेश्वर पर्य्यन्त विलीन है, वह एक मात्र ब्रह्ममाया ही तुम्हारा स्वरूप है। यह ब्रह्ममायात्मिका रात्रिरूपिणी तुम हो, त्रिगुण-लय के लिये, जीवभाव के पक्ष में अत्यन्त भीतिप्रदा कालरात्रि, महारात्रि और मोह रात्रिरूप से प्रकाशित होती हो।

त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा।
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च ॥५८॥

अनुवाद—मा! तुमही श्री, तुमही ईश्वरी, तुम अकर्म्म-जुगुप्सा-रूपिणी ह्री, तुम बुद्धि और तुमही शुद्धबोध स्वरूपा हो। लज्जा पुष्टि तुष्टि शान्ति और क्षमा भी तुम हो।

व्याख्या—मा! तुम जो व्यष्टि—प्रकृतिरूप से सब जीवों में विराज रही हो, वही इस ब्रह्म स्तोत्र में विशेषभाव से वर्णन हुआ है। "त्वं श्रीः"—मा तुम ही जीव की सौभाग्य रूपिणी हो। जब देखते हैं कि किसी जीव ने सौन्दर्य, ऐश्वर्य यश, अभ्युदय आदि अनेक प्रकार का सौभाग्य प्राप्त किया है, तब ही समझ सकते हैं कि

श्रीरूपिणी तुम उसको गोद में लिये बैठी हो। जब देखते हैं, कि कोई ईश्वरत्व—प्रभुत्व अर्थात् सहस्रों लोगों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त किया है, तब ही समझते हैं कि तुमने ईश्वरी मूर्ति से उसको गोद में धारण किया है। जब देखते हैं कि कोई असत् कर्म्म करके निन्दा के भय से गोपन करने की चेष्टा करता है, तब समझते हैं कि वह ह्री रूपिणी तुम्हारी ही गोद में बैठा है। हमारी जो निश्चयात्मिका वृत्ति वा बुद्धि, जो इस जगत् को प्रकाशित करती है, जिसके न रहने से जगत् सत्ता नहीं रहती, उस बुद्धिरूप से तुम ही विराजिता हो, फिर जब जगत्बोध विलुप्त हो जाता है, शुद्धबोध-मात्ररूप से आत्म सत्ता जागृत रहती है, केवल बोध के बिना जिसका अन्य कोई लक्षण नहीं है, तुम ही वह बोधलक्षणा मा हो। किसी निन्दित कर्म्म का अनुष्ठान करने में जो स्वाभाविक सङ्कोच उपस्थित होता है, वह लज्जा रूप से भी प्रति जीव में तुम अधिष्ठिता हो! ऐसा जब देखते हैं कि कोई दैहिक पुष्टि लाभ करके जनसमाज में अतुलनीय बलवान् कहकर प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं, तब ही समझते हैं कि—पुष्टि रूपिणी मा तुम उसको गोदमें लिये बैठी हो। जब देखते हैं कि कोई मन के आनन्द से हंस खेलकर दिन व्यतीत करते हैं, तब समझते हैं, कि—तुष्टि रूपिणी मा तुम उसको गोद में लिये बैठी हो। जब देखते हैं कि कोई आत्मज्ञान प्राप्त करके जगत् के सुख दुःख से अतीत शान्तिमय अवस्था में पहुँचा है, तब ही समझते हैं कि शान्ति रूपिणी मा तुम उसको हृदय पर धारण किये हो। जब देखते हैं कि—कोई प्रतीकार करने की सामर्थ्य होने पर भी पराया अपकार प्रसन्न बदन से सहन करता है, तब ही समझते हैं कि वह क्षमा रूपिणी मा तुम्हारे ही अङ्क में अवस्थित है।

मा! इन मूर्तियों में सब जीवों की प्रकृतिरूप से तुम सदा विराजती हो; परन्तु मूढ़ जीव उनको मानसिक वृत्तिमात्र कहकर उपेक्षा करते हैं हाय! वह नहीं जानते कि उनकी भोग-वासना

चरितार्थ करने के लिये, उनको धरना देने के लिये तुम ही इस प्रकार अनेक मूर्तियों में आकर उनका आदर करती हो। मा! तुम्हारी ये सब नित्य प्रत्यक्ष मूर्ति—तुम्हारे सर्वत्र सर्वदा प्रगट स्वरूप परित्याग करके, कहां कोई सप्तस्वर्ग के परपार में, कोई सब तत्त्वों से अतीत क्षेत्र में जीव तुमको अन्वेषण करने जाते हैं! जिनको तुमने चक्षु दिये हैं वे सर्वभाव से तुम्हारे आलिङ्गन में संबद्ध रहकर सदा ब्रह्मानन्द उपभोग करते हैं। परन्तु यह दूसरी बात है।

खड़्गनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा।
शङ्खिनी चापिनी बाणभुशुण्डी परिघायुधा ॥५६॥

अनुवाद—मा तुम खड्ग और शूल धारिणी हो, तुम घोरा हो—तुम्हारे एक हाथ में नरमुण्ड है; तुम ही गदा चक्र शङ्ख धनुबाण भुशुण्डी (कांटेदार लोहे की लाठी विशेष) एवं परिघरूप (लौह मुद्गर) आयुध समूह धारण करती हो।

व्याख्या—मा! पूर्ववर्ती मन्त्र में जीव-जगत् में तुम्हारी श्री, ईश्वरी आदि दश प्रकार के स्वरूप में आत्मप्रकाश वर्णित हुआ है। वह मातृभाव से—ब्रह्मभाव से उपासीत न होने से अर्थात् जो "मनो ब्रह्म" इस श्रुति प्रतिपादित साधना से विमुख हैं, उनके पक्ष में तुम्हारी वह मूर्तियां उत्पीड़नकारिणी और दशप्रहरणधारिणीरूप से आविर्भूत होती हैं! यह वास्तव में उत्पीड़िन नहीं हैं, शासन के आकार में मातृ स्नेह का वहिर्विकाश है। अनभिज्ञ शिशु-सन्तान को अनेक समय शासनरूप स्नेहविकाश से ज्ञान के उज्ज्वल क्षेत्र में लाने होता हैं। इसी से तुम खड़्ग शूल गदा आदि आयुध—विमण्डित होकर आविर्भूत होते हो।

जो जीव श्रीरूपिणी प्रकृति के अङ्क में अधिष्ठित हैं अर्थात् सब प्रकार के सौभाग्य को पाकर धन्य हैं, वे यदि अनभिज्ञ शिशु की

भांति उस सौभाग्य को भोग कर जाते हैं—तुमही उसके अभ्युदय-रूप से प्रकटित हो, वे यदि नहीं देखते हैं, अभ्युदयरूपिणी मा! तुम्हारे चरणों में यदि कृतज्ञता की पुष्पाञ्जलि नहीं देते हैं, तो उन जीवों के पक्ष में श्रीरूपिणी मा तुम खड्गिनी मूर्ति में प्रकटिता होते हो। अर्थात् शीघ्र ही उक्त सौभाग्य-सुख का खड्ग से कटे हुये के समान विच्छिन्न। कर देते हो। तुम जो श्रीरूप से आई थी, इसे समझाने के लिये अर्थात् जो अहंकार तुमको न देख कर स्वयं सौभाग्यवान् हो बैठा था, उसका मस्तक काटने के लिये ही तुम्हारी श्री मूर्ति खड्गधारिणीरूप से प्रगट होती हो। इस प्रकार जो प्रभुत्व लाभ करके ईश्वरी मूर्ति (तुम्हारी) की अवज्ञा करते हैं, उनके निकट तुम शूलधारिणी रूप से प्रकटित होती हो। प्रभुत्व से विच्युतिरूप शूलाघात से उनको बिद्ध करती हो—इसी से तुम्हारी ईश्वरी मूर्ति शूलधारिणी है। जो असत्-कर्म्म करके निन्दा के भय से गोपन करते हैं, वह ह्री मूर्तिरूपिणी तुम्हारे ही अङ्क में स्थित जीव, यदि तुम्हारा उद्देश्य न रक्खें, यदि तुम्हारा स्मरण न करें, तो शीघ्र ही तुम एक हाथ में नरमुण्डधारिणी घोरारूप से प्रगट होकर, उसके उस असत्कर्म्म को जनसमाज में प्रकाशित करके, अपने शरणागत होने की शिक्षा देती हो। इस प्रकार जो बुद्धिवृत्ति को तुम्हारा ही स्वरूप न देखकर बुद्धि मात्र मानते हैं, वह पुनः पुनः दैव-प्रतिकूलतारूप गदा के आघात से आहत होकर, अपनी बुद्धि को भ्रमसंकुला मान कर व्यथित होते हैं। इसीसे, बुद्धि रूपिणी मा! उस स्थान में तुम्हारा गदाधारिणीमूर्ति में प्रकाश है। जो तुम्हारी कृपा से शुद्धबोध का सन्धान पाकर भी उसको तत्त्वमात्र जान कर उपेक्षा करते हैं कि वह भी एक मनुष्य जन है, इसे न समझ कर एक आकाशीय-भावमात्र मानते हैं, उनका संसार चक्र से परिभ्रमण निवृत्त नहीं होता। इसी से, मा तुम्हारी बोधलक्षणामूर्ति अज्ञानी जीव के निकट चक्रधारिणीरूप से प्रकटिता होती है। जो असत्कर्म्म से संकाचरूप लज्जा को तुम्हारा ही विशिष्ट आविर्भाव नहीं

देखते, उनका वह निन्दित कर्म्म शीघ्र ही शङ्ख की आवाज़ से सब लोगोंको विदित हो जाता है। इसी से, मा तुम लज्जा रूप से शङ्खिनी हो। जो शारीरिक पुष्टि को केवल आहार औषध अथवा व्यायाम का फल मान कर, पुष्टिरूपिणी तुम्हारा अनादर करता है, उसकी वह पुष्टि कुरोग में परिणत होकर, तुम्हारी चापिनी वा धनुर्धारिणी मूर्ति के आविर्भाव की घोषणा करती हैं। जो मानसिक तुष्टि को तुम्हारी मूर्ति न देख कर, केवल विषयभोग का सन्धान करते हैं वे आकस्मिक विपतपड़नेरूप वाणविद्ध होने से उनका मर्म्मस्थान सदा के लिये व्यथित होता है; इसी से तुम्हारी तुष्टि-मूर्ति वाणधारिणी है। जो शान्ति प्राप्त करके शान्तिरूपिणी तुम्हारी मूर्ति को नहीं देखते, ज्ञानसम्पन्न होकर भी वह सांसारिक दुघटनारूप लौहदण्ड से उत्पन्न यातना सहते हैं। इसी कारण तुम शान्तिरूप से भुशुण्डीधारिणी हो। जो दूसरे को क्षमा करके, तुम्हारी क्षमामयी मूर्ति नहीं देखते हैं वे दूसरे के द्वारा अनुचित पीड़ा को प्राप्त होकर, तुम्हारे परिघ-धारिणीरूप का विकाश देख पाते हैं।

इस प्रकार जो सर्व भाव से तुमको नहीं देखते, वह जब तक तुमको न देखेंगे; तबतक तुम उन भावों में से कोई न कोई पीड़ा देकर उनको शिक्षा देती रहती हो। सन्तान का अज्ञान दूर करने के लिये ही तुम्हारी यह शासन करने वाली मूर्ति है! जो एक बार शासन से नहीं समझ सकते, उनके निकट बाध्य होकर तुम पुनः पुनः ऐसे विभिन्न आयुधधारिणी मूर्ति से आविर्भूत होती हो। यह तुम्हारे सन्तान-वात्सल्य का अपूर्व निदर्शन है। सन्तान को अपूर्ण देखकर पूर्णा तुम्हारी तृप्ति नहीं होती; इसी से सन्तान की इच्छा में से—सन्तान की अभिलाषा पूर्ण के अन्तस्तल से, तुम्हारी मङ्गलमयी महती इच्छा गुप्त रूप से चलायमान रहती है। वह इच्छा उतने दिन ही शासन के आकार में आती है—जितने दिन जीव सर्वभाव से तुमको नहीं देख पाते। और जो देख सकते हैं, उनके निकट तुम इन

मूर्तियों से प्रगट न होकर सौम्यामूर्ति से आविर्भूत होती हो। अगले मन्त्र में यही कहा गया है।

सौम्या सौम्यतराशेष सौम्येभ्यस्त्वति सुन्दरी।
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी ॥६०॥

अनुवाद—मा! तुम सौम्या, सौम्यतरा और सौम्यतमा हो। तुम अतिशय सौन्दर्यविशिष्टा हो। तुम पर एवं अपर दोनों का ही आश्रय—पूजनीया हो; इस कारण तुम ही परमेश्वरी हो।

व्याख्या—मा! जो सर्वभाव से तुमको देखने के अभ्यासी नहीं हुए हैं, उन अज्ञानी शिशुओं के ज्ञान नेत्र-उन्मीलन करने के लिये तुम अनेक शस्त्रधारिणी-मूर्ति से आविर्भूत होती हो। और जो अपनी अपनी प्रकृति को मा कहकर जाना है, सर्वभाव से सर्वत्र मा का कर्तृत्व देखकर अपने को यन्त्र स्वरूप मानते हैं, जो "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रा रूढ़ानि मायया" ॥ गीता १८—६१ ॥ इस गीतोक्त मन्त्र की साधना से सिद्ध हुए हैं, उनके समीप तुम सौम्य मूर्ति से ही आविर्भूत होती हो।

जिन्होंने केवल ज्ञान से समझा है कि सर्वभाव से एक मात्र तुम ही विराजिता हो अर्थात् जो बुद्धियोग के प्रथम अधिकारी हुए हैं, उनके निकट मा तुम सौम्य हो। जो तुमको प्राण देकर, सर्वभाव से अपने प्राण की विशेष उमङ्गमात्र देखते हैं, उनके निकट मा! तुम सौम्यतरा हो। और जो सर्वतोभाव से तुम में मन अर्पण करने को समर्थ हुए हैं—अर्थात् सब मन तुम में मिला देने में समर्थ हैं, उनके निकट तुम "अशेष सौमेभ्यः अति सुन्दरी" अर्थात् सौम्यतमा मूर्ति से प्रकटिता हो। इस प्रकार तुम तिन स्थानों में त्रिविध रूप से प्रगट होती हो। बुद्धियोगी के निकट तुम सौम्या हो, प्राणदर्शियों के निकट तुम सौम्यतरा हो और मनविलयकारियों के निकट तुम सौम्यतमा

हो। मा ! जो सौभाग्यवान् सन्तान सम्पूर्ण मन तुमको अर्पण करने में समर्थ हुए हैं, वह सर्वभाव से मातृमय हो जाते हैं, उनकी स्थूल इन्द्रियां पर्य्यन्त मातृधर्म्म, मातृमहिमा प्रत्यक्ष करती हैं, उनके अन्तर में बाहिर में सर्वत्र मा की सौम्यतमा मूर्ति का प्रकाश देखकर मुग्ध होते हैं। मा ! तुम्हारा सौन्दर्य जिसकी दृष्टि में पड़ा है, वह क्या फिर कभी जगत् के विशिष्ट सौन्दर्य से आकृष्ट होता है। चन्द्र में, कमल में, कामिनी के कमनीय मुखमण्डल में जो सौन्दर्य है—जिस ह्लादिनी-शक्ति का विकाश देखकर जीव मुग्ध होते हैं, वह तुम्हारी सौन्दर्य्यराशि के करोड़वें अंश के बराबर भी नहीं हैं। जगत् का जहाँ जितना सौन्दर्य्य है, वह सौन्दर्य्यसिन्धु तुम्हारा ही क्षुद्रतम् बिन्दुमात्र है। अनन्त ब्रह्माण्ड में जहाँ जितने सौन्दर्य्यकण हैं, उन सब को एकत्र करने से जो सौन्दर्य्यराशि कल्पना से गठित होती है, वही तुम्हारी सौम्यतमा मूर्ति का आभास है।

मा ! तुम "परापराणां परमा"। पर—ब्रह्मादि, अपर—देव मनुष्यादि इन दोनों की तुम आश्रय (पूज्या) हो। इस कारण तुम ही परमा सर्व्वश्रेष्ठा, तुम ही परमेश्वरी हो। जो तुम्हारे पूर्वोक्त त्रिविध सौम्यमूर्तियों का विकाश देखकर धन्य हुए हैं, जिनकी बुद्धि, प्राण और मन सम्यक् भाव से मातृयुक्त हुए हैं वही देख पाते हैं—ब्रह्मा से कीटाणु पर्यन्त अनन्तकोटि—ब्रह्माण्ड तुम्हारी ही सत्ता से सत्तावान् है। इस ब्रह्माण्ड-यज्ञागार के पर अपर ऊंचे नीचे जहां जो है, ज्ञान से वा अज्ञान से, सब ही तुम्हारी पूजा में निरत हैं। उनके निकट तुम ऐसी परमेश्वरीमूर्ति से प्रत्यक्ष होती हो।

यहाँ पर और भी खुलासा कहते हैं—अपनी-अपनी प्रकृति को मा कहकर समझ सकने से, सर्वभाव से मातृयोग में अभ्यस्त होने से, फिर क्षुद्र जैवी प्रकृति नहीं रहती है। तब उसी प्रकृति का जगत् को धारण करने वाली दैवी महती प्रकृतिरूप से अनुभव होता है। तब फिर उसको दीना मलीना मा कहकर नहीं मानते हैं।

उस अवस्था में साधक देखते हैं कि—इतने दिन तक जिसको केवल हमारी मा कहकर समझा था, अब देखता हूँ, कि वही परात्पर पूज्या परमा परमेश्वरी है। "मेरी ही मा सर्व जगत् की मा है" साधक को जब यह अनुभव होता है, तब उसको "सौम्यतमा अति सुन्दरी" न देख कर फिर क्या मलिना काङ्गालिनी मूर्ति में देख सकते हैं ?

जब देखते हैं—कि यह सूर्य्य अनन्त अनन्त ग्रह उपग्रहों से परिवेष्टित होकर, हमारी ही मा के अंग में सदा किरण विकीरण करते हैं; जब देखते हैं कि—यह समीरण कुसुमसौरभ-सम्भार बहन करके हमारी ही मा की तृप्ति-साधन करते हैं; जब हम देखते हैं कि जलदवृन्द पवित्र जल वर्षने से हमारी मातृ अंग को स्निग्ध करते हैं। जब देखते हैं कि ऊंचे शैलराजि (पर्व्वत) मस्तक को ऊंचा करके, हमारी ही मा के दर्शन के लिये धीरभाव से दण्डायमान हैं ; जब देखते हैं कि पुष्पित तरुवृन्द हमारी ही मा के चरणों में पुष्पाञ्जलि समर्पण करते हैं, जब देखते हैं कि—विहंगमनिचय कल कण्ठ से हमारी ही मा के वन्दना गीत गान करते हैं, इस प्रकार जब सर्व-भाव से सर्वत्र हमारी ही मा की सेवा पूजा देखते हैं; तब मैं क्या हो जाती है, वह वर्णन नहीं किया जाता। तब फिर मैं रहती ही नहीं, रहती है केवल मा—माकी यह वासुदेवमूर्ति। ऐसी अवस्था में साधक एक अद्वितीय ब्रह्ममूर्ति के सम्वेदन से एकान्त आत्महारा हो जाते हैं; यही हमारी मा की अति सुन्दरी सौम्यतमा परमेश्वरी मूर्ति है।

यच्चकिञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्व्वस्य या शक्तिः सा त्वं किंस्तूयसे तदा ॥६१॥

अनुवाद—हे अखिलात्मिके जननि! (जब देखते हैं) सत् असत् यहां जो कुछ वस्तु है, सब ही तुम हो और जो शक्ति इस सर्व-भाव में विराजित है, वह भी तुम हो, तब फिर तुम्हारी क्या स्तुति करें।

व्याख्या—मा ! जो अपनी प्रकृति को मा कहकर साधना क्षेत्र में अग्रसर होते हैं, वे किस प्रकार स्तर-स्तर में भेदज्ञानरहित अद्वैत-तत्व में पहुँचते हैं, वही इस ब्रह्मा के स्तोत्र में एक एक कर दिखा दिया है। मा ! तुम परमात्मारूप से कठिनता से प्राप्त होने योग्य हो; परन्तु प्रकृतिरूप में मनुष्यमात्र को ही अनुभव करने योग्य है। प्रकृतिरूपिणी तुम्हारी सेवा करने से ही, तुम्हारी परमेश्वरी मूर्ति प्रकटित होती है; तब सत् वा असत् कहने में कोई भेद नहीं रहता। सर्वमय जगन्मय आत्मा का विकाश देखने से और सर्वरूप से जो बहुत्व प्रतीत होता है वह आत्मा की ही शक्तिमात्र है, इस प्रकार देखने से जीवों के सब प्रकार के संशय दूर होते हैं।

जब सब ही हमारी प्रकृति हैं—हमारी मा—हमारी आत्मा वा मैं है; जब स्तव्य, स्तोता और स्तुति सब ही मैं—मा हूँ, तब फिर कौन किसकी स्तुति करेगा ! "यदासर्वमात्मैवाभूत् तदा केन कं पश्येत्" इस प्रकार अनुभव में पहुँचने पर उसी क्षण सर्व प्रकार की क्रियायें रुक जाती हैं। पूज्य पूजक भेद नहीं रहता, एक हो जाते हैं। मैंत्व के महाप्रसार में जीवभावीय मैत्व डूब जाता है। जो "सर्वस्यप्रकृति" था, वह महादेवी हो जाता है। चित्त-विक्षेप, वाक्य, निश्वास, हृत् पिण्ड की क्रिया अपने आप बन्द हो जाती है; केवल एक घन आनन्द-मय सत्ता विद्यमान रहती है। जिसमें उपस्थित होने से माना जाता है कि—"है" यही बात यहां ही कही जा सकती है, जगत् का अस्तित्व इसके निकट नहीं है। वह दूसरी बात है !

यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पातात्ति यो जगत् ।
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः ॥६२॥

अनुवाद—जो जगत्-सृष्टि-स्थिति-प्रलय का कर्त्ता है उस विष्णु पर्य्यन्त जब तुम्हारे प्रभाव से योगनिद्रा से आच्छन्न हैं, तब फिर कौन तुम्हारी स्तुति करने में समर्थ होगा ?

व्याख्या—हे मा ! जिस प्राण से समस्त जगत् उत्पन्न है, जिस प्राण में समस्त जगत् स्थित है और जिस प्राण में समस्त जगत् लय को प्राप्त होता है, सृष्टि-स्थिति प्रलयकारी वह प्राण वा विष्णुशक्ति ही जब योगनिद्रा से आच्छन्न है। स्वयं विष्णु ही जब जगद्वीज—अर्थात् जन्ममरण के मूलकारण संस्कार पर्य्यंत दूर करने से विमुख हैं, तब फिर कौन तुम्हारी स्तुति करेगा ? मैं (ब्रह्मा) प्राण की गोद में स्थित मन मात्र हूँ विष्णु वा प्राण की सहायता बिना तुम्हारी स्तुति करने की सामर्थ्य हमारी कहां ?

विष्णुः शरीर ग्रहणमहमीशान एव च।
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कःस्तोतुं शक्तिमान् भवेत् ॥६३॥

अनुवाद—विष्णु, मैं और ईशान हम तीनों ने जब तुम से जन्म (शरीरा) ग्रहण किया है; (हमारी शक्ति जब तुम्हारी ही शक्ति है) तब तुम्हारी स्तुति करने में कौन समर्थ होगा ?

व्याख्या—मा ! तुम ही ज्ञान, प्राण और मनोरूप से प्रकटित होकर, शिव, विष्णु और ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध होती हो। जब तुम जीवभावापन्न संस्काररूप से अपना प्रकाश करती हो, तब ही तुम्हारा नाम मन है। इस प्रकार प्रत्येक जीव के हृदय में अनुभूत व्यष्टि चैतन्य ही प्राण है, एवं प्रतिजीव में सदा प्रकाशमान बुद्धि ही ज्ञान नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक जीव में अनुभूयमान यह व्यष्टि मन, प्राण और ज्ञान एक समष्टि विराट् मन, प्राण और ज्ञान के छोटे छोटे बुलबुले मात्र हैं। प्रत्येक जीव में जो मन प्राण और ज्ञान नाम से प्रसिद्ध हैं, समष्टि में वही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर नाम से वर्णित हैं। यह सब ही जब महामाया मा तुम्हारे ही विशिष्ट विकाश मात्र है, हम जब तुमको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं हैं, तब फिर हमारी तुमको स्तुति करने की सामर्थ्य कहां है।

यहां पर साधन का कुछ रहस्य बतलाता हूँ—यह विराट् मन,

प्राण और ज्ञान—अर्थात् ब्रह्मा विष्णु महेश्वर उनका साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये, अपने जीव भावीय मन, प्राण और ज्ञान का सन्धान करने होता है। उन्हीं को ब्रह्मा विष्णु महेश्वर कहकर पूजा करने होता है। जिस प्रकार पृथ्वी के भीतर छिपा हुआ जलप्रवाह स्पर्श करने के लिये, अपने आंगन में कूप खोदने से ही अभीष्ट पूर्ण होता है, उसी प्रकार विराट् वा समष्टि का सन्धान करने के लिये, अपने अन्तर में दिन प्रतिदिन अनुभूयमान व्यष्टि सत्ता का आश्रय ग्रहण करना होता है। महामाया के जो शक्तिबिन्दु तुम्हारे भीतर प्रकाश पाते हैं, जो अंश तुम्हारे अधिकार में हैं, उन्हीं को ब्रह्मा विष्णु महेश्वर के जननी कहकर समझने की चेष्टा करो। उन्हीं के चरणों में अपने सुख दुःख की बात निवेदन करो। वही महती शक्तिरूप से प्रकटित होंगी; और तुम्हारी सब दुर्बलताओं को दूर करेंगी।

यहां पर देखा जाता है कि—ब्रह्मा स्तुति करते करते ऐसे एक क्षेत्र में आकर उपस्थित हुए हैं कि जहां से सर्वमय मातृकर्तृत्व दर्शन करके, सर्वभाव से मातृस्वरूप अनुभव करके, सर्वत्र मातृशक्ति अनुभव करके, वह क्रम से स्तुति करने से विरत होते हैं। साधना क्षेत्र में भी ठीक ऐसा ही होता है। प्रारम्भ में द्वैत-ज्ञान लेकर—जीव और ईश्वर ये दो भाव अवलम्बन करके अग्रसर होते हैं। फिर क्रम से द्वैत-प्रतीति का विलोप होकर आत्मानुभूतिमात्र विद्यमान रहता है। क्या समस्त जीवन की साधना में, क्या प्रतिदिन सन्ध्या बन्दनादि के अनुष्ठान में इस प्रकार अनुभव करने होता है। साधकगण जब तक प्रतिदिन की उपासना से इस अवस्था का आभास भी न पावें, तबतक उन्हें समझना चाहिये कि साधना ठीक नहीं हो रही है। प्रतिदिन की साधना में यहांतक कि एक बार करके सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति में प्रथम तीन प्रकार मुक्ति का आस्वाद लेने होता है। वह तत्व आगे कहने की इच्छा है।

सा त्वमित्थं प्रभावैः स्वैरुदारैर्देवि संस्तुता।
मोहयैतौ दुराधर्षावसुरौ मधुकैटभौ ॥६४॥
प्रबोधश्च जगत्स्वामी नीयतामच्युतो लघु।
बोधश्च क्रियतामस्य हन्तुमेतौ महासुरौ ॥ ६५ ॥

अनुवाद—हे देवि! अपने अति उदार प्रभाव के द्वारा स्वयं संस्तुत होकर (नित्यतृप्ता तुम विशेषभाव से प्रसन्नता का परिचय देती हो; इस कारण प्रार्थना करते हैं) इन दुर्दमनीय दो असुरों को मुग्ध और जगत्कर्ता अच्युत विष्णु को जाग्रत करो, जिससे वह इन दोनों असुरों को निहत करे, उसी प्रकार बोध की अनुप्रेरणा करो।

व्याख्या—मा! इतने दिन में भलीभांति समझ में आया है कि तुम्हारी स्तुति, तुम्हारी साधना तुम ही करती हो। तुम्हारा अति उदार प्रभाव, अलौकिक महत्व की रचना, महतीशक्ति की अनिर्वचनीय कहानी, स्नेह का अनन्त निर्झररहस्य यदि तुम आप वर्णन न करो, अपने आपको प्रकाशित न करो—अपनी इच्छा करके पकड़ाई न दो, तो किसी की भी सामर्थ्य नहीं है, कि तुमको पकड़ने वा समझने सकें। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" जितना शास्त्र ज्ञान, जितना वेद-अध्ययन, चाहे कितनी ही कठोर तपस्या क्यों न हो, तुम यदि अपनी इच्छा से न पहचान करना चाहो तो कोई तुमको नहीं पहचान—जान सकेगा। आज तुम्हारी स्तुति करते करते, तुम्हारा विशिष्ट प्रभाव देखते देखते मुग्ध हो गया हूँ और विशेषभाव से समझ सका हूँ कि यह स्तुति यह व्याख्या जो इस मुख से निकली है, इस रूप में भी तुम ही आविर्भूत हुई हो। तुम ही अपनी स्तुति करके और उसके फल से नित्यतृप्ता तुम विशेष प्रसन्नता के लक्षण प्रकाश करती हो! इस कारण प्रार्थना करते हैं कि—मा! यदि विशेष दया प्रकाश से सन्तान का हृदय प्रकाशित करके स्वप्रकाश-रूपिणी परमेश्वरी मूर्ति से

आविर्भूत हुई हो, तो इन दोनों (मधु-कैटभ नामक) असुरों को मुग्ध करो। यह जो बहुत होने की साध है, ये जो बहुत्व क्रीड़ा है यह हमको बहुत पीड़ित करती है। यह बिल्कुल स्थिर होकर तुम्हारी सौम्यमूर्ति के जगदतीत सौन्दर्य को भोग नहीं करने देती है। जिस प्रकार ये सुरविरोधी दोनों भाव अपना अपना भाव परित्याग पूर्वक तुम्हारी एकरस आनन्दघन मूर्ति से मुग्ध हों, ऐसा करो।

केवल इनको मुग्ध कर रखने ही से काम नहीं चलेगा। जिस प्राणशक्ति की गोद में ये प्रकाशित हैं, जो एक मुहूर्त्त के लिये किसी के भी हृदय-वृन्दावन से विच्युत नहीं होते, वह अच्युत विष्णु जिस प्रकार जाग्रत हों, वह भी तुमको करना होगा; कारण, कि विष्णु योग-निद्रा से आच्छन्न हैं, इसी से तो यह असुरों का अत्याचार है! प्राण क्षणिक आत्ममिलन के मोह से जगद्व्यापार समूल नाश करने से विमुख रहे हैं। इन दोनों असुरों को मारने से ही चिरस्थायी आनन्द प्राप्त होता है, इस बात को वह समझ कर भी नहीं समझते; इसी से, वह आज असुरों के मारने से बिमुख हैं।

हम मुख से कहते हैं—कि अब हमें संसार नहीं चाहिये; विषय नहीं चाहिये, और देहेन्द्रिय मन बुद्धि में प्रकाश होने नहीं चाहिये चाहते केवल नित्य सनातन मातृ चरण; परन्तु प्राण की ओर देखने ही से समझा जाता है कि वह बात की बात मात्र है। प्राण यथार्थ में पूर्णभाव से मा को नहीं चाहते, जितना चाहते हैं उतना पाते हैं वा पाया है। प्राण अब भी पूर्णभाव से जगत् का खेला दूर नहीं करना चाहते; इसीसे योग रहते भी निद्रा है। यह निद्रा दूर करनी होगी!

योगी जन जो समाधि से बारम्बार वुत्थित होते हैं, उसका कारण और कुछ नहीं है, यही योगनिद्रा वा मधु-कैटभ है। उनकी इच्छा है कि मा और जगत् दोनों ही रहें। वह दोनों को रखते हुए आगे

बढ़ना चाहते हैं; किन्तु मा ! तुम सर्वग्रासिनी हो, सब एका ग्रास किये बिना तुम्हारी तृप्ति नहीं है; इसी कारण यह इन असुरों की पीड़ा प्राणों में खिलाकर प्राणों के द्वारा ही इन असुरों का बध कराते हो। सम्यक्भाव से अपने में मिला लेते हो। यही तुम्हारे मधु-कैटभ बध का रहस्य है।

यहां पर देखा जाता है कि ब्रह्मा मा से तीन वरदान माँगते हैं। एक मधु-कैटभ का मोह, दूसरे विष्णु का जागरण और तीसरे विष्णु की असुर बधानुसारिणी बुद्धि की अनुप्रेरणा। कार्य्यतः इन तीन के न होने से, ये दुर्जय असुर विनाश को प्राप्त नहीं होते ; कारण कि असुररूप से भी मा है ; मा की यह आसुरी प्रकृति यदि स्वेच्छा से अपनी इनका बध न चाहे, तब किसी की भी सामर्थ्य नहीं है कि उनका निधन करे। दूसरे विष्णु वा प्राणशक्ति भले प्रकार जाग्रत हुए बिना, मातृलाभ नहीं होता ! तीसरे, मातृमिलन की अभिलाषा पूर्ण-भाव से जाग्रत होने पर ही, प्राण जगद्भाव को मथन करने को उद्यत रहते हैं। यही विष्णु के असुर-निधन में बुद्धि की अनु. प्रेरणा है।

ऋषिरुवाच

एवं स्तुता तदा देवी तामसी तत्र वेधसा।
विष्णोः प्रबोधनार्थाय निहन्तुं मधुकैटभौ ॥६६॥
नेत्रास्य-नासिकावाहु हृदयेभ्यस्तथोरसः।
निर्गम्य दर्शने तस्थौ ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ॥६७॥

अनुवाद—ऋषि कहते हैं कि ब्रह्मा द्वारा इस प्रकार स्तुत होकर तामसी देवी विष्णु के जागरण और मधुकैटभ के बध के लिये, नेत्र मुख नासिका हृदय और वक्षस्थल से निकलकर, अव्यक्त-जन्मा ब्रह्मा की दर्शनविषयिणी हुई।

व्याख्या—ब्रह्मा की कातर प्रार्थना से महामाया तामसी मूर्ति में अविर्भूता हुई। तमोगुण में ही सर्व्वभावों का विलय होता है। पूर्व्व कहा गया है कि महामाया दो प्रकार की प्रकृति से प्रकटित होते हैं। महती प्रकृति और जीवभावीय प्रकृति। प्रकृति—गुणत्रय विभाविनी है। जीवभावीय प्रकृति जिस प्रकार सत्त्व रजस्तमोमयी है, महती प्रकृति भी उसी प्रकार त्रिगुणात्मिका है। भगवद्गीता में यह दो प्रकार की प्रकृति ही यथाक्रम से परा और अपरा नाम से व्याख्यात हुई हैं। पराप्रकृति के जिस स्थल में सत्त्वगुण का प्रकाश है, अपरा प्रकृति का सब से प्रथम वही विकाश वा परिणाम है। परा प्रकृति तमोगुण से आरम्भ करके क्रमशः तमः रजः और सत्त्वगुण रूप से और अपरा प्रकृति क्रमशः सत्त्व रज और तमोगुण रूप से अभिव्यक्त होती है। अपरा प्रकृति के सब से अन्त में और परा प्रकृति के सब से आदि में तमोगुण है। सत्वगुण दोनों प्रकृतियों का मध्यस्थ (सन्धिस्थल) है। निद्रा तन्द्रा मोह आलस्य जड़ता आदि अपरा प्रकृति के तमोगुण का धर्म है, और सर्वभावों का वा बहुत्व का विलय परा प्रकृति के तमोगुण का धर्म्म है। बात यह है कि महामाया के जगत्सुखी विकाश का नाम अपरा प्रकृति और परमात्माभिमुखी विकाश का नाम परा प्रकृति है। जीव-प्रकृति जब तमः और रजोगुण के प्राधान्य को अभिभूत करके विशुद्ध सत्वगुण में अवस्थित होती है, तब ही पराप्रकृति के रजोगुण की क्रियाशीलता द्वारा यह सत्त्वगुण प्रलयाभिमुखी होता है, अर्थात् परा प्रकृति के तमोगुण में विलीन होता है; इस कारण इस स्थल में महामाया की तामसी मूर्ति का आविर्भाव अत्यन्त प्रयोजनीय है। मधु और कैटभ सत्वगुण से उत्पन्न हैं—सत्वगुण का ही प्रकाश है तमोगुणमें वा तामसी मूर्ति के ही अङ्क में यह बहुभावेच्छा और तन्मूलक आनन्दरूप दो असुरों को विलीन करने के लिये मध्यवर्त्ती-रजोगुण की क्रियाशीलता वा प्राणों का जागरण अत्यन्त आवश्यक है। यही ब्रह्मा

की स्तुति में तामसीमूर्ति के आविर्भाव और मधुकैटभ के वध के लिये विष्णु का जागरण है।

यह तामसी प्रकृति स्थूलभाव से प्रकाशित होने से ही, पूर्व कहे हुए खड्ग शूल आदि दश प्रकार के शस्त्रधारिणी महाकाली मूर्ति से आविर्भूता होती है। यह मूर्ति नीलकान्तमणि की भांति तेजवाली है; इसके हाथ पांव और मुख प्रत्येक दश दश हैं। यह ज्ञान और कर्मेन्द्रियरूप दश प्रकार की चित्शक्ति प्रवाह का द्योतक है। एक मात्र चित्शक्ति ही दश इन्द्रियों के मार्ग से अनेक भाव में विकाश पाती है, यह स्पष्ट करके इस बहुभाव को एकत्व में विलीन करने ही के लिये इस प्रकार तामसी महाकाली मूर्ति का आविर्भाव होता है। इस मूर्ति में एकत्व और बहुत्व का अपूर्व समन्वय प्रकटित है। मुमुक्षु साधक इस मूर्ति का दर्शन से धन्य होते हैं।

चिद्व्योम-क्षेत्र में जब किसी विशिष्ट मूर्ति का आविर्भाव होता है, तब वह मूर्ति साधक के संस्कारानुयायी गठित होती रहती है। मा की अपनी कोई विशिष्ट मूर्ति नहीं है। सर्वरूप से ही वह है, तो भी वह स्वयं रूपविवर्जित है। तथापि "साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप-कल्पना"। साधक के हित के लिये ही सत्व-सङ्कल्प ब्रह्म वा मा अपने में विशिष्टरूप की कल्पना करती है। वही हमारे पुराणादि शास्त्रों में वर्णित देव और देवी हैं। साधक जिस प्रकार के संस्कारों से, जैसे विशेषणों से, जैसे गुणों से, आत्मा को विशेषित करते हैं, भक्तिप्रिय अरूप परमात्मा उसी प्रकार गुण से गुणमय होकर, साधक की अभिलाषा पूर्ण करते हैं। यही साधन-जगत् में विशिष्ट मूर्तिदर्शन का रहस्य है।

दो स्थानों में इस प्रकार विशिष्ट मूर्ति का दर्शन होता है। एक मनोमय क्षेत्र में और दूसरा विज्ञानमयकोष वा प्रज्ञा में। मन ही मनमें किसी विशिष्ट मूर्ति की कल्पना (प्रति दिन अभ्यास के फल से) घन कर डालने से, प्रायः ऐसी मूर्ति का दर्शन होता है। किसी

किसी स्थल में ऐसे अभ्यास के सहायता से कल्पना घन न करने पर भी कभी कभी किसी मूर्ति का दर्शन होता है। समझना चाहिये कि वह सब पूर्वजन्म सञ्चित घन कल्पना का फल है। अस्तु, मनोमय क्षेत्र में जिन मूर्तियों का दर्शन होता है। वह क्षणिक आनन्ददायक और भगवत् सत्ता की विश्वासवर्द्धक है; इस विषय में कोई संसय नहीं है; परन्तु वे मूर्तियां साधक को कृतार्थ नहीं कर सकतीं; कारण कि—उनमें प्राण धर्म्म का विकाश नहीं है; सर्वज्ञता सर्व्वदर्शिता, सर्व्वशक्तिमत्ता आदि महत्व का स्फुरण नहीं है; वह मन कल्पित एक छाया विशेष मात्र है; इस कारण साधक को वराभयदान से, अमरत्व प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं; परन्तु प्रज्ञाक्षेत्र में किसी विशिष्ट मूर्ति का दर्शन प्राप्त होने से सब प्रकार के संशय दूर हो जाते हैं, ज्ञाननेत्र उन्मीलित हो जाते हैं, साधक अभीष्ट वर पाकर धन्य होते हैं।

अस्तु, मन्त्र में कहा गया है कि नेत्र मुख नासिका बाहु हृदय और वक्षस्थल से निकल कर तामसी देवी ब्रह्मा के दर्शनगोचर हुई थी। वे स्थान प्राणशक्ति के विशिष्ट अनुभव के केन्द्र हैं। जगत् के बीजों को पुनः अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति रहित न करके, परमात्मा के साथ जो मिलनप्रयास हैं उस अवस्था को योगनिद्रा कहते हैं। इस अवस्था में प्राण की क्रियाशीलता स्तब्ध रहती है; इस कारण चक्षु मुख नासिका बाहु हृदय और वक्षस्थल आदि विकाश केन्द्र से उपसंहृत होकर, प्राणशक्ति परमात्मा की गोद में लीन होने के प्रयासी होते हैं। इस अवस्था से व्युत्थित होने पर अर्थात् योग निद्रा भङ्ग होने पर, उन सब केन्द्रों में प्राणशक्ति की क्रियाशीलता पूर्ववत् दिखाई पड़ती है।—साधक मात्र ही समझ सकते हैं कि प्रथम प्रथम जब देहात्म-बोध और बहुभाव परित्याग पूर्वक धीरे धीरे परमात्मा की ओर गति प्राप्त करते हैं, तब चक्षु मुख हृदय आदि अवयवों की अस्वाभाविक स्पन्दन वा विक्षेप होता रहता है। फिर योगयुक्त

अवस्था से बहिर्मुख होने का उपक्रम होने पर भी, इन सब अवयवों का ऐसा विक्षेप आरम्भ होता है। इतने समय तक जगन्मूर्ति मा की रूप देखकर नेत्र, गुण कीर्तन करके मुख, चरण स्पर्श करके बाहु; सत्तानुभूति द्वारा हृदय, एवं स्नेह वहन करके वक्षःस्थल तृप्त था। ये सब अवयव इस समय फिर मा के इस परिच्छिन्नभावों में मुग्ध होना नहीं चाहते। इसी से हमारी मा तामसीमूर्ति से इन्द्रियों का आश्रय परित्यागपूर्वक, विशुद्ध आत्म स्वरूप में संस्थित होने के लिये प्राणशक्ति को जाग्रत कर दिये हैं।

मन्त्र में ब्रह्मा को अव्यक्तजन्मा कहा गया है। अव्यक्त वा प्रकृति से ही मन का जन्म होता है। मनुष्य मात्र ही अनुभव कर सकता है—चित्त की वृत्तियां किसी अव्यक्त क्षेत्र से विकाश को प्राप्त होकर, पुनः उसमें विलीन होती हैं। इस अव्यक्त क्षेत्र का अनुसन्धान पाने से ही साधक परमात्मा स्वरूप के अत्यन्त निकटवर्ती होते हैं।

उत्तस्थौ च जगन्नाथस्तया मुक्तो जनार्द्दनः।
एकार्णवेऽहिशयनात्ततः स ददृशे च तौ॥ ६८॥
मधुकैटभौ दुरात्मानावतिवीर्य्यपराक्रमौ।
क्रोधरक्तेक्षणावत्तुं ब्रह्माणं जनितोद्यमौ॥ ६९॥

अनुवाद—योगनिद्रा से विमुक्त होकर जनार्द्दन जगन्नाथ एकार्णव में शेष शयन से वुत्थित हुए। और देखा कि—दुरात्मा अतिवीर्य्यवान् पराक्रमशाली क्रोधरक्तलोचन मधुकैटभ ब्रह्मा को भक्षण करने को उद्यत हुआ है।

व्याख्या—ब्रह्मा की स्तुति से विशेष परितुष्टा महामाया मा विष्णु की योगनिद्रा—मूर्ति का परित्याग किया है। निद्रा से मुक्त जगन्नाथ जी उठे हैं; परन्तु जनार्दनरूप से, इस बार इन असुरों का

निधन करना होगा; इसी से विष्णु का यह जन-पीड़ाकारक रूप धारण है।

पूर्व जो मन अति चञ्चल और जगद्व्यापार का सर्वप्रधान नियन्ता था, आज वह मन ही परम शान्तभाव से अवस्थान करने के लिये, असुरों को मारने के लिये महामाया के प्रसाद से प्राणशक्ति को जागरण कर दिया। चञ्चलता परित्याग कैसे सुख और कैसे आनन्द का है, वह प्रशान्तभाव का कुछ आस्वाद पाये बिना अनुभव नहीं होता है। खुलासा यह है कि जगत्मय सत्यप्रतिष्ठा के फल से, प्रत्येक पदार्थ में आत्मशत्ता–दर्शन के फल से जगद्व्यापार का उच्छेद साधन किये बिना ही प्राण मातृयुक्त होते हैं। इधर इस मातृयुक्तता के फल से, अति चञ्चल मन भी चिराभ्यस्त (बहुत काल के अभ्यास) चञ्चलता के हाथ से परित्राण लाभ करने को उद्यत होता है; परन्तु आदि–संस्काररूपी दोनों असुर उसको फिर अनेक भावों से तरङ्गायित होने के लिये उद्बुद्ध करते रहते हैं। यही मधु-कैटभ का ब्रह्मा को ग्रास करने का उद्यम है। इतने दिन जगद्धर्ता प्राण जगत् को एकार्णवीकृत करके—जगत् संस्कारों को शय्यारूप से परिकल्पित करके, मातृयुक्तभाव से अवस्थान करती थी, जगन्मूर्ति-मातृस्वरूप से परितृप्त प्राण भी भावातीत मातृसत्ता में पूर्णभाव से मिलन–विषय में उदासीन थे; किन्तु अब उस मोह का अवसान (अन्त) हुआ है। योगनिद्रारूपिणी महामाया मा ने उसको जनार्दन रूप से-असुर-पीड़करूप से जाग्रत कर दिया; इसी से आज प्राण आदि-सङ्कल्प का विलय करने को उद्यत हैं।

इसी प्रकार होता है। जबतक हमारी मा दया करके जीव की मोह निद्रा को भङ्ग नहीं कर देती, जबतक निद्रारूपिणी मा प्रबोध रूप से प्रकाशित नहीं होती है, तबतक ही जीव जगत् की धूलि शरीर से मलकर, अति चञ्चल नाशवान् सुख से मुग्ध रहकर, अपने को कृतार्थ मानता है। फिर गीतातत्व उन्मेषित होने से, बुद्धियोगरूप जगत्मय

सत्यदर्शन के फल से, विशिष्टभाव से मातृलाभ से धन्य होता है। इस अवस्था में जीव इस गुणमयी भावमयी मा के दर्शन को ही जीवन की चरम चरितार्थ मानकर, आत्मतृप्ति के सङ्कीर्ण मोह से आच्छन्न रहता है। फिर धीरे धीरे चण्डीतत्त्व का प्रकाश होता है। एक एक कर असुर कुल का आविर्भाव होता रहता है, बहुत्व के संस्कार साधक को चञ्चल कर डालते हैं। उस चञ्चलता से मुक्त होने के लिये भावरूप गुणरूप असुरों का निधन करके, भावातीत गुणातीत सत्ता में प्रवेश करने के लिये साधक प्राणपण से उद्यम करते हैं। यह उद्यम बाहिर से देखने का नहीं है, यह विज्ञानमयकोष की साधना है। वहां क्या व्यापार संघटित होता है, उसे जो लोग विज्ञानमय कोष में आत्मबोध संग्रह कर चुके हैं, केवल वही दर्शन वा अनुभव कर सकते हैं। अकपट कातर प्रार्थना और सम्यक् आत्मसमर्पण ही उस क्षेत्र की साधना वा उद्यम है। कितनी ही विफलता कितना ही हताश आकर साधक को अवसन्न कर देने में प्रयास पावे किन्तु एक मात्र निर्भरता और आत्म-समर्पण के फल से सब प्रतिकूलता अपूर्व्व उपाय से दूर हो जाती हैं।

समुत्थाय ततस्ताभ्यां युयुधे भगवान् हरि।
पञ्चवर्षसहस्राणि बाहु प्रहरणो विभुः ॥ ७० ॥

अनुवाद—अनन्तर, सर्व्वैश्वर्य्य-समन्वित, बाहुप्रहरण, विभु, सर्व्वसंहारक हरि ने निद्रा से उठकर, पांच हजार वर्ष तक उन दोनों असुरों के साथ युद्ध किया था।

व्याख्या—योगनिद्रा-विमुक्त प्राण, अपने को भगवान्, विभु, और हरि इन तीन प्रकार की उपलब्धि से महाशक्तिमान्, कह कर बोध करते हैं। भगवान् शब्द का अर्थ—सर्वैश्वर्य्य-समन्वित। विभु

शब्द का अर्थ—व्यापक, असीम-शक्तिसम्पन्न। हरि शब्द का अर्थ—सर्वसंहारक। यह तीन प्रकार का अनुभव प्राण में न फूटने से असुरों के निधन की योग्यता प्राप्त नहीं होती।

दुर्बलता दूर करना ही प्रथम साधना है। "मैं क्या इस अनादि-काल—सञ्चित अज्ञान को दूर कर सकूंगा"? ऐसा भाव प्राण की दुर्बलतासूचक है; इस कारण एक पक्ष में यह निद्रा-स्थानीय है। मा के चरण दृढ़भाव से पकड़े रहने से, यथार्थभाव से मा की कृपा प्रार्थना करने से, प्राण में मा ऐसा बल सञ्चारित करती है कि साधक यथार्थ ही अनुभव कर सकते हैं कि मैं ही भगवान् हूँ, मैं ही विभु हूँ, मैं ही सर्वसंहारक हरि हूँ; इस कारण निश्चय ही मैं असुर कुल को निर्म्मूल करने में समर्थ हूं, यही परम पुरुषार्थ है।

बाहुप्रहरण शब्द से ग्रहण वा लेने की शक्ति समझी जाती है। बाहु वा ग्रहणेन्द्रिय जिसका प्रहरण अर्थात् अस्त्र विशेष है वही बाहु प्रहरण नाम से प्रसिद्ध होता है। प्राणशक्ति आदि संस्कार की फलोन्मुखता निराकृत करने के लिये—अपने में मिला लेने के लिये आदन शक्ति का प्रयोग किया जाता है। यही मधुकैटभ के साथ विष्णु का बाहु युद्ध है। यह युद्ध पांच हजार वर्ष तक हुआ था। "पञ्चवर्ष सहस्राणि" इसका आधिभौतिक अर्थ-पांच हजार वर्ष व्यापी; परन्तु आध्यात्मिक दर्शन से इसका अन्यरूप अर्थ प्रतीत होता है। पञ्च शब्द का अर्थ—रूप रसादि विषयपञ्चक। वर्ष शब्द का अर्थ—स्थान और सहस्र शब्द का अर्थ असंख्य का बोधक है; इस कारण "पञ्चवर्ष सहस्राणि" शब्द का अर्थ असंख्य भेद विशिष्ट विषय पञ्चकों का अनुभूति स्थान लक्ष्य किया है।

मन के जिस केन्द्र में पांच प्रकार विषयों का अनुभव खिल उठे, उस स्थान का नाम पञ्चवर्ष है। वह पांच प्रकार का अनुभव ही फिर असंख्य नाम रूपादि भेद विशिष्ट होता है। इसी से 'सहस्राणि' पद में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। जिस स्थान से यह असंख्य

भेद वाला पांच प्रकार विषियों का अनुभव खिल उठता है, उस केन्द्र को लक्ष्य करके आदान वा ग्रहण शक्ति का प्रयाग करते हैं।

खुलासा यह है कि 'मैं बहुत होऊं' इस संस्कार के मूल में दो भाव हैं। एक आनन्द और दूसरे बहुत्व की इच्छा। वही मधु-कैटभ है। उनका नाश करने के लिये अनेक भावों के केन्द्र स्थान का लक्ष्य करके बारम्बार ग्रहण शक्ति के प्रभाव से आत्मोपसंहरण करने होता है। जबतक अनुभूतिसमूह आत्मरति और आत्मतृप्त न हो, तबतक यह बाहु-प्रहरण-प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। अनुभूतियां विषयों की ओर दौड़ती हैं, फिर प्राण मानो पीछे की ओर से दोनों हाथ से पकड़ कर अपने में मिला लेते हैं। यही ग्रहण शक्ति वा बाहु प्रहरण-प्रयोग का रहस्य है। अनुभूति केन्द्र अनेक जन्मों से पांच प्रकार की तरङ्गों से तरङ्गायित होने का अभ्यासी है। वे तरंगें फिर भिन्न-भिन्न नाम रूप और व्यवहार से असंख्यभेद विशिष्ट होकर आविर्भूत होती हैं; इस कारण मधुकैटभ का नाश करने के लिये, उस अनुभूति केन्द्र वा पञ्चवर्ष सहस्र को लक्ष्य करके आदानशक्ति का प्रयोग करने होता है, अर्थात् बाहुप्रहरण के बिना अन्य किसी भी उपाय से मधुकैटभ का निधन सिद्ध नहीं हो सकता। इसी से, यहां पर दोनों असुरों के साथ विष्णु के बाहुयुद्ध की बात ही कही गई है।

कोई कोई पञ्चवर्ष सहस्र शब्द का दीर्घकालीन रूप अर्थ करते हैं। उस मत का तात्पर्य यह है कि जीवत्व के मौलिक उपादान-स्वरूप, ये दोनों प्रबल संस्कार ईश्वरभावीय अवस्था विशेष हैं। इस कारण जीव भावीय शक्ति के प्रयोग से उनका विनाश साधन करने के लिये दीर्घकाल व्यापी अभ्यास और वैराग्यरूप दोनों हाथों की शक्ति प्रयोग करने होता है। वास्तविक पक्ष में, दीर्घकाल व्यापी श्रद्धा पूर्वक निरन्तर अभ्यास और विषय वैराग्य के बिना जीवत्व की ग्रन्थि किसी प्रकार समूल नष्ट नहीं होती।

तावप्यतिबलोन्मत्तौ महामाया-विमोहितौ ।
उक्तवन्तौ वरोऽस्मत्तो व्रियतामिति केशवम् ॥ ७१ ॥

अनुवाद—वे दोनों बल से बड़े मतवाले थे; परन्तु महामाया के स्वरूप पर मुग्ध होकर वे केशव से बोले—"तुम हमसे वर ग्रहण करो"।

व्याख्या—मधुकैटभ अति बलोन्मत्त असुर हैं; कारण कि "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" यह जो बहुभाव की इच्छा—संस्कार है यह सब की अपेक्षा बृहत्तम क्षेत्र वा ब्रह्म से उत्पन्न है; इस कारण अति प्रबल है। फिर "बहुतभाव से प्रकाशित मैं एक होऊं" यह इच्छा जीवभावीय संस्कारों से उत्पन्न है; इस कारण दुर्बल है। दुर्बल के द्वारा प्रबल का उच्छेद असम्भव है, इसी से महामाया मा ने स्वयं अपना स्वरूप प्रगट करके इन दोनों असुरों को विमोहित किया। तात्पर्य्य यह है कि प्राण जहां मातृ स्नेह से मुग्ध होता है, मन वहां मा की महती शक्ति से मुग्ध होता है; यह दोनों ही जब फिर बहुभाव नहीं चाहते, महामाया मा के अनन्त उदार नित्य शान्तिमय सर्वभावरहित निरञ्जन सत्ता में मिल जाना ही जब दोनों का उद्देश्य, एकान्त अभिलाषा हुई, तब उनकी कातर प्रार्थना से बाध्य होकर, महामाया मा ने मधुकैटभ को अपने स्वरूप से मुग्ध किया। वह उस नीलमणि के समान तेजवाली तामसी-मूर्ति के मनोहर रूप को देखकर मुग्ध हुए। उस स्वरूप में बिलकुल मिल जाने की इच्छा प्रकाशित की।

ठीक ऐसा ही होता है। ओरे हमारी मा की ऐसी ही रूप माधुरी है! कि एक बार जिसने देखा है, वह उसे फिर भूल नहीं सकेगा। वह स्निग्ध-श्यामा, वह कोटिचन्द्र-सूर्य्य-म्लानकारिणी सुधामयी माधुरी, वह अभिनव चिद्घन चारुता, उसका एक बार दर्शन करलेने से फिर जगत् भला नहीं लगता है, फिर बहुत्व भला नहीं लगता। सर्वदा उसीमें मिल जाने की वासना होती है, वह जो मेरा यथार्थ स्वरूप है,

वह जो मैं हूँ, यहां पर जो "मैं मैं" करता हूँ, यह तो यथार्थ में नहीं है। यह जो कङ्काल मैं हूँ, हाथ पांव-जंजीर से बंधा हुआ जीव मैं हूं। वह मैं स्वाधीन सरल विभु, निरञ्जन, आनन्दघन और भी कितने क्या कहूं,! एकबार उस मैं को देख लेने से, फिर क्या कोई इस मैं में रहने की इच्छा करता है ? इसी से वहुत्व के संस्काररूपी दोनों असुर आज मातृसत्ता से विमुग्ध होकर आप ही अपना विनाश साधन करने को उद्यत हुए हैं; मरकर अमर होने चले हैं। इसीसे, केशव से कहते हैं कि—"हमसे वरदान लों"।

यहां पर प्राण केशव-मूर्ति में विराजित हैं अर्थात् सब भावों के बीज को संहरण करके अपना विशिष्ट भाव पर्यन्त विलय करके, महाकारण में सम्मिलित होने को उद्यत हैं। यही केशव-मूर्ति का स्वरूप है; 'क' शब्द का अर्थ जल! कारण कि जल में जो शव (मृत) की भांति शयन करे वही केशव है! अस्तु, प्राण की प्रलय कालीन शक्ति का आभास पाकर महामाया विमोहित अर्थात् मातृ स्वरूप में मुग्ध दोनों असुर पाण से बोले कि—तुम जो कहोगे वही करेंगे, फिर हम तुम्हारे विरुद्ध खड़े न होंगे। अबतक समझे नहीं थे कि तुम ही हमारे महामङ्गल के एक मात्र हेतु हो; इसी से अनेक भावों से विकाश और उनसे उत्पन्न आनन्द से मुग्ध थे; परन्तु अब तुम्हारा अभिप्राय समझ सके हैं कि तुम हमें माता के अङ्ग का भूषण बना दोगे, उसी की चेष्टा करते हो; इस कारण तुम जो चाहोगे वही देंगे।

खुलासा यह है कि—संस्कार राशि भी ज्ञान है। ज्ञान उत्पन्न होने वाला पदार्थ नहीं है; इस कारण ज्ञान का नाश असम्भव है। सो वह संस्कार राशि भी दग्ध-बीजवत् ब्रह्म में ही स्थिर रहती है। वही माता के कण्ठ में मुण्डमाला है। किसी प्रकार का भाव उत्पन्न न कर सकने के कारण वह मृत है। यह सब रहस्य द्वितीय तृतीय चरित्र में विशेष भाव से व्याख्यात होगा।

श्री भगवानुवाच ।

भवेतामद्य मे तुष्टौ मम वध्यावुभावपि ।
किमन्येन वरेणात्र एतावद्धि वृतं मम ॥ ७२ ॥

अनुवाद—भगवान् कहते हैं कि यदि तुम हमारे पर सन्तुष्ट हो, तो दोनों ही हमारे वध्य हो जाओ। यहां पर अन्य वर की फिर क्या आवश्यक है ? यही हमारा प्रार्थित विषय है।

व्याख्या—कुछ दिन अनुभूति केन्द्र लक्ष्य करके, आदानशक्ति प्रयोग वा मातृस्वरूप दर्शन में अभ्यस्त होने से अर्थात् प्रत्येक अनुभूति ही मा है; ऐसा बोध जब संशय और विपर्य्ययप्रतीत-रहित होता है, तब ही मधुकैटभ वध्य (मारने योग्य) होता है। साधक ! तुम भी देखो—तुम्हारे पांच वर्ष (अनुभूति केन्द्र) सदा सहस्रों भेद विशिष्ट होकर उपस्थित होते हैं। तुम्हारी बाहु ही शस्त्र हैं। तुम भी दोनों हाथों से उस भावराशि को ग्रहण करके कहो—हमारी मा आओ, हमारी आत्मा आओ, हमारी मैं आओ, हमारे सर्वस्व आओ ! रूप होकर आई हो, आओ मा ! रस होकर आई हो, आओ मा ! शब्द होकर आई हो, आओ मा ! इस प्रकार सर्वभाव आत्मा में एवं आत्मा को सर्वभाव में दर्शन करो तो देखोगे कि अजेय असुर अपनी इच्छा से अपनी मृत्यु को मांग लेंगे।

किस प्रकार यह होता है ? जब तुम देखोगे कि दृढ़ अध्यवसाय के वल से संस्कारों को मातृमय कर डाले हो, तुम्हारे अनुभूति केन्द्र में सत्यरूप अग्नि जल रही हो, पतङ्गवत् संस्कारराशि आकर उस अग्नि में पड़कर सत्यमय होने लगी है, सब ही मा हुए हैं, तब तुम आदर की सन्तान मा से कह सकोगे कि—"मा अब क्यों यह अनेक भाव से विकसित होती हो ? अब अपने अनेक भाव संहरण करो।" तब सन्तान-वत्सला मा अनेक रूपों का संहरण कर लेगी। मा आपही यदि सन्तानस्नेह से मुग्ध होकर, अपनी आसुरी मूर्ति का संहरण

न करे, तो फिर किसी की सामर्थ्य नहीं है कि उसका अङ्ग स्पर्श करे। चाहे जितना योग, चाहे जितना वृत्तिनिरोध, चाहे जितना दृढ़ अध्यवसाय (मनोयोग) पूर्वक चित्तविक्षेप दूर करने की चेष्टा क्यों न करे, तुम्हारी सब चेष्टायें वृथा हो जायंगी यदि प्रकृतिरूपिणी मा अपना आसुरीभाव (पुनः पुनः परिणामरूप बहुत्व) अपने अङ्ग में विलीन न कर लेवे। यह ही यथार्थ तत्त्व है।

अस्तु, हम देखते हैं कि भगवान् विष्णु दोनों असुरों से बध्यत्व की प्रार्थना करके बोले—"किमन्येन वरेणात्र"। और दूसरे वर की क्या आवश्यकता है! और कुछ भी नहीं चाहिये। मैं सिद्धि-शक्ति के द्वारा मण्डित होकर जगत् में शक्तिमान् कहलाने की प्रतिष्ठा नहीं रखना चाहता, अथवा प्रेम भक्ति ज्ञान सत्कर्म्म आदि सर्वोत्तम भूषणों से भूषित होकर, महिमान्वित महापुरुष नहीं बनना चाहता, शरीर की मलिन पोशाकें खोल कर, अपने को महामूल्य रत्नभूषण से सजाऊं, यह भी मेरी वासना नहीं है। मैं चाहता हूँ कि मैं—अपने को सर्वतोभाव से तुम्हारे चरणों में समर्पण करदूं। तुम्हारे चरणों में आत्मबलि देकर, अनन्त जीवनव्यापी अकृतज्ञता का एक बिन्दु प्रायश्चित्त करने की चेष्टा करूँ। इस प्रकार निष्कामता वा यथार्थ मुमुक्षुभाव प्राणों में विकास पाने से ही, असुरों से प्रार्थना की जाती है "तुम हमारे बध्य होओ"! संस्काररूपी असुर मातृ-मूर्ति में सदा के लिये मिल जावें—केवल यही प्रार्थना है।

ऋषिरुवाच।

वञ्चिताभ्यामिति तदा सर्व्वमापोमयं जगत्।
विलोक्य ताभ्यां गदितो भगवान् कमलेक्षणः।
आवां जहि न यत्रोर्व्वी सलिलेन परिप्लुता॥ ७२॥

अनुवाद—ऋषि कहते हैं—वह दोनों असुर अपने को वञ्चित मानकर, एवं समग्र जगत् रसमय देखकर, कमल लोचन भगवान् विष्णु से कहा कि पृथ्वी जहाँ पर सलिल-परिप्लुता न हो, ऐसी जगह पर हमको बध कीजिये।

व्याख्या—मधुकैटभ आज महामाया के स्वरूप पर मुग्ध हैं; इसी से वह इतने दिन पीछे समझ सके कि हम वञ्चित हुये हैं। अनेक भाव का खेला खेलकर, भूमा सुख से वञ्चित रहे हैं। ठीक इसी प्रकार जीव भी जबतक महामाया की माया में पूर्णरूप से मुग्ध नहीं होते, तब तक ही जगद्भाव में—अनेक भावों में मुग्ध रहते हैं, जगत् को ही आनन्द का स्थान मानते हैं। जब तक जीव अति अल्पकाल स्थायी इन्द्रियभोग्य विषयसुख से ही कृतार्थ मानते रहते हैं, तबतक अपने को बञ्चित होना समझ भी नहीं सकते; परन्तु महामाया मा जिस दिन अपना स्वरूप प्रगट रूप से, उनके चक्षु के सन्मुख धारण करती है, उसी दिन ही समझ सकते हैं—"हाय! इतने दिन तक जगत् में यथार्थ सुख से वञ्चित रहे हैं।"

"आपोमयंजगत्" देवीसूक्त-व्याख्या के समय आचार्य सायनदेव ने अप् शब्द का अर्थ व्यापन शीला धी-वृत्ति किया है। इस स्थान में अर्थात् इस बुद्धितत्व में ही परमात्मा विशेषभाव से अनुभव करने योग्य है। साधक देहादि से आत्मबोध हटाकर धी-क्षेत्र में आरोहण करते हैं, फिर परमात्मा जीवों के प्रति स्नेहवश होकर मानो बुद्धिमय क्षेत्र में उतरते हैं। इसी स्थान में ही जीव और परमात्मा का मिलन संघटित होता है। यही जीवनमुक्त का आनन्द-निकेतन है। यही वैष्णवों की भाषा में वृन्दावन है—इसी जगह रासलीला होती है। रस स्वरूप आत्मा इन्द्रियशक्ति रूपिणी गोपियाँ परिवेष्ठिता आराधिका जीवप्रकृति के साथ इस स्थान ही में रमण करती हैं। यह आनन्द भाषा में वर्णन करने योग्य नहीं है। "आत्मारामोप्यरीरमत्" आत्माराम होने पर भी किस प्रकार वह हमारे साथ रमण करती

हैं, वह इस वृन्दावन में न आने से किस प्रकार समझ सकोगे? गोपी वा इन्द्रियशक्तियाँ जब आत्मा के महाकर्षण से विषयरूप कुल परित्याग करके, तीव्रवेग से वंशीध्वनि के आधार पर कृष्णजी को तलाश करने दौड़ती हैं, राधिका—"जीव-मैं" जब सम्पूर्णभाव से कृष्णप्रेम में—परमात्ममोह से मुग्ध होकर, इस बुद्धिमय क्षेत्ररूप वृन्दावन में पहुँचती है, तब ही आत्ममिलन की महा-सन्धि का क्षण है। शैवों की भाषा में यह धी-क्षेत्र ही कैलाश है। यहाँ पर ही विज्ञानमय शिव, पार्वतीरूपिणी पराप्रकृति के साथ आनन्द से विहार करते हैं। इस स्थान में आने से ही "सर्वमापोमयं जगत्" सर्व जगत् व्यापनशील-धीमय—बोधमय दृष्ट होता है। यहाँ पर सब कुछ है; किन्तु केवल बोधद्वारा गठित अर्थात् चिन्मय है। जड़भाव वहाँ पर बिल्कुल तिरोहित है। पक्षान्तर में, अप् शब्द का अर्थ रस है। परमात्मा ही एक मात्र रसस्वरूप है। आनन्दमय आत्मदर्शन होने से ही जगत् आपोमय वा रसमय प्रतीत होता है। मधुकैटभ इतने दिन बाद आनन्दमयी महामाया के स्वरूप पर मुग्ध हुआ है; इस कारण समग्र जगत् आपोमय देखता है।

जो विष्णु उनका विनाश करने को उद्यत है, वह भी इस समय उनकी दृष्टि में--"भगवान् कमलेक्षण"—अति प्रियदर्शन हुए हैं। क्योंकि इस समय वह प्राण को ही सच्चा बन्धु समझ सके हैं। प्राण जो उनको नाश करने को उद्यत होकर, रस के समुद्र में डुबाना चाहते हैं, यह अनुभव कर सके हैं। वह रस समुद्र की तरङ्गमात्र है; तरङ्गरूप से फिर विकसित न होना पड़ेगा, एकदम समुद्र हो जायेंगे। प्राण ही इस महामिलन का एकमात्र उपाय है; इस कारण प्राण ही परम प्रिय है; इसी से, वह यहाँ कमलेक्षण—स्नेह-दृष्टि-सम्पन्न है।

मधुकैटभ विष्णु के निकट जो प्रार्थना करते हैं, वह और भी विस्मियकर है। "कि जहाँ पृथ्वी जलद्वारा परिप्लुत न हो, उस स्थान में हमको बध करो"। कैसी सुन्दर प्रार्थना है! वह जगत् को बोधमय

वा रसमय दर्शन करते हैं। रस वा आनन्दसमुद्र की कुछ तरंगे ही उर्व्वी वा पृथ्वीरूप से प्रकाश पाती है। जहाँ इस जल से भीगी पृथ्वी न हो, जहाँ निरवच्छिन्न जल अर्थात् निरवच्छिन्न रस, विशुद्ध आनन्द है वहाँ हमारा निधन करो—डुबादो। फिर वह विशिष्ट आनन्द और वह कीट की भाँति अनेक भाव से विकाश नहीं चाहिये। जहाँ से आये हैं, वहीं ले चलिये।

सुनो—बुद्धिमय क्षेत्र में पहुँचने पर, जगत् सत्ता विलुप्त प्रायः होती है। यहाँ जगत् बोधमय रूप से प्रकाशित होता है। यह बोध आनन्द स्वरूप है; इसी से, मन्त्र में "आपोमयं जगत्" कहा गया है। जहाँ बोधमय जगत् भाव भी नहीं है, जहाँ निर्म्मल बोध वा आनन्द है, वहाँ ही विषयसंस्पर्शजन्य आनन्द और बहुत्व का अन्त होता है। बुद्धि वा महत्तत्व के उदय से द्रष्टा अर्थात् साक्षिभाव का अनुभव होता है। जगत् मानो छाया की भाँति बुद्धिसत्ता में भासित रहता है। सुख दुःख रोना हँसना आदि विरुद्धभाव फिर साधक को चञ्चल नहीं कर सकते। "मैं इस सर्वभाव का द्रष्टा—मात्र हूँ" ऐसा बोध फूट उठता है। इस अवस्था में आत्मबोधमय उदासीन क्षेत्र में जगत्सत्ता क्षीणभाव से रहती है; यही "आपोमयं जगत्" है। जहां जगत् की वह क्षीणसत्ता भी बिल्कुल नहीं है, उस विशुद्ध—बोधमात्रस्वरूप में ही सर्वभाव समाप्त होती है। मधुकैटभ वहीं जाना चाहता है। धन्य उसकी प्रार्थना है।

ऋषिरुवाच।

तथेत्युक्त्वा भगवता शङ्खचक्र-गदाभृता।
कृत्वा चक्रेण वै च्छिन्ने जघने शिरसी तयोः ॥७॥

अनुवाद—ऋषि कहते हैं—शङ्ख चक्र गदाधारी भगवान् ही "वह हाँ" यह कहकर मधुकैटभ के दोनों मस्तक अपने जंघाओं पर रखकर चक्र से काट डाले।

व्याख्या—शङ्ख-यह नाद शक्ति का प्रतिभू (ज़ामिन) है जो प्रणवध्वनि अनन्त-जगत्-परिव्याप्त है। अनाहत-चक्र से साधक जिस ध्वनि को सुन पाते हैं, जिसकी भिन्न भिन्न लहरें जगत् में शब्द के रूप से परिचित, शङ्ख उसकी ही प्रतिनिधि है। गीता में देखिये—सारथिरूपी भगवान् के हाथ में शङ्ख सुशोभित है; यहां भी मधुकैटभारि भगवान् के हाथ में नादशक्ति के प्रतिभू स्वरूप शङ्ख विद्यमान है। नादतत्व आगे वर्णन किया जायगा।

चक्र शब्द का अर्थ जगत् है। अन्न से प्राणी, मेघ से अन्न, यज्ञ से पर्ज्जन्य (मेघ) कर्म्म से यज्ञ, वेद से कर्म्म और अक्षर पुरुष से वेद सम्भूत है। अनुलोभ और विलोमभाव से इस चक्रवत् गति का नाम संसार है। यही विष्णु के हाथ में स्थित चक्र है। यही सुदर्शन चक्र नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म से प्रवर्तित इस जगत्-चक्र को जो सदा ब्रह्म में प्रतिष्ठित देखते हैं, उनकी दृष्टि में वह चक्र अति सुन्दर दर्शन है।

गदा—लय वा संहार-शक्ति का प्रतिभू है। जिस शक्ति के प्रभाव से इस जगत्-चक्र का प्रलय होता है, वही गदा नाम से प्रसिद्ध है। गद् धातु का अर्थ—व्यक्त शब्द है। शङ्ख वा प्रणवनाद से जगत् की उत्पत्ति है; वह अव्यक्त ध्वनि है। और गदा वा व्यक्त नाद से व्योम (वि+ओम्) शब्द में जगत् का प्रलय है; इस कारण शङ्ख, चक्र, गदाधारी कहने से—सृष्टि, स्थिति, प्रलय-कर्त्ता समझा जाता है।

मधुकैटभ अपनी इच्छा से निहत होने का अभिलाषी है। प्राण-शक्ति महामाया की शक्ति से शक्तिमान है। सृष्टि-स्थिति-प्रलय-सामर्थ्य, शोभायमान है। इस अवस्था में विष्णु ने मधुकैटभ का मस्तक अपनी जंघाओं पर रखकर छेदन कर दिया। "महीतलं तज्जघने" विष्णु का जघनदेश-महीतल है। मही वा क्षिति-तत्त्व जड़ की सर्वशेष परिणति है। जड़ से चैतन्य को विच्छिन्न करने पर स्थूलतम क्षिति का आश्रय ग्रहण करना होता है। बात यह है कि

पार्थिव देह के बिना जड़-चैतन्य का भेद अनुभव के योग्य नहीं है; इस कारण मानव-देह ही साधना का क्षेत्र है। इससे ही भोग और अपवर्ग दोनों का लाभ होता है। यही विष्णु के जघन देश के नाम से वर्णित हुआ है।

मस्तक काटने की बात में कुछ रहस्य है। हमारी ज्ञानेन्द्रियां कण्ठ के ऊपरी भाग में अवस्थित हैं। यद्यपि त्वक् सर्व्व शरीर व्यापी हैं तथापि त्वक् का धर्म्म स्पर्श प्रधानभाव से अधर-ओष्ठ में ही प्रकाशित होता है। कण्ठ के ऊपरी भाग में—ज्ञान वा चित्क्षेत्र और निम्न-भाग में जड़क्षेत्र है। इस चित्-जड़मिलन का नाम जीव है। इसका विच्छेद करना ही जीवत्व रूप-बन्धन का खुल जाना है। इस जड़ के संमिश्रण से चैतन्य अपने शुद्धभाव को तिरस्कृत करके परिच्छिन्न जीवभाव में प्रकाशित हुआ है; उस जीव भाव से चैतन्य को मुक्त करना ही सब प्रकार साधना का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को लक्ष्य करके ही हमारे देश में देव पूजा में उत्सर्ग किये हुए छाग आदि पशु का कण्ठ देश छेदन किया जाता है।

अस्तु इस प्रकार योगनिद्रा-विमुक्त विष्णु ने मधुकैटभ का शिर काट दिया। इसका तात्पर्य यह है कि जो मौलिक संस्कारवश जीव अनन्तकालव्यापी जन्म मृत्यु के खरस्रोत में बहा चला जाता है, वही आदि-संस्कार—वह बहुत्व मूलक आनन्द और बहुभावेच्छा इतने दिनमें जाग्रत प्राणशक्ति द्वारा स्थूल वा पार्थिवदेह को आश्रय करके ही बहुत्व से विमुक्त हुए। इसी को जीव का ब्रह्मग्रन्थिभेद कहते हैं। मन जिस अज्ञानग्रन्थिवश सदा बहुत्व का सङ्कल्प करता है और उसी में आनन्द पाता है, उस ग्रन्थि के उच्छेद होने का नाम ब्रह्मग्रन्थिभेद है। ब्रह्मा वा मन जिस ग्रन्थि से बंधा हुआ है, उस बहुभावमूलक मौलिक संस्काररूप प्रथम ग्रन्थि का उच्छेद इस मधु-कैटभवध-प्रसङ्ग में वर्णित हुआ है। इस ब्रह्मग्रन्थिभेद होने से साधक फिर समझ सकता है कि यह जगत् यह स्त्री पुत्रादि, यह देह सब ही

कल्पना मात्र हैं। मा के विराट् मन की कल्पना ही विश्वरूप से प्रतिभात है तब इसका स्पष्ट अनुभव होता है। और भविष्यत की आशा आकांक्षा भी दूर हो जाती है। विष्णु और रुद्र-ग्रन्थिभेद यथा क्रम से द्वितीय और तृतीय चरित्र में व्याख्यात होगा। परमात्माके दर्शनसे ही इन तीनों ग्रन्थियों का भेद होता है। बात यह है कि यही आगामी, सञ्चित और प्रारब्ध इन तीन प्रकार के कर्म्म फल-ध्वंस नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

कर्म्मफल-ध्वंस विषय में भगवान् ने कहा है—"ज्ञानाग्निः सर्व्वं कर्म्माणि भस्मसात् कुरुते"। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईन्धनसमूह को भस्मसात् कर देती है। उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्म्मों को भस्म कर देती है। आचार्य्य शंङ्कर ने इसकी व्याख्या करते समय, इस स्थल में सर्व शब्द का अर्थ सङ्कोच किया है। वह कहते हैं कि ज्ञान-प्राप्त होने से आगामी और सञ्चित ये दो प्रकार के कर्म्म क्षय को प्राप्त होते हैं; परन्तु प्रारब्ध कर्म्मों का क्षय नहीं होता। दृष्टान्तस्वरूप व्याध का प्रसङ्ग उल्लेख किया है। किसी व्याध ने एक मृग को लक्ष्य करके धनुष पर एक बाण चढ़ाया है। दूसरा बाण बायें हाथ में है और एक पीठ पर तरकस है जो बाणों से भरा हुआ है। थोड़ी दूर पर भागते हुए मृग के उद्देश्य से बाण छोड़ने पर दूसरे क्षण में भगवत्कृपा से व्याध को ज्ञान उदय हुआ। अकस्मात् वैराग्य का आविर्भाव होने से, हाथ और पीठ पर स्थित बाण त्याग दिये। और फिर उसने कहा कि अब मैं कभी प्राणि-हत्या नहीं करूँगा; परन्तु जो बाण हाथ से छुट चुका है, वह तो लक्ष्यभूत मृग को बेधेगा ही। उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने से, वर्त्तमान में जो कर्म्म भविष्यत् कर्म्म के बीज रूप होते हैं अथवा जिन कर्म्मों का फलभोग अभी आरम्भ नहीं हुआ है, सञ्चित रहते हैं, वह दोनों प्रकार के कर्म्म ही विनष्ट हो सकते हैं, किन्तु जिन कर्म्मों के फल से वर्त्तमान देह आरम्भ हुआ है, उनका सम्यक् भोग न होने पर्य्यन्त किसी प्रकार से भी क्षय नहीं होता है।

बात बहुत ही युक्ति संगत अवश्य है; शास्त्र में भी लिखा है—"मा भुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि"। अभूक्त कर्म्म कोटिकल्प काल में भी क्षय को प्राप्त नहीं होते। परन्तु हमारी समझ में—जब भगवान् ने कहा है—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते" तब यथार्थ ज्ञानप्राप्त होने से, निश्चय ही सर्व कर्म्म क्षय को प्राप्त होते हैं। ज्ञान जितना उज्ज्वल होने पर—ज्ञान की जिस अवस्था में पहुँचने पर, साधक के प्रारब्ध—कर्म्मफलरूप इस स्थूल देह पर्य्यन्त का भी विलय हो जाता है, ज्ञान के उस उन्नत-स्तर पर उपस्थित हो सकने से यथार्थ में ही सर्व-कर्म्म-क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञान जितना उज्ज्वल होने पर आगामी और सञ्चित कर्म्ममात्र क्षय होते हैं, साधकलोग दृढ़ अध्यवसाय के बल से उतना ही लाभ कर सकते हैं; परन्तु जिस से प्रारब्ध तक क्षय को प्राप्त हो, उतना उज्ज्वल ज्ञान प्राप्त करना अति दुरुह व्यापार है। जो बारम्बार समाधिस्थ होकर, फिर देहात्मबोध मे व्युत्थित होते हैं, तो समझ लेना चाहिये कि—वह ज्ञान के उस उज्ज्वलतम क्षेत्र पर आरोहण नहीं कर सके हैं। इस कारण उनका प्रारब्ध-भोग-क्षेत्ररूप देह रह जाता है, परन्तु साधक का ऐसा एक दिन आता है कि—जिस दिन समाधिस्थ होकर फिर देहात्मबोध में नहीं लौटता। "यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम"; यही ज्ञान का उज्ज्वलतम स्वरूप है और ज्ञान की इस अवस्था में उपस्थित होने ही से यथार्थ सम्यक् ज्ञान अधिगत होता है।

एवमेषा समुत्पन्ना ब्रह्मणा संस्तुता स्वयम् ।
प्रभावमस्या देव्यास्तु भूयः शृणु वदामि ते ॥७५॥

इति मार्कण्डेय-पुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये
मधुकैटभबधः ॥

अनुवाद—ब्रह्मा द्वारा स्तुत होकर, महामाया इस प्रकार स्वयं प्रकट हुई थी ! वत्स सुरथ ! इस देवी का प्रभाव—माहात्म्य पुनः वर्णन करता है, तुम एकाग्रचित्त से श्रवण करो ।

मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत सावर्णिक-मन्वन्तरीय देवी-माहात्म्य-प्रसङ्ग में मधुकैटभ-बध समाप्त ।

व्याख्या—ब्रह्मा वा मन द्वारा स्तुत होने से ही देवी स्वयं विशिष्ट मूर्ति से आविर्भूत होती है। जबतक केवल बुद्धि में भगवद्भाव फूटता है तबतक सत्तामात्र का अनुभव होता है। प्राण में जब भगवद्भाव विकाश पाता है तब सर्वत्र अव्यक्त चैतन्य-सत्ता प्रत्यक्ष होती है। फिर जब मन पर्य्यन्त भगवद् भाव में तन्मय हो जाता है, तबही मा हमारी मनोमयी इन्द्रियधर्म्ममयी विशिष्टमूर्ति में प्रकटित होती है; इस कारण ब्रह्मा वा मन यदि मा की आराधना करे, यदि मातृ-आविर्भाव के लिये यथार्थ व्याकुल हो, तब मा निश्चय ही इस प्रकार स्थूलमूर्ति में भी दिखाई देती है। इस प्रकार जो बुद्धि, प्राण और मन सम्मक्भाव से मातृमय करके मातृलाभ से धन्य हुए हैं, उनके लिये वह दर्शन ही सब प्रकार के संशय रहित और हृदय ग्रन्थि का भेद कर देता है।

जो लोग बुद्धि और प्राण का सन्धान न लेकर, केवल मन की गति कथञ्चित् भगवत् मुखी करके साधना के मार्ग पर अग्रसर होते हैं, वह भी अनेक समय विशिष्ट मूर्ति का दर्शन पाते हैं; परन्तु वह मूर्ति चित्राङ्कित मूर्ति की भाँति जड़ के सिवाय और कुछ नहीं है।

मातृ धर्म्म का—मातृ महत्व का प्रकाश न रहने से, मूर्ति कभी साधक का अभीष्ट पूर्ण नहीं कर सकती।

अस्तु, इस प्रथम चरित्र में हम देखते हैं कि समाधि सहाय सुरथरूपी जीवात्मा मेधसरूपी विज्ञानमय गुरु के चरणों में आश्रय लेकर क्रम-क्रम से मातृमहत्त्व का—महामाया का प्रभाव देखकर धन्य होते हैं। मधु और कैटभ—आगामी कर्म्मों के बीज हैं। ये बीज ध्वंस प्राप्त अर्थात् पुनराय अङ्कुर—उत्पादन शक्तिरहित होने से ही ब्रह्मग्रन्थि भेद होता है। "फिर मैं कुछ नहीं चाहता, न इस लोक और न परलोक में कोई भोग की, फल की कामना मेरी है" इस प्रकार निष्काभाव ही "एक मैं अधिक होऊँ" इस आदिम संस्कार के विरोधी हैं। आचार्य्य शंकर की भाषा में इसको "इहामुत्र-फल भोग-विराग" कहा जाता है। वह कहते हैं—ऐसा होने से ही परमात्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है और देवी-माहात्म्य में कहा है कि महामाया की तामसी-मूर्त्ति में आविर्भाव और विष्णु का जागरण होने से ही, यथार्थ फलभोग-विराग उपस्थित होता है। हम जानते हैं कि मा को देखने के पूर्व्व कोई भी पूर्णभाव से वासना त्याग नहीं कर सकता।

मा को देखने का क्या उपाय है ? उपाय—इच्छा है। देखने की इच्छा होने से ही देखा जाता है। वह तो फिर छिपा हुआ नहीं है, कि जो किसी उपाय की सहायता से उसको खोज कर बाहिर करना होगा। वह सर्वत्र भलीभाँति प्रकाशित है। जीव की इच्छा न होने से, वह उसको देखता नहीं है। मा को देखने की इच्छा होने से ही वह सद्गुरुरूप से प्रथम दिखाई देती है। सद्गुरु प्राप्त होने से ही साधक अपना देह मन प्राण सर्वस्व गुरु चरणों में अर्पण करने को उद्यत होते हैं। क्रम से गुरु ही उसका 'मैं' हो जाता है, जीवभावीय कर्तृत्वबोध शिथिल हो जाता है, सत् असत् चाहे कोई भी कर्म्म क्यों न हो वह फिर "मैं करता हूँ" ऐसी धारणा नहीं कर सकता है। तब "केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"

इस प्रकार ज्ञान से जागतिक कार्य्य अनुष्ठित होते रहते हैं। उसी के फल से वर्त्तमान कर्म्म अनुराग और विद्वेषरहित हो जाते हैं; इस कारण वह भविष्यत् कर्म्म के बीज रूप में वा बन्धन रूप में परिणत नहीं होते। इस प्रकार सांसारिक कर्म्मों में जितनी आसक्ति कम होती जाती है उतनी ही हृदयस्थ गुरु पर साधक की आसक्ति बढ़ती है। आसक्ति जितनी बढ़ जाती है, उतना ही वह उसमें मुग्ध होता रहता है। क्रम से सर्वतोभाव से आत्मसमर्पण करके साधक निश्चिन्त हो जाते हैं। तब समझ सकते हैं कि गुरु और मा भिन्न-भिन्न नहीं हैं। एक ही जन है। वही अन्तर में रहकर, उसके सब अनुष्ठानों को पूर्ण करा लेते हैं। उस समय साधक देखते हैं कि उनके तीन प्रकार के कर्म्मफल क्षय करने के लिये क्रम-क्रम से मा विशिष्टभाव से आविर्भूत होती हैं। तब फिर उनको कर्तव्य बोलकर कुछ नहीं रहता। अहंबुद्धि से विशिष्टपुरुषकार प्रयोग नहीं करना होता है। किसी अलङ्घ्यनियम के कारण समस्त कार्य्य मानो एक के पीछे एक स्वयं निस्पन्न हो जाते हैं। जब जो ग्रन्थिभेद करने के लिये जैसा अध्यवसाय प्रयोग आवश्यक है, हमारी मा स्वयं उसी प्रकार भाव से आत्म-प्रकाश करती रहती है, यही साधना-जगत् का यथार्थ क्रम वा सोपान है। चाहे किसी भी सम्प्रदाय का साधक क्यों न हो, उसको इस साधारण क्रम में आकर पड़ना ही होगा। और भी एक बात है कि इसमें प्रथम आने से, आगे का क्रमशः अपने आप आता रहता है, यही साधन की सुश्रृङ्खल पद्धति है। सुरथ समाधि के उपाख्यान में यह तत्त्व ही भले प्रकार स्पष्ट हुआ है।

प्रथम मधु-कैटभनिधन वा सत्यप्रतिष्ठा, द्वितीय महिसासुर-बध वा चैतन्य प्रतिष्ठा और सब से अन्त में शुम्भबध वा आनन्दप्रतिष्ठा हमारी मा "सच्चिदानन्दस्वरूपा" है, उसका जगत्मुखी प्रकाश वा सृष्टि जिस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप है (पूर्व इसका विशेषभाव से वर्णन हो चुका है) आत्माभिमुखी अभिव्यक्ति वा प्रलय भी उसी

प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप हैं; इस कारण सत् वा सत्य की प्रतिष्ठा ही साधन का प्रथम स्तर है। (१) चित् वा प्राणप्रतिष्ठा द्वितीय स्तर और सर्वशेष में आनन्दप्रतिष्ठा अर्थात् नित्यमुक्तभाव है। अथवा सत्य और प्राण की प्रतिष्ठा होने से, आनन्दप्रतिष्ठा अपने आप होती है। केवल अस्तित्व का अनुभव ही यथार्थ सत्यप्रतिष्ठा है। यही 'मा रही है' यह विश्वास घनीभूत होने से ही जीवभावीय कर्तृत्व शिथिल हो जाता है। आगामी कर्म्मों का मूल ध्वंस को प्राप्त होता है। इसी को ब्रह्म ग्रन्थिभेद वा मधु-कैटभवध कहते हैं।

कोई-कोई अनुराग और विद्वेष को मधु और कैटभ कहते हैं। उनके साथ हमारा किसी प्रकार विरोध नहीं है; कारण कि राग और द्वेष ये दोनों ही यथार्थ वन्धन के हेतु हैं। रागद्वेष-विमुक्त होने से ही कर्म्म बन्धन-उत्पादन में शक्ति हीन हो जाती है। सब कर्म्मों के भीतर केवल सत्यस्वरूपा महामाया नित्य विद्यमान रहती है; यह सत्यांशमात्र जीव को लक्ष्य होते ही, कर्म्म रागद्वेष रहित हो जाते हैं। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है, जिससे वह सिद्ध हो सकें; इस कारण इधर देखने पर भी सत्यप्रतिष्ठा ही इस मधु-कैटभ नाश का आभ्यन्तरिक तात्पर्य्य है, इसमें किसी प्रकार संशय ही नहीं उठ सकता।

तत्त्वजिज्ञासु जीवात्मरूपी सुरथ का संशय निराश करने के लिये विज्ञानमय गुरु मेधस् ने पूर्व वर्णन किया है—"देवकार्य्य-सिद्धि के लिये महामाया जब विशिष्टभाव से आविर्भूता होती है, तब ही वह उत्पन्ना कही जाती है"। परम करुणामय गुरु ने सुरथ को महामाया का वह आविर्भाव प्रत्यक्ष कराकर कहा—"एवमेषा समुत्पन्ना"। विपन्न ब्रह्मा को असुराक्रमण से रक्षा करने के लिये, मा किस प्रकार तामसी-मूर्ति में आविर्भूत हुई थी, वह दिखाया गया है एवं फिर यथा क्रम से और भी विशिष्ट आविर्भाव प्रत्यक्ष करावेंगे,

(१) सत्य-प्रतिष्ठा नामक पुस्तक में इसकी विशेष आलोचना है।

इसी से कहा है कि—महामाया के और भी महत्त्व की बात हम वर्णन करते हैं, उसे एकाग्र चित्त से श्रवण करो—दर्शन करो।

माता की प्रियतम सन्तान! साधक मनुजवृन्द! क्या तुम इस प्रकार मधुकैटभ द्वारा—क्षणस्थायी विषयानन्दजनित चञ्चलता द्वारा अपने को पीड़ित मानते हैं? यदि इस बहुत्व के आनन्द को उत्पीड़न और आत्मवञ्चना कहकर समझते रहो, तो निश्चय ही तुम सद्गुरु-कृपा से मातृ-स्नेह में मुग्ध होते ही—थोड़े ही समय में मा तुमको गोदी में लेवेगी, उसी का पूर्व आयोजन चलता है। तुम मोक्ष-शास्त्र उपनिषद्रहस्य वा गीता की सोपानश्रेणी धीरे-धीरे अतिक्रम करके "सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य" मैंपन में—चिन्मय-क्षेत्र में प्रशान्त उदार मातृ-वक्ष पर—आनन्दमय मुक्ति-जलधि में कूद पड़े हो! निश्चय डूबोगे। तीन तरङ्ग मात्र देख पाओगे। उनमें से पहली तरङ्ग में तुम्हारा अविश्वास और सन्देह का जो कुछ लेश था वह धुलाकर सब प्रकार की वासनाओं की अग्नि को शान्त कर देगा। फिर भीतर से सबसे नीचे के तल का अन्वेषण करने पर भी विन्दुमात्र कामना का सन्धान न पाओगे! सर्वत्र आनन्दमय मातृसत्ता का विश्वास हिमाचल की भांति दृढ़ और अचलप्रतिष्ठ होगा। जिस मन को इस समय बहुत्वप्रिय और विषयासक्त जानकर अपने को अकर्म्मण्य-मातृ प्राप्ति के अयोग्य समझ लिया है; वही मन अग्रसर होकर मातृ-शक्ति जागृत करके, बहुत्व और तन्मूलक आनन्द वा आशक्ति का उच्छेद साधन करेगा। मधु-कैटभ निहत होगा। तुम्हारे आगामि-कर्म्मों का बीज निर्मूल होगा। ब्रह्मग्रन्थिभेद होगा—तुम सत्यप्रतिष्ठ होओगे। वह तरङ्ग चली जायगी। क्रम से और भी दो तरंगें आवेंगी। उनमें से एक तुम्हारी सर्वमय आत्मसत्ता—मातृसत्ता के दृढ़ विश्वास को प्राणमय चैतन्यमय कर देगी। सर्वत्र अपने प्राणों की लीला-विलास देखकर, अपने को भूलना आरम्भ करोगे। विष्णु वा प्राणमय ग्रन्थि का उच्छेद-साधन होगा। सञ्चित-कर्म्मफल भोगों

के हाथ से परित्राण पाओगे। तुम प्राणप्रतिष्ठ होओगे। सबसे अन्त में और एक तरङ्ग आवेगी—वह तुम्हारे विश्वमय प्रसारित महान् में आ एकदम आनन्दसमुद्र में डुबा देगी। परिच्छिन्न-ज्ञानमय रुद्रग्रन्थि का उच्छेद होगा। प्रारब्ध कर्म्मफलस्वरूप स्थूलदेह पर्यन्त विस्मृत हो जायगी, तुम आनन्द में प्रतिष्ठित होओगे।

इसी से, विज्ञानमय गुरु ब्रह्मर्षि मेधस् सत्य की वैजयन्ती वहन करके स्नेहकरुणा-पूर्ण कण्ठ से आह्वान् करते हैं—आओ सुरथ! आओ समाधि! आओ साधक! आओ अमृत के वरपुत्र! "प्रभाव-मस्या देव्यास्तु भूयः शृणु वदामि ते" फिर देवी का माहात्म्य कहेंगे-दिखावेंगे। कौन कहां है—सब मिलकर कोटि कण्ठ से उच्चैः स्वर से मा मा कहकर अग्रसर हो! मातृ-प्रभाव—मा के मध्यम और उत्तम चरित्र की विस्मयपूर्ण कहानी, अभूतपूर्व साधनरहस्य श्रवण करो—प्रत्यक्ष करो, धन्य होओ! अज्ञानान्ध नयन ज्ञानाञ्जन से उन्मीलित हों! श्रद्धा-भक्ति-रहित शुष्कहृदय पराभक्ति की विशुद्ध मन्दाकिनी-धारा में प्लावित होऊँ। हताश कर्म्महीन आलसी प्राण फिर सदा कर्म्म परायण हों। तुम्हारे ज्ञान-भक्ति-कर्म का अपूर्व समन्वय-पूर्ण अवस्था में उपनीत हो।

आओ हमारी मा! सन्तान-स्नेह से मुग्ध होकर एक बार सत्य-लोक से छूटकर आओ! हम बड़े कङ्गाल—बड़े मलिन बन बैठे हैं। किसी प्रकार यह दीनता मलिनता दूर नहीं कर सकते। चारों ओर से मिथ्या का भ्रान्ति का अन्धकार मानो और भी घना होने लगता है। एक बार देखो मा! तुम्हारे प्रियतम सन्तानगण दुर्भिक्ष महामारी जलप्लावन आदि पीड़ाओं से जर्जरीभूत, सन्देह अविश्वास अश्रद्धा की प्रबल आंधी से हृदय को सरस और प्रसान्तभाव उन्मूलित, निरानन्द और मृत्यु ही मानो इस युग के लक्षण हो उठे हैं; इस कारण इस युगसन्धि के महाक्षण में एक बार आविर्भूत हो मा! एक बार स्नेह करुणाभार नम्रा मूर्ति से खड़ी हो। आनन्द की—अमृत

की पवित्र धारा में हमको अभिषिक्त कर दो। हम जो—विज्ञानमयी, आनन्दमयी के बड़े स्नेह की सन्तान हैं, और तुम जो हमसे अत्यन्त प्यार करती हो यह बात अच्छी तरह समझाने दो मा ! हमारे अविश्वासी अकृतज्ञ प्राण एक बार स्वीकार करे कि—तुम हमारी एकान्त आश्रय हो, सन्तान वत्सला जननी ! यह हमको अच्छी तरह समझा दो मा ! हम सर्वतोभाव से तुम्हारी ही गोद में सदा प्रतिष्ठित हैं। हम यथार्थ ही अमृत की सन्तान हैं, आनन्द ही हमारा स्वरूप है यह हमारे रोम रोम में अनुभव करा दो मा ! जिससे हम सचमुच ही सरलप्राण शिशु की भांति समवेत कण्ठ से एक बार मा कहकर पुकार सकें। तुम्हारा मङ्गलमय स्नेह आशीर्वाद हमारे मस्तक पर वर्षा करे ! हम सत्य में प्रतिष्ठित हों—धन्य हों। मा ! तुम हमारा भक्तिहीन प्रणाम ग्रहण करो।

सर्व्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्व्वार्थ साधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तुते।

इति साधन-समर वा देवी माहात्म्य-व्याख्या
में ब्रह्म ग्रन्थिभेद नामक प्रथम
खण्ड समाप्त।

॥ श्री ॥

साधन-समर कार्य्यालय से प्रकाशित

हिन्दी पुस्तकों का विवरण

साधन-समर वा देवीमाहात्म्य

श्री श्री दुर्गा सप्तशती की आध्यात्मिक व्याख्या

द्वितीय खण्ड—महिषासुर बध वा विष्णु ग्रन्थिभेद।

तृतीय खण्ड—शुम्भ बध वा रुद्रग्रन्थिभेद।

ज्ञानभक्ति तथा कर्म्म के समन्वय से पूर्ण इस पुस्तक ने साधक समाज में एक नवीन युग की सूचना दी है। किस प्रकार जीवों का अज्ञानरूपी बन्धन टूटता है और किस प्रकार साधकगण सत्य तथा प्राण प्रतिष्ठा करके अनेक जन्म के सञ्चित कर्म्मफल से मुक्ति पाते हैं इत्यादि विषयों का इस पुस्तक में भलीभांति वर्णन किया गया है। इसको पढ़लेने से ही कुछ-न-कुछ साधना हो जाती है।

सत्य-प्रतिष्ठा—सबसे पहले किस केन्द्र से साधना का आरम्भ करने से मनुष्य सत्य की प्राप्ति कर सकता है, सांसारिक सुखों का अनुभव करते हुए भी निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है इस पुस्तक में इस विषय का भलीभांति वर्णन किया गया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी छप गया है।

प्राण प्रतिष्ठा—साधक जब सत्ता में निष्ठावान होता है तदुपरान्त सर्व्वत्र प्राण दर्शन किस प्रकार हो, इस तत्त्व को इसके द्वारा ग्रहण कर जीवन सफल बना सकता है।

सत्यालोकम्—श्री श्री स्वामी शङ्कराचार्य्यकृत मोह मुग्दर के छन्दों में कतिपय श्लोक और उनका विस्तृत हिन्दी अनुवाद।

जिन लोगों का कथन है कि संसार में रहकर स्त्री तथा धन-रत्न से युक्त रहकर साधना नहीं होती, ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, वे लोग इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें; क्योंकि इसमें साधना की सम्पूर्ण बातों का संक्षिप्तरूप से विचार किया गया है।

सत्य-वादिता—इस पुस्तक में सर्वदा सत्य बोलने की आदत डालने का उपाय भली भाँति बताया गया है।

शोक-शान्ति—अपने कुटुम्बियों तथा अन्यान्य प्रिय सम्बन्धियों की मृत्यु से जो लोग अत्यन्त शोकाकुल हो जाते हैं वे इसको पढ़कर शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। इसका भी अंग्रेजी अनुवाद छप गया है।

उपासना—इसमें वेद पुराण तथा तन्त्रोक्त अनेक सुन्दर-सुन्दर स्त्रोत्रों का संग्रह तथा उनकी व्याख्या भी सरलभाषा में दी गई है।

पूजा-तत्त्व—इसमें पूजा का रहस्य भली भाँति बताया गया है। इस कलिकाल में भी वैदिक युग के सब ही अनुष्ठान किस प्रकार प्राणमय तथा सफलतामय होकर साधक को अभीष्ट दान कर कृतार्थ करता है उसका सविस्तार वर्णन है।

राजगुह्ययोग—यह गीता का नवम् अध्याय का आध्यात्मिक व्याख्या है पढ़ने मात्र से साधक साधनानुभूति में डुबने लगता है।

देशात्मबोध और देशमातृका पूजा—किस प्रकार मनुष्य देशात्मबोध लाभ कर सकता है किस उपाय से जन-साधारणों में स्वदेश प्रीति अकृत्रिम भाव से प्रस्फुटित हो सकती है उसका सुनिर्दिष्ट अव्यर्थ उपाय इसमें प्रदर्शित हुआ है।

श्री श्री ब्रह्मर्षि सत्य देवजी महाराज का प्रतिचित्र—बड़ा मूल्य १) रुपये।

साधन समर आश्रम

पूर्वांचल सी/५
क्लस्टर-१, साल्ट लेक
कलकत्ता-६०००९१

शर्मा मेडिकल स्टोर

कटरा बाजार
शिकोहाबाद-२०५१३५ (उ० प्र०)